प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष

'गोदान'

डॉ० कृष्णदेव भारी

८३३
५१५

'प्रेमचन्द की उपन्यास कला का उत्कर्ष: गोदान' मूर्द्धन्य आलोचक डॉ. कृष्णदेव झारी की लोकप्रिय पुरस्कृत रचना है जो सामाजिक उपन्यास-सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द के औपन्यासिक शिल्प के क्रमिक-विकास और उत्कर्ष को प्रस्तुत करती है। विद्वान लेखक ने तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध किया है कि 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द की उपन्यास कला अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच गई थी। प्रेमचन्द के कृतित्व का इस पुस्तक में नव्यावलोकन किया गया है। प्रेमचन्द और विशेषतः उनके 'गोदान' से सम्बंधित कथ्य और शिल्प सम्बंधी सभी बातों का विवेचन लेखक ने अपने उदात्त रस-सिद्धान्त के आधार पर नई दृष्टि से किया है। रसवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप का इतना भव्य इतना नव्य, इतना विशद और सफल उदाहरण अन्यत्र कहां मिलेगा ? रस-भाव और रस-सिद्धान्त पर नाक-भौं चढ़ाने वालों को इस पुस्तक का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। थोड़े ही समय में पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हो जाना पुस्तक की परमोपयोगिता और लोकप्रियता का प्रमाण है। शोध और गहन-गम्भीर सर्वांगीण आलोचना का इसमें अद्भुत संगम है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष

गोदान

उत्तर-प्रदेश सरकार

द्वारा

पुरस्कृत

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

का उत्कर्ष

का उत्कर्ष

का उत्कर्ष

'गोदान'

डॉ० कृष्णदेव झारी

नालंदा प्रकाशन, नई दिल्ली-110030

संस्करण
नालंदा प्रकाशन से
प्रथम, 1988

मूल्य
सौ रुपये मात्र
100.00

प्रकाशक
नालंदा प्रकाशन
33/1 भूलभुल्लैयां रोड
महरौली, नई दिल्ली-110030

८९१.४३३
श्री ५५९५

मुद्रक
सोहन प्रिंटिंग सर्विस
मोहन पार्क, शाहदरा
दिल्ली-110032

नालंदा प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।
आवरण मुद्रण गणेश प्रेस, दिल्ली द्वारा ।

Premchand Ki Upnias Kala Ka Utkarsh GODAN
(A literary criticism on the most famous novel of
Hindi Novelist Munshi Premchand) by
Dr. Krishan Dev Jhari

आमुख

मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी के अप्रतिम कथाकार-साहित्यकार हैं। वे ज्यों-ज्यों लिखते गए उनकी साहित्य-चेतना विकसित होती गई, वे अधिकाधिक वस्तुवादी-यथार्थवादी होते गए तथा शैली-शिल्प और कथ्य का उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता गया। यह बात उनके आरंभिक उपन्यासों से अंतिम **गोदान** और आरंभिक कहानियों से अंतिम **'कफन'**, **'पूस की रात'** आदि के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना के इसी क्रमिक विकास का दिग्दर्शन प्रस्तुत रचना में कराया गया है। **'गोदान'** प्रेमचन्द की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति है। प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का चरमोत्कर्ष यहां प्रकट हुआ है। अतः तुलनात्मक सर्वांगीण अध्ययन-द्वारा प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना के इसी चरम विकास को स्पष्ट किया गया है।

मैंने अपने उदात्त रस-सिद्धान्त के आधार पर **'गोदान'** की सर्वथा नवीन रसवादी आलोचना प्रस्तुत की है। रस-भाव और रस-सिद्धान्त पर नाक-भौं चढ़ाने वाले आधुनिक नव-लेखकों, नयी कवितावादियों और तथाकथित प्रगतिवादियों से मेरा आग्रह है कि एक बार प्रेमचन्द और **'गोदान'** के इस अध्ययन को पढ़कर रस-सम्बन्धी अपने पूर्वाग्रह या दुराग्रह पर पुनः विचार करें।

मैंने प्रेमचन्द की प्रासंगिकता के प्रश्न पर भी विचार किया है और पाया है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामयिक समस्याएं भी मनुष्य-जीवन की शाश्वत संवेदनाओं का रूप ग्रहण कर प्रस्तुत हुई हैं। मारीच, रावण आदि राक्षसों के अत्याचार, ऋषि-यज्ञ-विध्वंस आदि कृत्य जिस प्रकार रामायण-काल के सामयिक होते हुए भी शाश्वत जीवन-संवेदनाओं से परिपूर्ण हैं, उसी प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं में शोषण, उत्पीड़न, सामाजिक कुरीतियों का प्रकाशन, सब बहुतांश में सामयिक होते हुए भी शाश्वत मानवीय संवेदनाओं के रूप में प्रकट हुए हैं। अतः प्रेमचन्द कभी 'आउट ऑफ-डेट' नहीं होंगे, जैसा कि उनके कुछ समीक्षक समझते हैं।

आशा है प्रेमचन्द के कृतित्व—विशेषतः **'गोदान'** की समस्त विशिष्टताओं को समझने-परखने के लिए प्रस्तुत पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

—कृष्णदेव झारी

झारी विला
भूलभुल्लैयां रोड़,
महरौली, नई दिल्ली-110030

विषय-विवरणिका

1. पूर्व-पीठिका : प्रेरणा-स्रोत/19-25
   1. व्यक्तिगत जीवन-परिस्थितियाँ और प्रभाव
   2. युग-परिस्थितियाँ और प्रभाव
   3. साहित्यिक पृष्ठभूमि
      प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास की गति-विधि

2. हिन्दी उपन्यास का शिल्प-विकास : प्रेमचन्द की देन/26-36
   हिन्दी उपन्यासों की सामाजिक मनोभूमि

3. हिन्दी उपन्यासों का कोटिक्रम और प्रेमचन्द के उपन्यास/37-43

4. प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना का क्रमिक विकास/44-68
   गोदान-पूर्व के उपन्यास
   वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि,
   कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि।

5. 'गोदान' में नया मोड़ : कला का चरमोत्कर्ष/69-75
   पिछले दोषों का परिहार

6. 'गोदान' की तात्त्विक समीक्षा/76-226
   1. भाव और रस : रसवादी समीक्षा/76
      बीभत्स रस का प्रसार, शोषक : शोषण के विविध रूप/78-79,
   2. गोदान में ह्रासोन्मुख सामन्तवाद/86
      विकासमान पूंजीवाद : महाजनी संस्कृति/86
   3. गोदान में धर्म का ढकोसला/91
      घृणा के संचारी-रूप में व्यंग्य का प्रबल शस्त्र-प्रयोग
   4. प्रेमचन्द के गोदान तथा अन्य उपन्यासों में वैवाहिक पद्धति के दोष/96
      अनमेल विवाह के भिन्न-भिन्न रूप/96
   5. करुण रस की प्रधानता/105

6. कृषक जीवन की करुण कहानी/106
करुण और बीभत्स के आश्रय वर्ग-विषमता,
वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष ।
7. गोदान में शृंगार रस : प्रेम के विविध रूप/113
8. विचार तत्त्व : उद्देश्य-संदेश, समस्याएं/122
9. प्रेमचन्द के 'गोदान' तथा अन्य उपन्यासों में कृषक समस्याएं/126
10. व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन/133
मेहता का जीवन-दर्शन
11. प्रेमचन्द की नारी-भावना/137
12. 'गोदान' में कथानक : कथा-तत्त्व/140
कथा, कथावस्तु समीक्षा/151
13. चरित्र-चित्रण : पात्र-परिचय, पुरुष पात्र,/158
14. गोदान के नारी पात्र/175
15. चरित्र-चित्रण की विशेषताएं/186
'चरित्र-चित्रण-कला', पात्रों में 'कु' और 'सु' वर्गगत और व्यक्तिगत चरित्र-सृष्टि, मनोविज्ञान ।
16. देशकाल वातावरण : ग्राम-जीवन का दर्पण, युग-बोध, शहरी जीवन-वातावरण/194
17. संवाद-शैली/200
18. भाषा-शैली/205
19. आदर्शवाद : यथार्थवाद/211
20. गांधीवाद : साम्यवाद/216
21. गोदान : नामकरण/219
22. गोदान : महाकाव्यात्मक उपन्यास/222

••

1

पूर्व-पीठिका : प्रेरणा-स्रोत

1. व्यक्तिगत जीवन—परिस्थितियाँ और प्रभाव

मुंशी प्रेमचन्द कराहती मानवता के साहित्यकार थे। अभाव, उत्पीड़न, शोषण, अन्याय, अत्याचार और गरीबी के ज्वलन्त घावों का जितना विशद्, व्यापक और सफल चित्रण प्रेमचन्द ने किया है, उतना हिन्दी का शायद ही कोई अन्य साहित्यकार कर पाया हो। इस सफलता का एक बड़ा कारण यह है कि स्वयं प्रेमचन्द का जीवन अभावों, गरीबी के कटु अनुभवों, कष्टों और संघर्षों का जीवन रहा है। जिस साहित्यकार की आत्मा जितना अधिक आत्मक्रन्दन करती है, जर्जर जीवन की भट्टी में जितना अधिक जलती है ; युग-आघातों को जितना अधिक सहती है और जीवन की चक्की में पिसती हुई जितनी ही अधिक मर्म-व्यथा की निजी अनुभूतियाँ प्राप्त करती है, उतनी ही अधिक सचाई से वह साहित्यकार दुःखी मानवता का हाहाकार अपनी रचनाओं में प्रस्तुत कर सकता है। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य से हमें यह सत्य पूर्ण रूप में प्राप्त होता है। अतः गोदान जैसे श्रेष्ठ उपन्यास की रचना करने वाले लेखक का मनोविकास समझने के लिए हमें उसकी जीवन-परिस्थितियाँ जानना भी आवश्यक है।

प्रेमचन्द का जन्म 31 जुलाई सन् 1880 को बनारस से चार मील दूर लमही गाँव में हुआ था। पिता अजायबराय डाकखाने में मामूली नौकर थे। प्रेमचन्द का बचपन का नाम धनपतराय था। वे गरीबी में पले। उनके पारिवारिक जीवन में अनेक विषमताएँ आरम्भ से अन्त तक व्याप्त रहीं। बालक धनपतराय केवल 8 साल का था कि माता का देहान्त हो गया। पिता ने अधेड़ अवस्था में दूसरी शादी कर ली, किन्तु बालक को विमाता से स्नेह न मिला। घर में भयंकर गरीबी थी। फटे-हाल रहने पड़ता था। जीभ तरसती थी। घर में सौतेली माँ और पड़ोस की विधवा अहीरन में अश्लील बातें और मजाक चलता था। बालक को सुनने में रस आता। प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है—"मुझे तेरह साल की अवस्था में ही उन बातों (यौन सम्बन्धी बातों) का ज्ञान हो गया था जो बच्चों के लिए घातक है।" अकाल परिपक्वता की इस प्रतिकूल परिस्थिति ने भी प्रेमचन्द के साहित्यकार के निर्माण में परोक्ष योग दिया। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में यही कहना

पड़ता है कि उनके जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों ने साहित्य-सृजन के अनुकूल वातावरण बनाया।

धनपतराय मिडिल में पढ़ते थे ; उर्दू जानते थे। उन्हें बचपन से ही उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद-सा हो गया था। गोरखपुर में एक बुकसेलर की दुकान पर बैठ कर प्रेमचन्द ने उर्दू के सब नावल पढ़ डाले। वह उसकी दुकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियाँ आदि स्कूल में बेचते थे और बदले में नावल पढ़ते थे। दो-तीन वर्षों में प्रेमचन्द ने सैंकड़ों नावल पढ़ डाले। उर्दू के सरूर, मौलाना शरर, रतननाथ 'सरशार', मिर्ज़ा रुसवा आदि लेखकों की रचनाएँ जहाँ मिल जातीं, वहीं पढ़ डालते। एक तम्बाकू वाले के लड़के से दोस्ती कर ली और उसकी दुकान पर प्रेमचन्द ने 'तिलस्मे होशरुबा' के सब भाग पढ़ डाले। उन दिनों रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे। प्रेमचन्द ने अपने बचपन में ही वे सब रचनाएँ पढ़ डालीं। नावलों का स्टाक खत्म हुआ तो पुराणों के उर्दू-अनुवाद पढ़ डाले। इस प्रकार किस्सा-कहानी और उपन्यास के प्रति प्रेमचन्द की रुचि बचपन से ही हो गई थी। जैसे बचपन में 'अलिफ लैला' आदि पढ़कर अंग्रेजी उपन्यासकार डिकन्स की कल्पना जाग उठी थी, वैसे ही इन घटना-प्रधान जासूसी और तिलस्मी नावलों और किस्सों को पढ़कर बचपन में ही प्रेमचन्द की कल्पना जाग्रत हुई। इससे कथा-साहित्य के सृजन की प्रवृत्ति जागी।

पर यह अद्‌भुत आश्चर्य है कि 'चन्द्रकान्ता', 'तिलस्मे होशरुबा', रेनाल्ड के 'लन्दन रहस्य', 'फसाना-ए-अजायब' आदि तिलस्मी और जासूसी घटना-प्रधान कथा-साहित्य का युग होते हुए भी, इन रचनाओं को चाव से पढ़ने पर भी प्रेमचन्द ने यह मार्ग नहीं अपनाया। इसका एक बड़ा कारण है—उनका व्यक्तिगत विषम जीवन-अनुभव। इन रचनाओं के पढ़ने से एक लाभ यह हुआ कि प्रेमचन्द कथा-रस की आवश्यकता को समझ गये।

12-13 साल की अवस्था में ही प्रेमचन्द को एक और जीवन अनुभव हुआ। उन्होंने लिखा है—"मेरे एक नाते के मामू कभी-कभी हमारे यहाँ आया करते थे। अधेड़ हो गये थे। लेकिन अभी तक बिन-ब्याहे थे।···एक चमारिन के नयन वाणों से घायल हो गये।···यह सिलसिला यहाँ तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गई।···एक दिन संध्या समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं तो हुआ करें, क्या किसी की इज्जत लेंगे! इज्जत का बदला खून से ही चुकता है। लेकिन मरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौनी हो सकती है। दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर में आई, तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया।···इधर चमारों का जत्था ताक में था।···बढ़ई बुलाया गया, किवाड़ तोड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले।···मामू साहब पर बेभाव की मार पड़ने लगी।···इस दुर्घटना की खबर उड़ते-उड़ते हमारे यहाँ भी पहुँची। मैंने भी उसका खूब आनन्द उठाया।"

मामू की कथा का यह प्रसंग 'गोदान' के मातादीन-सिलिया प्रसंग से पर्याप्त साम्य रखता है। प्रेमचन्द ने 13 साल की ही अवस्था में अपनी पहली रचना इसी प्रसंग

को विषय बनाकर लिखी थी। सन् 1893 के आस-पास की इस पहली रचना से ही प्रेमचन्द के साहित्यकार की दिशा निर्दिष्ट हो गई थी। यद्यपि यह रचना नाटकरूप में थी और आज अप्राप्य है, तो भी इससे स्पष्ट अनुमान होता है कि प्रेमचन्द के कथाकार की समाजपेक्षी दृष्टि, व्यंगपूर्ण शैली, और कथानक एवं घटनाओं की संस्मरणात्मक प्रवृत्ति इसमें ही जन्म पा चुकी थी। इससे सिद्ध होता है कि उस घटना-चमत्कार के युग में भी प्रेमचन्द जीवन की सच्ची अनुभूति के कथाकार बने।

धनपतराय 15 साल के ही थे कि पिता ने उनकी शादी कर दी। इस शादी के एक साल बाद पिता की मृत्यु हो गई। घर का सारा भार बालक के सर आ पड़ा। प्रेमचन्द ने पिता के दूसरी शादी करने तथा बाल्यावस्था में प्रेमचन्द की शादी कर देने के बारे में लिखा है कि पिताजी ने जीवन के अन्तिम सालों में एक ठोकर खाई और स्वयं तो गिरे ही, साथ में मुझे भी डुबो दिया। मेरी शादी बिना सोचे-समझे कर डाली।

घर में फूटी कौड़ी न थी। विमाता, उसके दो बच्चे और पत्नी के पेट पालने का भार आ पड़ा। प्रेमचन्द के पास अपनी पढ़ाई का खर्च ही न था। अरमान था वकील बनने का, एम० ए० पास करने का! पर साधन कोई नहीं! जीवन अधूरे अरमानों, अपूर्ण साधों की ही कहानी बना रहा। फटे-हाल, नंगे पाँव प्रेमचन्द गाँव से चार कोस बनारस पढ़ने आते थे। भोजन के नाम चना-चबेना ही बाँध लाते। सुबह घर से चलते, रात को चकनाचूर घर पहुँचते थे। आखिर एक वकील साहब के यहाँ 5 रुपये की ट्यूशन मिल गई। आने-जाने की परेशानी से तंग आकर वहीं वकील साहब की कोठरी में रात को सोने लगे। 5 रुपये में से 3 रुपये घर भेजने पड़ते थे। 2 रुपये में महीना-भर तंगी और अभाव का जीवन बिताते।

प्रेमचन्द का आरम्भिक पारिवारिक जीवन एकदम असफल रहा। पत्नी मिली कुरूप! उम्र में बड़ी! प्रेमचन्द के उपन्यासों तथा कहानियों में बेमेल विवाह के चित्रण की जो प्रचुरता पाई जाती है, उसका यह व्यक्तिगत कारण भी स्पष्ट है। इस बारे में प्रेमचन्द ने लिखा है—"उमर में वह मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया।···वह बदसूरत तो थीं ही, उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थीं।·· मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली थी।···मेरी यह शादी चाची (विमाता) के पिताजी ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले—लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफसोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री!···चाची और पत्नी में पटती नहीं थी। रोज का झगड़ा था। चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थी। उनकी शिकायत भी चाची एकांत में मुझसे किया करती थी। बीच में मेरी आफत थी। मगर बीच में चाची न होती तो शायद मेरी-उनकी जिन्दगी एक साथ बीत जाती।"

ऐसी विषम परिस्थितियों में भी प्रेमचन्द जीवन का खेल खेलते रहे। किसी तरह मैट्रिक पास की। पर महत्त्वाकाक्षाएँ बहुत थीं। प्रेमचन्द की महत्वाकांक्षा कठिनाइयों में पलती रही। "यहाँ तो आगे बढ़ने की धुन थी—पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की

बेड़ियाँ थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।" प्रेमचन्द की आर्थिक विपत्तियों का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्हें अपना कोट बेचना पड़ा; पुस्तकें बेचनी पड़ी थीं। एक दिन वे एक बुकसेलर की दुकान पर पुस्तक बेचने गये थे, वहाँ एक स्कूल के हेडमास्टर से भेंट हो गई। जिन्होंने कृपा करके प्रेमचन्द को अपने स्कूल में अध्यापक नियुक्त कर लिया।

सन् 1893 में मामू के किस्से को लेकर और सन् 1894 में "होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात" ये दो नाटक लिखने से आरम्भ करके सन् 1898 से प्रेमचन्द ने उर्दू में उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। सन् 1898 में एक उपन्यास लिखा, जिसका विषय इतिहास से सम्बन्धित था।

सन् 1902 में 'प्रेमा' और सन् 1904-5 में 'हम खुर्मा व हम सबाब' नामक उपन्यास निकले, जिनमें विधवा-जीवन और विधवा-समस्या का चित्रण हुआ। इन दिनों प्रेमचन्द का ध्यान विधवा-समस्या पर विशेष था। पारिवारिक कटुताओं के कारण प्रेमचन्द पत्नी से नहीं निभा पा रहे थे। सन् 1905 में हठ करके उनकी पत्नी मैके चली गई—शायद सदा के लिए। तब सन् 1905 में ही विधवा जीवन के प्रति कारुणिक भाव के कारण ही प्रेमचन्द ने शिवरानी देवी नामक एक बाल-विधवा से दूसरी शादी कर ली। यह विधवा-विवाह सामाजिक परम्पराओं के प्रति प्रेमचन्द की विद्रोही आत्मा की जीवन में क्रियात्मक प्रथम अभिव्यक्ति कही जा सकती है। काफी समय तक प्रेमचन्द अपनी पहली पत्नी के पास भी थोड़ा बहुत खर्चा भेजते रहे।

शिवरानी देवी से शादी करके प्रेमचन्द के जीवन में कुछ शान्ति के क्षण आए। उनके लेखन में भी और सजगता आ गई। जीवन में कुछ आर्थिक निश्चिन्तता भी आई। प्रेमचन्द स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर बन गये थे। चचा-द्वारा रखे गये नवाबराय नाम से लिखा करते थे। वर्षों की घुटन का धुआँ-उमस अब अमृत कण बनकर हृदय से निकलने लगे। सन् 1907 में उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' (वतन का दुःख दर्द) नाम से छपा। अंग्रेज शासकों को इसमें विद्रोह की बू आई। पुस्तक जब्त कर ली गई। लेखक नवाबराय की खोज-ढूँढ़ हुई। आखिर पता लग ही गया। प्रेमचन्द को बुलाया गया। कल्पना कीजिए किसी लेखक के सामने उसकी रचना जला दी जाय और उस पर बिना आज्ञा न लिखने का बन्धन लगा दिया जाय, तो उस पर क्या गुजरी होगी।

पर लिखना तो प्रेमचन्द की खुराक बन गई थी। उसे कैसे छोड़ते ? मुंशी दया-नारायण निगम को एक पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा था—"नवाबराय तो कुछ दिनों के लिए जहान से गए। दोबारा याद-दहानी हुई कि तुमने मुआहिदे (समझौते) में गो अखबारी मज़ामीन नहीं लिखे, मगर इसका मन्शा हर किस्म की तहरीर से था। गोया ख्वाह मैं किसी उन्वान (विषय) पर लिखूँ···मुझे पहले···कलक्टर साहब बहादुर की खिदमत में पेश करना होगा। और मुझे छठे-छमाहे लिखना नहीं। यह तो मेरा रोज का धन्धा ठहरा।···इसलिए नबावराय मरहूम हुए, उनके जाँनशीन (उत्तराधिकारी) कोई और साहब होंगे।" और यह साहब हुए 'प्रेमचन्द'। मुंशी दयानारायण निगम ने ही प्रेमचन्द

नाम सुझाया था। और धनपतराय हमेशा के लिए प्रेमचन्द बन गए।

यद्यपि प्रेमचन्द ने हिन्दी में स्पेशल वर्नेकुलर की परीक्षा सन् 1904 में पास कर ली थी पर वे अभी नागरी में अच्छी तरह नहीं लिख सकते थे। श्री मन्नन द्विवेदी और महावीरप्रसाद पोद्दार के सम्पर्क से उन्होंने हिन्दी अच्छी तरह सीख ली और सन् 1913 के आस-पास उनकी कहानियाँ हिन्दी में निकलने लगी थीं।

देश-प्रेम की उत्कट भावना प्रेमचन्द के अन्तःकरण में व्याप्त थी। देश की सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ वे राजनैतिक समस्या के प्रति भी आरम्भ से सजग थे। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ-काल में ही 'सोजे-वतन' जैसी रचना करना इस बात का सबूत है। सन् 1920 में प्रेमचन्द ने इसी देशभक्ति की भावना से भरकर गांधीजी के असहयोग आन्दोलन की आवाज़ पर अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। प्रेमचन्द के जीवन में यह दूसरा क्रियात्मक विद्रोह था। विधवा-विवाह रचाना पहला विद्रोह था जो समाज की परम्परागत लकीरों के प्रति था। यह दूसरा विद्रोह राजनैतिक था जो ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों के प्रति था।

नौकरी छोड़कर प्रेमचन्द ने अनेक स्थानों पर पापड़ बेले, कई धन्धे किये। कानपुर के एक स्कूल में नौकरी की, काशी विश्वविद्यालय में अध्यापक बने, पर कहीं न पटी। सन् 1923 में उन्होंने बनारस में ही कुछ साझेदारों के साथ सरस्वती प्रेस की स्थापना की। प्रेमचन्द अपना प्रेस स्थापित करने का सपना पूरा करना चाहते थे। पर प्रेस की उलझनों में फँसने से साहित्य की हानि ही हुई। प्रेमचन्द को अपने साहित्यकार का पर्याप्त समय प्रेस चलाने के पचड़े में देना पड़ता था। प्रेमचन्द ने 'मर्यादा', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भी कुछ समय तक किया।

प्रेमचन्द स्वाभिमानी प्रकृति के व्यक्ति थे। पैसे के लोभ में वे कहीं बिक नहीं सकते थे। यही कारण है कि नौकरी करने के सिलसिले में उनकी कहीं नहीं निभी। सन् 1924 में अलवर राज्य ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया था और 400 रुपये मासिक वेतन, बँगला और कार अलग देने का प्रलोभन दिया था। पर प्रेमचन्द ने यह ऑफर स्वीकार न की। वे स्वतन्त्र-चेता व्यक्ति थे। 'मंगलसूत्र' में देवकुमार के सम्बन्ध में कहे गए उनके ये शब्द आत्मकथन से प्रतीत होते हैं—"साहित्य-रसिकों में जो एक अकड़ होती है, चाहे उसे शेखी ही क्यों न कह लो, वह उनमें भी थी। कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में जायें, अपनी रचनाएँ सुनाएँ, उनकी भेंट करें। लेकिन उन्होंने आत्मसम्मान को कभी हाथ से नहीं जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल दिया।"

सन् 1934 में बम्बई के अजन्ता मूवीज से आठ-नौ हजार रुपये साल का आमन्त्रण मिला। अपना उद्देश्य पूरा करने के इरादे से—गाँव-गाँव में अपने उपन्यासों और कहानियों के प्रचार का मंसूबा बाँध कर, प्रेमचन्द चले गये। 'हंस' और 'जागरण' को चलाने के लिए अधिक पैसे की व्यवस्था कर सकने का लोभ भी दिया था। परन्तु फिल्मी दुनिया की वास्तविकता से प्रेमचन्द जल्दी ही परिचित हो गए। 'सेवा-सदन' उपन्यास की

'बाजारे-हुस्न' नाम से फिल्म बनी। उनकी 'मिल मजदूर' कहानी 'मजदूर' नामक चित्र में रूपान्तरित हुई। परन्तु प्रेमचन्द वहाँ सन्तुष्ट न रहे। फिल्म डायरेक्टरों की मनमानी उन्हें पसन्द नहीं आई। अतः शीघ्र ही फिल्मी दुनिया से लौट आये।

सन् 1935 तक 'गोदान' की रचना हो चुकी थी।

सन् 1936 में प्रेमचन्द बीमार रहने लगे। पर लिखना न छोड़ा। 'मंगल-सूत्र' नामक अन्तिम उपन्यास लिखना आरम्भ किया। मृत्यु से दो-तीन महीने पहले 'महाजनी सभ्यता' नाम से एक लेख भी लिखा था जिसमें उन्होंने महाजनी और पूँजीवादी युग-प्रवृत्ति की निन्दा की थी। सन् 1936 में 'गोदान' का प्रकाशन हुआ। 'मंगल सूत्र' अधूरा ही छोड़ गए, केवल 70-75 पृष्ठ पूरे कर पाये थे। यदि 'मंगल सूत्र' पूरा हो जाता तो शायद इसमें वर्ग-संघर्ष अधिक खुलकर प्रकट होता। 18 जून सन् 1936 को प्रेमचन्द ने अपनी रुग्ण अवस्था में ही गोर्की की मृत्यु पर श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। इसी समय उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना में भी योग दिया। आर्थिक कष्टों तथा इलाज ठीक न करा सकने के कारण 8 अक्तूबर सन् 1936 को रोग-शैया पर ही वह दीप बुझ गया जिसने अपनी जीवन की बत्ती को कण-कण जलाकर हमारा पथ आलोकित किया।

व्यक्तित्व : जीवन में अनेक विषमताओं और कटुताओं को सहते हुए प्रेमचन्द जीवन को खेल की बाजी मानने लगे थे। वे एक कर्मठ भाग्यवादी बन गये थे। मुंशी दयानारायण निगम को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"हमारा काम तो केवल खेलना है—खूब दिल लगाकर खेलना। खूब जी-तोड़ खेलना, अपने को हार से इस प्रकार बचाना मानों हम दोनों लोकों की सम्पत्ति खो बैठेंगे। किन्तु हारने के पश्चात्—पटखनी खाने के बाद, धूल झाड़ खड़े हो जाना चहिए और फिर ताल ठोंककर विरोधी से कहना चाहिए कि एक बार फिर!" उनके 'रंगभूमि' का सूरदास और 'गोदान' का होरी इन्हीं विचारों से पोषित हैं—इसी मिट्टी से बने हैं जो हारकर भी हार नहीं मानते। सूरदास तो स्पष्ट कहता है—"तुम जीते हम हारे। पर फिर लड़ेंगे।"

यही कारण है कि प्रेमचन्द गरीबी में भी फक्कड़, फटे-हाल भी मस्त रहने वाले जीव थे। सरलता, सौजन्यता और उदारता की वे मूर्ति थे। सादा पहनावा था, सरल जीवन। स्वभाव के संकोची एवं लज्जाशील थे। स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा था। हँसोड़ प्रकृति थी। विषमताओं में भी ठहाके लगाना उनकी अपूर्व जीवन-शक्ति का द्योतक था। मित्रों के लिए उनका हृदय उदार था, गरीबों और पीड़ितों के लिए सहानुभूति का अथाह सागर था। किसानों-मजदूरों के प्रति उनकी सहानुभूति इस प्रसंग से सिद्ध होती है। उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने लिखा है कि जाड़े के दिनों में चालीस-चालीस रुपये दो बार प्रेमचन्द को दिये गए कि अपने लिए कपड़े सिला लें। पर दोनों ही बार उन्होंने रुपये प्रेस के मजदूरों को दे दिये। पत्नी नाराज हुईं तो बोले—"रानी, जो दिन-भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करें वह भूखों मरें और मैं गरम सूट पहनूँ—यह तो शोभा नहीं देता।"

प्रेमचन्द ने साहित्य-सृजन के लिए जिस 'कुरेदन' व 'तड़पन' की बात की है, वह उनमें पूर्णतया थी। उनका जीवनानुभव ही एक तड़पन था। गँवई गाँव-जीवन से उन्हें

अनुराग था। अपने जीवन का बहुत समय उन्होंने गाँव में ही बिताया था। गाँव के जीवन की पूरी जानकारी उन्हें थी। वे स्वयं बहुत साधारण गँवई लिबास में रहते थे। देखने में उनमें कोई विशेषता नजर नहीं आती थी। बाह्य में विशेष आकर्षण नहीं था। पर जो जरा भी निकट आया, थोड़ा भी अन्तर में झाँका, प्रभावित हुए बिना न रहा। प्रेमचन्द उच्चकोटि के मानव थे। आडम्बर और दिखावे से वे कोसों दूर थे। ऐश्वर्य-विलास न उन्हें मिला, और न ही उन्हें इसकी चाह थी। कुछ दिनों नौकर रखा, पर नौकर को भी कभी नौकर नहीं समझते थे। अपना काम खुद करना चाहिए—यह उनका जीवन-सिद्धान्त था।

प्रेमचन्द साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में विश्वास रखते थे। जीवन से विच्छिन्न और जीवन-निर्माण से दूर साहित्य की कल्पना उन्हें रुचिकर न थी। इसी से तिलस्मी और घटना-प्रधान कथा-साहित्य को दिलचस्पी से पढ़कर भी वे उसके सृजन में नहीं लगे। वे साहित्य की समाज-सापेक्षता और सामाजिक प्रगतिशीलता पर जोर देते थे।

साहित्य में वे नग्न यथार्थवाद और कोरे आदर्शवाद दोनों की अतियों की अपेक्षा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के हामी थे। उनका कहना है—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थ-वाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" उच्चकोटि का साहित्य वे उसे मानते थे "जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।" प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा है। उनके अनुसार "नग्न यथार्थ पुलिस का रिपोर्ट-भर हो जाता है, नग्न आदर्श प्लेटफार्म का फतवा।" वे साहित्य में पौरुषत्व चाहते थे।

वे साहित्य को जीवन-हेतु सोद्देश्य मानते थे। 'ज्यांकिस्ताफ़' के शब्दों में मानो उन्होंने अपने ही विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"आजकल के लेखक अनोखे चरित्रों के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जीवन से पृथक् कर लिया है। उनको छोड़ो और वहाँ जाओ जहाँ स्त्री और पुरुष रहते हैं। रोज का जीवन रोज मिलने वाले को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भी गहरा और प्रशस्त है। उसमें जो सबसे तुच्छ है उसकी आत्मा भी अनन्त है। वह अनन्त प्रत्येक मनुष्य में है जो अपने को सीधा-सादा मनुष्य समझता है। प्रेमी में, मित्र में, उस नारी में जो शिशु-जन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसव-वेदना से चुकाती है—हरेक स्त्री और हरेक पुरुष में जो अज्ञात बलिदानों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यही जीवन की धारा है, जो प्राणों में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है।"

जीवन की विषमताओं में भी प्रेमचन्द जीवन के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखते थे। पर ईश्वर के बारे में उनका मन कभी पूर्ण आस्थावादी नहीं बन सका। शायद जीवन की विषमताओं ने ही उन्हें किसी परोक्ष शक्ति के प्रति अनास्थावादी-सा बना दिया था।

'विश्व के पीछे कोई हाथ' मानते हुए भी वे अन्त तक आते-आते तो अनीश्वरवादी-से बन गये थे। सन् 1935 में जैनेन्द्रजी को उन्होंने लिखा था—"तुम आस्तिकता की ओर बढ़े जा रहे हो—जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।" मृत्यु से कुछ घंटे पहले भी उन्होंने जैनेन्द्रजी को कहा था—"जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद करते हैं ईश्वर, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर मुझे अभी तक ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।" उनका विश्वास हो गया था कि जीवन में किसी परोक्ष सत्ता (ईश्वर) की आवश्यकता नहीं। 'गोदान' में मेहता के विचार भी उनकी ईश्वर-सम्बन्धी ऐसी ही धारणा के परिचायक हैं।

ऊपर के संक्षिप्त अध्ययन से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रेमचन्द का व्यक्तिगत जीवन और जीवनानुभूतियाँ उनके लिए प्रेरणा-पुंज थीं। उनका जीवन अभाव और गरीबी का जीवन था। उनके कथा-साहित्य की संस्मरणात्मक प्रवृत्ति उनके व्यापक जीवनानुभवों के ही कारण है। वे जीवन में जो कुछ देखते गये, जो अनुभव करते गये तथा जो विचारते और चिन्तन करते रहे, वही उनके उपन्यासों तथा कहानियों में उतरता गया।

2. युग-परिस्थितियाँ और प्रभाव

व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त अपने युग की परिस्थितियों से भी साहित्यकार प्रेरित एवं प्रभावित होता है। उसका भाव-बोध युगीन परिस्थितियों से ही विकसित होता है। प्रेमचन्द के निर्माण में उनके युग का अत्यधिक योग है।

अंग्रेजी शासन अपनी समस्त कूटनीतियों से सशस्त्र हो दृढ़ हो चुका था। भारतीय परतंत्रता की चक्की में पिस रहे थे। भारतीय जीवन पर दोहरा आघात हो रहा था। एक ओर तो अपनी ही मूढ़ता, चारित्रिक दुर्बलता, अशिक्षा तथा गली-सड़ी सामाजिक परम्पराओं और बुराइयों में फँसी भारतीय जनता दीन-हीन अवस्था को प्राप्त हो गई थी, दूसरी ओर ब्रिटिश राज्य तथा अन्य शोषक-शक्तियाँ मगरमच्छ की तरह उसे निगल रही थीं। हमारे समाज-सुधारकों तथा राजनैतिक नेताओं को भी इसीलिए दो मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ रहा था। एक था सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध और दूसरा विदेशी शासन के विरुद्ध था। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, ऐनी बेसेंट आदि ने 'ब्रह्मो समाज', 'आर्य समाज', रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं की स्थापना करके समाज सुधार के आन्दोलन समूचे भारत में चला दिये थे। राजनीति के क्षेत्र में भी सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, तिलक, गोखले और गांधीजी के सत्प्रयत्नों से ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध व्यवस्थित मोर्चा तैयार हो गया था। देश के राजनीतिक संघर्ष की बागडोर गांधीजी के हाथों आने पर सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, नमक आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन आदि कितने ही संघर्ष समय-समय पर चले। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में गांधीयुग का साथ पूरी ईमानदारी से दिया है।

देश की 90 प्रतिशत जनता गाँव में रहती थी। और हमारा ग्राम-समाज अत्यन्त

शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया था। गाँवों में परम्परागत सामाजिक व्यवस्थाएँ—वर्ण-व्यवस्था, कठोर सामाजिक नियम, धार्मिक अंध-विश्वास और रूढ़ियाँ, पंचायती बन्धन आदि थे। व्यक्ति इन सामाजिक संस्थाओं में बँधा हुआ था। व्यक्ति को इनके कड़े नियमों और शासन में घुटना पड़ता था।

अंग्रेजी ने देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खोखली कर दी थी। अंग्रेजी शासन की भूमि-व्यवस्था के कारण भूमि पर व्यक्ति का स्वाधिकार हुआ। भूमि को बेचने, बेदखल करने आदि के नियम लागू हुए जिनसे पिसा किसान विवशता के कारण बेदखली, नीलाम, विक्रय आदि की ठोकरें खाता हुआ भूमिहीन बनता जा रहा था।

पूँजीवादी अंग्रेजों ने भारत के प्राचीन उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया था। गाँवों में कुटीर-उद्योगों के अभाव से जमीन पर अत्यधिक भार बढ़ता जा रहा था। भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटने लगी थी। सम्मिलित परिवार-प्रथा छिन्न-भिन्न हो रही थी। अलगौझों के कारण किसान की रही-सही भूमि खण्ड-खण्ड होकर महत्त्वहीन हो रही थी। ग्राम-जीवन का आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर बहुत निम्न हो गया था। कृषि परम्परागत पुराने तरीकों से ही होती थी। किसान बेचारा अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों का भी शिकार रहता था। उपज कुछ होती न थी, उधर लगान-वसूली के नियम कड़े थे। पहले तो फसल का कुछ अंश ही लगान के रूप में लिया जाता था, पर अब अंग्रेजी पद्धति में लगान नकदी के रूप में अनिवार्य हो गया। फसल चाहे हो या न हो, लगान अवश्य सिर पड़ता था। लगान की वसूली निर्दयता से होती थी, और उसमें बेईमानी होती थी सो अलग। जमींदार के कारिन्दे भी मनमानी करते थे।

कृषि की उन्नति बिल्कुल रुकी हुई थी। न तो सरकार और न जमींदार कोई भी कृषि के नए वैज्ञानिक ढंग को प्रोत्साहन नहीं दे रहा था। पुरानी सामन्तवादी पद्धति टूट रही। पूँजीवाद का विकास हो रहा था। ब्रिटिश पुलिस-पद्धति और नौकरशाही का बोलबाला था। जमींदारों की हालत भी बिगड़ती जा रही थी। उनके अधीन किसान का तो बुरा हाल था ही। हमारे गाँवों में अशिक्षा और गरीबी का अंधेरा पर्दा छाया हुआ था। भूमि-हीन किसानों की तो अत्यन्त दरिद्र अवस्था थी। थोड़ी भूमि वाले किसान भी जमींदार, उसके कारिन्दे, पटवारी, साहूकार आदि के पंजे में फंसे हुए थे। पुश्त-दर-पुश्त ऋण के भार से किसान की कमर टूटती जा रही थी।

गाँवों में महाजनी पूँजीवाद प्रचलित था। यह महाजनी शोषण कई प्रकार का था। गाँव का छोटा महाजन किसान को भारी सूद पर रुपया देता था। मूल बढ़ता ही जाता था। शहर के बड़े महाजन का एजेण्ट भी गाँवों में दखल रखता था। यही नहीं, गाँव में जिस-किसी के पास चार पैसे हुए, वही महाजन बनने लगा था। सूद का खून मुँह लग गया था।

पूँजीवादी सभ्यता के विकास से बड़े-बड़े मिल, कल-कारखाने, बैंक आदि कम्पनियाँ स्थापित हो रही थीं। पूँजीवादी अड्डे भी किसान के लिए अहितकर ही सिद्ध हो रहे थे। बड़े-बड़े उद्योगों और मण्डियों में किसान की उपज सस्ते दामों ही प्राप्त की

जाती थी और पूंजीपति अपने उद्योगों तथा व्यापार में बहुत नफा बना रहे थे। ऋण-भार के कारण बेचारे किसान की फसल प्रायः खलिहानों में ही उठ जाती थी। सारा साल उसे पेट-भर खाने को भोजन भी नसीब नहीं होता था। उसे फिर जमींदार या साहूकार की शरण में ही जाना पड़ता था।

सामाजिक और राजनैतिक चेतना का गाँवों में अभाव ही था। फिर भी किसान का बेटा कुछ समझने-गुनने लगा था। वह युग की नई आवाज को सुनने लगा था। उसके मन में विरोध की प्रबलता बढ़ने लगी थी। विषमता के ज्ञान और उसकी चुभन से वह तिलमिलाने लगा था। पुरानी पीढ़ी का किसान तो भाग्यवादी और अन्धविश्वासी ही था, पर युवक में संघर्ष की आकांक्षाएँ उभरने लगी थीं। होरी और गोबर की ये दो सीमाएँ स्पष्ट थीं।

साम्राज्यवाद की छत्रछाया में पूंजीवाद विकसित हुआ। पुराने सामन्तों का ह्रास हुआ। उनके विशेष अधिकार समाप्त हो गए। वे भी अब ब्रिटिश राज्य के अधीन थे। अन्दर से वे खोखले होते जा रहे थे, पर बाहर से अपनी वही शान रखना चाहते थे। किन्तु दम टूट रहा था। ऐसे ह्रासोन्मुख सामन्तवाद का खोखलापन प्रेमचन्द ने 'गोदान' में बहुत अच्छी तरह दिखाया है। रायसाहब इसका उदाहरण हैं।

पूंजीवाद के विकास और उद्योगपतियों के नगरों में एकत्रित होने तथा ब्रिटिश नौकरशाही ने मध्यवर्ग उत्पन्न किया। इसमें साधारण व्यवसायी, दूकानदार, वेतनभोगी कर्मचारी, अन्य छोटे-छोटे उत्पादक आदि हैं। नगरों में इस वर्ग का जीवन अत्यन्त कृत्रिम होने लगा था। झूठी शान, झूठी मर्यादा और आय से अधिक व्यय ने इस वर्ग की भी कमर तोड़ दी थी। यह वर्ग भौतिक-बौद्धिक स्वार्थी बन गया था। बड़े-बड़े मिलों में मजदूर बढ़ने लगे। बेदखल हुआ या ऋण से ग्रस्त भूमिहीन किसान गाँव छोड़कर नगर में आराम महसूस करने लगा था। नगरों में मध्यवर्ग के अतिरिक्त मिल-मालिक या पूंजीपति और मजदूर ये दो विषम वर्ग और उत्पन्न हो गए। वर्ग-संघर्ष अपना खेल खेलने लगा। टूटा हुआ जमींदार या तो सरकारी पिट्ठू बन गया था या भेस बदलकर वह ढोल का पोल बना किसानों का खैरख्वाह और नेशनलिस्ट बनने का दम्भ रचने लगा था।

'टका धर्म' संस्कृति का विकास हुआ। प्रेमचन्द ने इसे 'महाजनी सभ्यता' कहा है। "धन के लोभ ने मानव-भावों को पूर्णरूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है।...इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग पर इतना कब्जा जमा कर लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से आक्रमण करना कठिन दिखाई देता है।...इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है, 'बिजनेस इज बिजनेस'—व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं।"[1] प्रेमचन्द ने लिखा है कि "समाज में आ गए सभी बुरे विचार, भाव और कृत्य दौलत की देन हैं, पैसे के प्रसाद हैं। महाजनी सभ्यता ने इसकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है,

---

1. 'प्रभात' ग्वालियर, पृष्ठ 8।

और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया तो सिर कुचलने के लिए पुलिस है, अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर नशे से नहीं बच सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असंभव है। पैसा अपने साथ वह सारी बुराइयाँ लाता है जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसे को मिटा दीजिये, सारी बुराइयाँ अपने-आप मिट जायेंगी।"[1]

प्रेमचन्द के समय में गांधीवाद देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लगा था। प्रेमचन्द ने गांधीवादी विचारधारा को पूरी तरह अपनाया। देश के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए तो प्रेमचन्द गांधीवाद को पूर्ण सफल सिद्धांत मानते थे। किन्तु देश की आर्थिक समस्या का हल उन्हें गांधीवाद की अपेक्षा साम्यवाद में अधिक आशाजनक दिखाई दिया। इसी से उन्होंने साम्यवाद का पूरे उत्साह से स्वागत किया है।

प्रेमचन्द समझते थे कि इस युग की महाजनी सभ्यता को समाप्त करनेवाली विचारधारा साम्यवाद है। "इस सभ्यता को समाप्त करनेवाली सभ्यता भी उत्पन्न हो चुकी है। वह है—साम्यवादी मार्क्सवादी सभ्यता जिसका उदय सुदूर पश्चिम में हो चुका है और जो यहाँ भी बढ़ी आ रही है। जिसमें श्रम का महत्त्व होगा। इसने महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर रख दी है। जो दूसरों की मेहनत या बाप-दादा के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है।"

रूस की ओर से आ रही इस नई साम्यवादी सभ्यता के बारे में अपनी पत्नी से बातचीत के सिलसिले में प्रेमचन्द ने कहा था—"वह बोले—वह लोग (रूस वाले) यहाँ नहीं आएँगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आएगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों और मजदूरों का राज होगा।"[2]

इस प्रकार अपने युग की गांधीवादी विचारधारा का प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में पूरा साथ दिया और साथ ही अन्त तक आते-आते वह सभ्यवादी विचार-पद्धति से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। प्रेमचन्द ने अपने युग की परिस्थितियों का सही अध्ययन, मनन और चिन्तन करके अपनी एक प्रगतिशील विचारधारा बनाई। वह जीवन की सब दिशाओं—सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि—की झाँकी लगाते थे। समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत का अत्याचार, वैधव्य का चीत्कार, वेश्या का बीभत्स विलास, बाल-विवाह, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि हमारी वैवाहिक पद्धति के दोष, दहेज की कुप्रथा, धार्मिक संकुचितता, साम्प्रदायिकता, धर्म का ढकोसला और पाखण्ड, अंधविश्वास तथा अन्य बुराइयों और कुप्रथाओं के प्रति असंतोष और विद्रोह की भावना प्रेमचन्द की रचनाओं में स्थान-स्थान पर पाई जाती हैं। एक सच्चे युग-चेता

---

1. 'प्रभात' ग्वालियर, पृष्ठ 8।
2. प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ 150।

साहित्यकार के नाते प्रेमचन्द ने अपने युग का आलोड़न-विलोड़न करके ही उच्च सांस्कृतिक निर्माण के तत्त्व निकले।

3. साहित्यिक पृष्ठभूमि

उर्दू उपन्यास : प्रेमचन्द ने साहित्य-साधना उर्दू से आरभ की। उन्होंने अपने किशोर-काल में ही उर्दू में प्राप्य सभी नावल और किस्से-कहानियाँ पढ़ डाली थीं। उस समय उर्दू-उपन्यास भी अपने विकास की आरम्भिक मंजिल में खेल रहा था। उर्दू में पहले-पहल फारसी से अनूदित 'दास्ताने-मीर हमजा', 'तिलस्मे-होशरुबा', 'बोस्ताने-ख्याल' जैसी काल्पनिक घटना-प्रधान रोमाण्टिक कथाएँ प्रचलित हुईं। कुछ मौलिकता लिए हुए सरूर की 'फसाना-ए-अजायब' भी 'तिलस्मे-होशरुबा' के ढंग पर ही लिखी गई थी। इनके अतिरिक्त सर आर्थर कानन डायल, रेनाल्ड आदि अंग्रेजी के उपन्यासकारों की रचनाएँ भी उर्दू में अनूदित हो चुकी थीं। प्रेमचन्द ने इन सब उपन्यासों तथा किस्सों को बड़े चाव से पढ़ा था।

नजीर अहमद ने उर्दू के उपर्युक्त काल्पनिक कथा-साहित्य के स्थान पर जीवनोपदेश-उद्देश्य-प्रधान उपन्यास लिखने आरम्भ किये। उपन्यास को जीवन से सम्बद्ध करने का यह प्रथम प्रयास था। किन्तु नजीर अहमद के उपन्यास, हिन्दी के भारतेन्दु-कालीन उपदेश-प्रधान उपन्यासों की तरह, कोरे उपदेशात्मक बनकर रह गये।

प्रेमचन्द के सामने नज़ीर अहमद से भी श्रेष्ठ उपन्यास रतननाथ सरशार के उपन्यास आये। सरशार के 'फसाना-ए-आजाद' की उर्दू में धूम मच गई। प्रेमचन्द ने 'आजाद-कथा' के नाम से बाद में सरशार की इस रचना का हिन्दी में अनुवाद भी किया। सरशार की रचनाएँ प्रेमचन्द का कण्ठहार थीं। सरशार ने अपने उपन्यासों में सामाजिक जीवन का सच्चा ब्यौरा रोचक शैली में प्रस्तुत किया। उर्दू उपन्यास-साहित्य में यद्यपि नजीर अहमद ने घटना-चमत्कार से निकालकर उपन्यास को जीवन के बीच लाने का प्रयास किया था, पर उन्होंने उपदेशात्मकता या नैतिकता का दूसरा बोझा उस पर लाद दिया था। रतननाथ सरशार ने घटना-वैचित्र्य और उपदेशात्मकता दोनों के भार से उर्दू उपन्यास को मुक्त किया। उनकी व्यंग्यपूर्ण रोचक शैली से प्रेमचन्द बहुत प्रभावित हुए। मौलवी अब्दुल हकीम शरर के ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी प्रेमचन्द के सामने आई। मिर्जा रुसवा का 'उमराव जान अदा' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुआ, जिसमें लखनऊ की एक नर्तकी का आत्म-कथात्मक वास्तविक जीवन-चित्र है। प्रेमचन्द को 'सेवासदन' के निर्माण में इस रचना से भी प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

अपने से पूर्व के इन सब उर्दू उपन्यासकारों की रचनाएँ प्रेमचन्द ने पढ़ी थीं और यह बहुत अच्छा हुआ कि उन्होंने सरूर आदि के घटना-वैचित्र्य का मार्ग न अपनाकर सरशार और रुसवा की तरह सामाजिक पक्ष ग्रहण किया। केवल घटनाओं के चमत्कार से उपन्यास रोचक हो सकता है, यह बात 'तिलस्मे होशरुबा' तथा अन्य घटना-प्रधान रचनाओं से प्रेमचन्द जान चुके थे, और केवल अपूर्व वर्णनशैली से उपन्यास रोचक और

लोकप्रिय हो सकता है, यह सरशार के उपन्यासों से विदित हुआ । जीवन की अनुभूतियाँ उनके मानस में लहरें ले ही रही थीं, अतः उन्होंने सरशार की-सी रोचक शैली में जीवन का चित्रण करना ही श्रेयस्कर समझा ।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास की गति-विधि

यद्यपि संस्कृत की हमारी प्राचीन साहित्य-परम्परा में 'दशकुमार चरित', 'कादम्बरी' आदि कुछ गद्य-कथा-प्रबन्ध मिलते हैं, किन्तु आधुनिक काल में विकसित होने वाली उपन्यास नाम की कथात्मक गद्य-साहित्य-विधा सुबन्धु, दण्डी और बाण की गद्य काव्य-परम्परा से सर्वथा भिन्न रूप में, पश्चिम की देन है। आधुनिक उपन्यास से पूर्व कथा, आख्यायिका, कहानी आदि नामों से छोटी-बड़ी कथात्मक रचनाएँ होती थीं। हिन्दी में भारतेन्दुकाल से ही उपन्यास का जन्म हुआ। इससे पूर्व 'रानी केतकी की कहानी,' 'राजा भोज का सपना' आदि रचनाएँ पुराने ढँग की कथाएँ ही थीं। हिन्दी में उपन्यास के जन्म से पूर्व संस्कृत से अनूदित पौराणिक और धार्मिक कथाएँ, तथा उर्दू-फारसी के परम्परा-गत किस्से—किस्सा चारदरवेश, किस्सा हातिमताई, किस्सा साढ़े तीन यार आदि—ही प्रचलित थे। बंकिम आदि के मौलिक बंगला उपन्यासों की देखा-देखी एक ओर 19 वीं शती के अन्तिम दो चरणों में श्रीनिवासदास ('परीक्षा गुरु' सन् 1880), राधाकृष्णदास ('निस्सहाय हिन्दू' सन् 1886), राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों ने नवीन सामाजिक विषयों से सम्बन्धित उपदेश प्रधान उपन्यासों की रचना की, दूसरी ओर तिलस्मे-होशरुबा, ठग वृत्तान्तमाला, पुलिस वृत्तान्त माला आदि फारसी-उर्दू के किस्सों- के प्रभाव से तथा एडगर वेलेस और रेनाल्ड्स जैसे अंग्रेजी नॉवलिस्टों के औपन्यासिक ढंग पर देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि उपन्यासकारों ने तिलस्मी, जासूसी और प्रेम-सम्बन्धी उपन्यासों की परम्परा चलाई। प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व सन् 1880 से सन् 1915 तक के 35 वर्षों में हिन्दी उपन्यासों की निम्न धाराएँ प्रचलित थीं, किन्तु इन सब में औपन्यासिक कला अपने शैशव काल में ही रही।

1. **उपदेश-प्रधान उपन्यास**—पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी, श्रीनिवासदास, बाल-कृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि भारतेन्दु कालीन लेखकों के उपदेश-प्रधान उपन्यासों में औपन्यासिक तत्त्व-विधान बहुत हल्का है। न तो कथानक के निर्माण में कौशल दिखाई देता है, न चरित्र-चित्रण का ही प्रयास है। कथा-तत्त्व में उत्सुकता-रोचकता और कई बार सम्बद्धता का भी प्रायः अभाव रहा। यद्यपि हमारे इन लेखकों की दृष्टि जीवन पर केन्द्रित रही, परन्तु जीवन के नाना पहलुओं और विभिन्न यथार्थ समाज-चित्रों को ये प्रकट नहीं कर सके। इनमें केवल समाज की नैतिक, पारिवारिक आचार-विचार-सम्बन्धी शिक्षा देना ही उपन्यासकारों का उद्देश्य था। जीवन की समस्या का केवल सतही तौर पर निर्देशन रहता था। सामाजिक समस्याओं में गहरे पैठने की इन लेखकों में दृष्टि नहीं थी। उपदेश और नैतिकता के बोझ से कला दबी ही पड़ी रही। संवाद-कला का भी प्रायः अभाव रहा। संवाद होते ही कम थे। उनमें प्रायः कृत्रिमता का दोष

रहता था। बहुधा पात्रों के स्थान पर लेखक ही बोलता दिखाई देता था। नीति, धर्म, पाप-पुण्य और सदाचार-सम्बन्धी दृष्टि भी इन लेखकों की परम्परागत ही रही।

2. **घटना प्रधान तिलस्मी-ऐयारी के उपन्यास** प्रेमचन्द से पूर्व खूब लिखे जा रहे थे। श्री देवकीनन्दन खत्री इस धारा के अग्रणी लेखक हैं। मीर हमजा के तिलस्मी दास्तानों-जैसी फारसी-उर्दू की रचनाओं का हमारे लेखकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। खत्रीजी की 'चन्द्रकान्ता' (रचनाकाल 1890 ई०), चन्द्रकान्ता-सन्तति' (1896 ई०) और उनके सुपुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री रचित 'भूतनाथ' (1908 ई०) आदि रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं। श्री रामलाल वर्मा का 'पुतली-महल' भी इस परम्परा का प्रसिद्ध उपन्यास है। इन उपन्यासों में तिलस्म के बटुए खोले जाते थे। घटना-वैचित्र्य ही इनकी विशेषता है। अति प्राकृत और अविश्वसनीय घटनाओं और प्रसंगों की इनमें भरमार है। जीवन की वास्तविकता से इन उपन्यासों का विशेष सम्बन्ध नहीं, कल्पना की उड़ान ही पाई जाती है। न चरित्र-चित्रण का प्रयास है, न कथोपकथन की स्वाभाविकता। कथानक में संगठन, कौतुहल और रोचकता का गुण तो आया, पर अयथार्थ और अस्वाभाविकता का अंश इन्हें आज के बुद्धिवादी पाठक के योग्य नहीं रहने देता। साहित्य की प्राणधारा जीवन से विच्छिन्न होकर कभी जीवित नहीं रह सकती। अतः इन उपन्यासों का साहित्यिक महत्त्व विशेष नहीं, हाँ, ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य मानना चाहिए। इतने पर भी यह अवश्य कहना पड़ता है कि असली ढंग पर उपन्यास का रूप इन रचनाओं में ही सर्वप्रथम दिखाई दिया। उत्सुकतावर्द्धक कथा-नियोजना, रोचक शैली, आरम्भ से अन्त तक कथा का क्रमिक विकास ये इनकी विशेषताएँ हैं। भाषा भी इन लेखकों की अपेक्षाकृत प्राणवान् और अभिव्यंजनापूर्ण है। उर्दू की चुस्ती और मुहावरा-बन्दी तथा हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति भी उनमें पर्याप्त पाई जाती है।

3. टेकनिक की दृष्टि से उपर्युक्त तिलस्मी धारा से मिलती-जुलती जासूसी उपन्यासों की परम्परा भी अंग्रेजी के सर आर्थर कानन डायल-जैसे उपन्यासकारों के प्रभाव से चली। गोपाल राम गहमरी इस धारा के प्रमुख लेखक हैं। उनके 'अद्भुत लाश', 'झंडा डाकू', 'गुप्त भेद,' आदि तथा मथुरा प्रसाद खत्री का 'आनन्द महल' आदि उपन्यास प्रसिद्ध हुए। इनमें भी कलात्मकता की दृष्टि से वे ही विशेषताएँ या दुर्बलताएँ हैं जो उपर्युक्त तिलस्मी उपन्यासों में हैं। हाँ, इनमें हमें जीवन की कुछ यथार्थता के भी दर्शन हो जाते हैं। फिर भी पश्चिम के डायल-जैसे उपन्यासकारों की-सी सूक्ष्मता, विश्वासोत्पादिनी शक्ति तथा बुद्धि-चातुर्य इनमें नहीं आ पाये।

4. प्रेमचन्द से पूर्व प्राचीन संस्कृत-कथा प्रणाली को नवीन रंग में ढालने वाले कुछ लेखकों ने कुछ पौराणिक और धार्मिक उपन्यासों की भी रचना की। श्रीद्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी का 'सावित्री-सत्यवान्' (1912 ई०), रामचरित उपाध्याय का 'देवी द्रोपदी' (1919 ई०) तथा नरोत्तम व्यास का 'लवकुश' आदि उपन्यास इसी परंपरा के द्योतक हैं। ये उपन्यास उपर्युक्त तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों की अपेक्षा बहुत कम लिखे गये। औपन्यासिक शिल्प का इनमें भी अभाव ही रहा।

5. कुछ उपन्यास विज्ञान के विषयों को लेकर भी लिखे गए, जैसे—श्री गंगाप्रसाद गुप्त का 'हवाई नाव' (1903 ई०) विनयगोपाल बख्शी का 'चन्द्रलोक की यात्रा' (1910 ई०), तथा शिवसहाय चतुर्वेदी का 'बेलून बिहारी', (1918 ई०) आदि। इन उपन्यासों में विज्ञान की सत्यता के साथ उपर्युक्त तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की स्वच्छन्द कल्पना भी रहती थी। उपन्यासकला इनमें भी विकसित न हो पाई।

6. कुछ उपन्यास केवल हँसी-मजाक द्वारा मनोरंजन के उद्देश्य से लिखे गये। उपर्युक्त तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों का उद्देश्य भी मनोरंजन ही था। 'गोबर गणेश संहिता' (गोपालराम गहमरी), 'शैतान मण्डली' (बेचन शर्मा उग्र) तथा 'ठलुआ क्लब' (गुलाबराय) आदि हास्य से ओत-प्रोत हैं। उपन्यास-कला का इनमें भी अभाव रहा।

7. प्रेमचन्द से पूर्व अन्य भाषाओं से अनूदित उपन्यास भी खूब निकलने लगे थे। आरम्भ में केवल मनोरंजन-प्रधान तिलस्मी, जासूसी आदि घटना-प्रधान उपन्यासों—जैसे, अंग्रेजी से 'लन्दन रहस्य' आदि तथा उर्दू-फारसी से 'तिलस्मे-होशरुबा', 'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि—का अनुवाद हुआ। किन्तु शनैः शनैः बंगला, अंग्रेजी और मराठी के श्रेष्ठ उपन्यासों के अनुवाद निकलने लगे। हिन्दी में बंकिम, रविबाबू, शरत, राखालदास बैनर्जी आदि बंगला लेखकों के उपन्यासों-जैसे श्रेष्ठ मौलिक उपन्यासों का अभाव खलने लगा।

8. प्रेमचन्द से पूर्व कुछ भाव-प्रधान उपन्यास भी लिखे गये थे। इनमें काव्यात्मकता रहती थी। इनके पात्र भावुक होते थे। कवित्वपूर्ण अलंकृत शैली में भाव-व्यंजना ही लेखक का उद्देश्य रहता था। कथा-तत्त्व, चरित्र-चित्रण आदि का इनमें अभाव ही रहा। ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' और चण्डी प्रसाद हृदयेश का 'मनोरमा' इस ढंग के उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं।

9. **प्रेम-प्रधान उपन्यासों** की परम्परा भी चल रही थी। यद्यपि तिलस्मी आदि घटना-प्रधान उपन्यासों में भी प्रेम-चित्रण रहता था, पर इन प्रेमप्रधान उपन्यासों में प्रेमाख्यानों की ही प्रधानता रही। किशोरीलाल गोस्वामी इस परम्परा के अग्रणी लेखक कहे जा सकते हैं। उनके उपन्यासों में रीतिकाव्य-परम्परा का शृंगार—मान, हास-परिहास, छिछली और अश्लील रसिकता, अभिसार, अवैधप्रेम आदि, तिलस्मी उपन्यासों का तिलस्म और ऐयारी का घटना-चमत्कार तथा इतिहास का झीना और विकृत आधार पाया जाता है। 'तारा', 'कुसुम कुमार', 'अँगूठी का नगीना', 'लखनऊ की कब्र', 'रजिया बेगम' आदि दर्जनों उपन्यासों की गोस्वामीजी ने सन् 1889 से 1918 तक रचना कर डाली थी। किशोरी लाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों में सामाजिकता का पुट भी पाया जाता है।

फारसी नाटक-मण्डलियों के प्रभाव से भी कुछ प्रेम-प्रधान उपन्यास नाटकीय शैली में लिखे गये। फारसी-काव्य के प्रेम-चित्रण की नाटकीय शैली में रामलाल वर्मा ने 'गुलबदन उर्फ रजियाबेगम' की रचना की।

10. जिस सुधारवादी उपदेशात्मक प्रवृत्ति को अपना कर भारतेन्दु युग के लेखकों

ने उपन्यास-रचना की थी, उसका विकास द्विवेदीकाल में प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व हो रहा था। प्रेमचन्द इसी मार्ग में साहित्य-क्षेत्र में आये। उन्होंने इस सुधारवादी सामाजिक प्रवृत्ति को और भी सुन्दर कलात्मक प्रौढ़ता प्रदान की। प्रेमचन्द से पूर्व सुधारवादी उपन्यासों की धारा कई रूपों में प्रचलित हो चुकी थी। कुछ उपन्यास केवल पारिवारिक आदर्श और शिक्षा से सम्बन्धित लिखे गये, जैसे—गोपालराम गहमरी के 'बड़ा भाई', 'सास-पतोहू' (सन् 1889 ई०) 'आदर्श दम्पति' (1904 ई०), 'हिन्दू गृहस्थ' (लज्जाराम मेहता) तथा 'आदर्श बहू' (उमरावसिंह, रचनाकाल 1913 ई०), 'छोटी बहू' (गिरजा-कुमार घोष) आदि। इनका आरम्भ घर के ही संसार से हुआ। सास-बहू, ननद-भाभी के झगड़े और बाल-विवाह के दोष तथा स्त्री-शिक्षा आदि से सम्बन्धित नैतिकता ही इनमें रहती थी।

इस पारिवारिक घेरे के बाहर कुछ व्यापक सामाजिकता को अपना कर भी सुधारवादी उपन्यास लिखे गये, जिनमें विधवा-विडम्बना 'बाल-विवाह, नारी-उत्थान, छुआ-छूत, जाति-भेद तथा दहेज आदि की सामाजिक समस्याओं को सतही तौर पर प्रस्तुत किया गया। लज्जाराम मेहता का 'सुशील विधवा' (1907 ई०) तथा चाँदकरण का 'कॉलेज होस्टल' (1916 ई०) आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। इस परम्परा में एक दो रचनाएँ राजनीति और देश-प्रेम से सम्बन्धित भी हुईं—जैसे, उग्रजी का 'घण्टा' तथा उदयनारायण वाजपेयी का 'स्वदेश प्रेम' (1917 ई०)।

प्रेमचन्द का आगमन—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि प्रेमचन्द के हिन्दी में आगमन ('सेवासदन'—1918 ई०) से पूर्व हिन्दी उपन्यास अपने शैशव के प्रयोग-काल में था। उपन्यास के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के अभ्यास हो रहे थे। यद्यपि पारिवारिक और सामाजिक विषयों पर रचनाएँ लिखी जाने लगी थीं, किन्तु न तो अभी हमारे उपन्यासों में उपन्यास-कला का विकास हुआ था, न सामाजिक समस्याओं को गहराई से पकड़ने की क्षमता ही लेखकों में दिखाई देती थी, और न जीवन की व्यापक नानाविध समस्याओं पर ही उनकी दृष्टि जाती थी। वास्तव में प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यास मुख्यतः दो उद्देश्यों से लिखे जाते थे—एक कोरे मनोरंजन के लिए, दूसरे सुधार और उपदेश की खातिर। तिलस्मी-ऐय्यारी, जासूसी, हास्य और प्रेम-प्रधान उपन्यासों में पहली वृत्ति है, तो पौराणिक-धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक उपदेश-प्रधान उपन्यासों में दूसरी। फिर भी 'तिलस्मेहोशरुबा' को चाव से पढ़ने वाले प्रेमचन्द ने तिलस्मी अस्वाभाविक कथानकों के स्थान पर, सुधारवादी रचनाओं के प्रभाव से, हिन्दी कथा-साहित्य को जीवन की यथार्थता और आदर्श प्रेरणाओं से बाँधने का निश्चय किया, यह साहित्य के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। 'सेवासदन'-जैसी श्रेष्ठ रचना प्रस्तुत करके प्रेमचन्दजी ने हिन्दी उपन्यास-कला को प्रौढ़ता प्रदान की।

जीवन का व्यापक चित्रण, अनेक सामाजिक समस्याओं का यथार्थ अनुभूतिपूर्ण प्रकाशन, स्वाभाविक, विश्वसनीय एवं मानवीय संवेदनाओं से पूर्ण कथानक, भिन्न-भिन्न वर्गों और पेशों के अनेक पात्रों का यथार्थ चरित्र-चित्रण, पात्रानुरूप एवं स्वाभाविक

सजीव संवाद, युग-धर्म की सजीवता, सुन्दर-सरल, परिष्कृत और प्रभावात्मक भाषा-शैली, जीवन की स्वस्थ प्रेरणाओं और आदर्शों का महान् उद्देश्य आदि गुणों की अवतारणा हिन्दी उपन्यास में सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी की लेखनी द्वारा ही प्रस्तुत हुई। मानवता का इतना दुःख-दर्द और दलित-दुखित, शोषित निम्न वर्ग के प्रति इतनी सच्ची सहानुभूति लेकर आने वाला शायद ही दूसरा कलाकार कहा जा सके। भारतीय जीवन के पचासों वर्षों का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक संघर्ष और विकास जितनी सत्यता से उनके उपन्यासों में पाया जाता है, वैसा इतिहास की पुस्तकों में ढूंढे से भी नहीं मिल सकता। निश्चय ही प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी-साहित्य के लिए ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य के लिए वरदान-सदृश सिद्ध हुआ। वे हमारे सांस्कृतिक गुरु थे। नव भारत के निर्माण में उनका योग किसी राजनैतिक या सामाजिक नेता से कम नहीं है। जो कार्य राजनीति के क्षेत्र में गाँधीजी-जैसे राजनीतिज्ञ नेता ने किया, वही कार्य साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी द्वारा सम्पन्न हुआ। अपने व्यक्तिगत जीवन तथा युग-जीवन से बहुत-कुछ पाकर उन्होंने सब-कुछ अपने युग और भावी युग को दे दिया, अपने निज के लिए कुछ भी नहीं रखा, कुछ भी नहीं चाहा।

2

हिन्दी उपन्यास का शिल्प-विकास : प्रेमचन्द की देन

ऊपर के अध्ययन से प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी-उपन्यास की स्थिति का परिचय हुआ होगा। अब यहाँ हिन्दी औपन्यासिक शिल्प का क्रमिक अध्ययन करके प्रेमचन्द की सामान्य देन पर प्रकाश डालते हैं।

कथानक—जैसाकि कहा जा चुका है, आरम्भ में तिलस्मी-जासूसी आदि उपन्यासों में अद्‌भुत, अस्वाभाविक और कृत्रिम घटना-वैचित्र्य वाला कथानक होता था। उपदेश-प्रधान उपन्यासों में उपदेश या सुधार की खातिर कथा को मनमाने ढंग पर चलाया जाता था। हिन्दी-आलोचना की रूढ़ि के दोष से ही कुछ आरम्भिक रचनाओं को आज तक उपन्यास माना जाता है। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' में उपन्यास की कोई बात भी लक्षित नहीं होती। इसका छोटा-सा कथानक कहानी की ही संज्ञा पा सकता है। पर न जाने कैसे—शायद बिना पढ़े—सभी आलोचक इसे उपन्यास मानते आ रहे हैं!

हिन्दी-उपन्यासों में कथावस्तु की निर्दोषता बहुत समय तक नहीं आ पाई। प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर युग में भी आज तक अधिकांश उपन्यास कथानक की दृष्टि से सदोष ही कहे जा सकते हैं। तिलस्म के बटुए और जासूसी-ऐय्यारी के चक्कर तो छूटे, किन्तु बहुत-से उपन्यासों में आकस्मिक घटनाओं—संयोगों (Coincidence) का बाहुल्य होने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन में आकस्मिक घटनाएँ भी घटती हैं, पर कभी-कभी ही। उनकी अधिकता उपन्यास में अस्वाभाविक-सी प्रतीत होने लगती है। प्रेमचन्द के भी 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' आदि गोदान-पूर्व के उपन्यासों में यह दोष कुछ हद तक पाया जाता है। उपन्यास मानव-जीवन से तो सम्बद्ध हो गए, पर उनमें किसी निश्चित आदर्श या लक्ष्य की पुष्टि का ध्यान रहने लगा। आकस्मिक घटनाओं के प्रयोग द्वारा लेखक कथा की गति लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगा। प्रेमचन्द के उपर्युक्त कुछ उपन्यासों में भी कथा उद्देश्य के इशारे पर मोड़ी गयी प्रतीत होती है।

आकस्मिकता के अतिरिक्त दूसरा दोष लक्ष्य या उद्देश्य की प्रधानता से यह रहा कि कई बार कथावस्तु में सन्तुलन नहीं रहने पाया। अनावश्यक घटना कई बार विस्तार

पा जाती थी और आवश्यक घटना और प्रसंगों का विस्तार नहीं हो पाता था। प्रासंगिक वृत्त व्यर्थ का महत्व पा जाते थे। यह दोष प्रेमचन्द के भी बड़े उपन्यासों में यहाँ तक कि 'गोदान' में भी पाया जाता है।

तीसरा दोष यह कि अपने उद्देश्य, रुचि या सिद्धान्त के मोह में लेखक कई बार स्वयं या किसी पात्र के रूप में लम्बे-लम्बे भाषण, लम्बे संवाद या ऊबा देने वाली व्याख्याएँ अथवा वर्णन (कैफियतें) देने लगा। इस तरह बीच-बीच में अपनी बात कहने के लिए कथाकार के स्वयं उपस्थित हो जाने से कलात्मकता को हानि पहुँची है। कथावस्तु-सम्बन्धी ये तीन दोष हिन्दी के अच्छे-अच्छे उपन्यासकारों में—यहाँ तक कि प्रेमचन्द, वृन्दावन-लाल वर्मा-प्रभृति लेखकों के कुछ उपन्यासों में भी पाये जाते हैं। वर्माजी के उपन्यासों में कहीं-कहीं वर्णन की प्रधानता है, जैसे—'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि में, विशेष-कर पहली रचना में लम्बे-लम्बे ऐतिहासिक वर्णन कथा की गति में बाधक और ऊबाहट पैदा करने लगते हैं। साथ ही कहीं-कहीं सैद्धान्तिक वाद-विवाद—जैसे 'मृगनयनी' में कुएँ के पानी का झगड़ा—भी आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं। प्रेमचन्द के प्रायः सभी बड़े उपन्यासों में कथा का सन्तुलन समुचित नहीं बन पाया है। 'गोदान' में भी नगर की उपकथा ग्राम की मुख्य कथा से सुसम्बद्ध नहीं हो पाई। सैद्धान्तिक वाद-विवाद भी कहीं-कहीं पाया जाता है, जैसे 'सेवासदन' में म्यूनिसिपैल्टी के मेम्बरों में वाद-विवाद आदि।

हमारे आरम्भिक उपन्यासों में घटनाओं की अधिकता चरित्र-चित्रण को दबाए रहती थी। पात्रों की आन्तरिक, स्वाभाविक मनोवृत्तियों का उद्घाटन नहीं हो पाता था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही सर्वप्रथम चरित्र-चित्रण का प्रयास दिखाई दिया। पर उनकी भी आरम्भिक रचनाओं में यह दोष कुछ-कुछ पाया जाता है। वर्माजी के ऐतिहा-सिक उपन्यासों में भी घटनाएँ पात्रों को आच्छादित कर लेती हैं। 'गोदान' और बाद के लेखकों की रचनाओं में कथानक और पात्रों का सामंजस्य आने लगा। चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ती गई, और मनोवैज्ञानिक या मनोवैश्लेषिक उपन्यासों में तो कथा या घटना की अवहेलना ही होने लगी। कथा गौण हो गई—चरित्र-विश्लेषण ही मुख्य उद्देश्य हो गया। यह प्रवृत्ति दूसरी अति तक पहुँच गई।

हिन्दी में कथानक की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष उपन्यास कम ही दिखाई देते हैं। मुंशी प्रेमचन्द, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ('माँ', 'भिखारिणी'), बेचन शर्मा उग्र ('सरकार तुम्हारी आँखों में' आदि), प्रतापनारायण श्रीवास्तव ('विदा' आदि) तथा गोविन्दवल्लभ पन्त, अश्कजी, यशपाल, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गुरुदत्त आदि के कुछ उपन्यासों में ही सीधी-सादी निर्दोष कथा के दर्शन होते हैं। वास्तव में जिस प्रकार पहले उद्देश्य-उपदेश या घटना-बहुलता के कारण दोष उत्पन्न होते थे, उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल में भी बौद्धिक जागरुकता के बढ़ने से उपन्यास में बुद्धि-प्रधानता रहने लगी। विभिन्न प्रकार के मार्क्सवादी, मनोविज्ञानवादी, राष्ट्रवादी सांस्कृतिक आदि विचारधाराओं ने हमारे उपन्यासकारों को घेर लिया। और यह सब विचार-तत्व कथा रस में घुलकर आने

की बजाय, कथावस्तु की अवहेलना-सी करने लगा। सामाजिक उपन्यासों में विचारों, सिद्धान्तों के प्रतिपादन या स्पष्टीकरण के कारण कथा-शिल्प की त्रुटि रही, और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्र-वैचित्र्य और मनोविज्ञान से कथा दब गई। यह बात हम यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेयजी, इलाचन्द्र जोशी, रांगेय राघव, नागार्जुन, फणीश्वर रेणु आदि हिन्दी के प्रसिद्ध औपन्यासिक शिल्पकारों के भी बहुत से उपन्यासों को दृष्टि में रखकर कह रहे हैं। अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में कथा का भारी दोष है और सच तो यह है कि शैली-शिल्प की नवीनता के कारण जितनी इनकी चर्चा-प्रचार एवं प्रसिद्धि हुई है, उतना कुछ शायद इनमें नहीं है। फणीश्वरनाथ रेणु के बहुचर्चित उपन्यास 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' की कहानी और भी दुखद है। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' तथा 'जिप्सी' आदि, जैनेन्द्रजी के 'त्यागपत्र' जैसे कुछ सन्तुलित उपन्यासों को छोड़कर शेष सब उपन्यास, नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' आदि में कथा-रस का दोष बहुत अखरता है। फिर भी हिन्दी उपन्यास के कथा-शिल्प का पर्याप्त विकास हुआ है। कई प्रकार के प्रयोग भी हुए हैं।

मुंशी प्रेमचन्द का हिन्दी उपन्यास के कथा-शिल्प को विकसित करने में पर्याप्त योग है। यद्यपि उन्होंने कथा का सीधा-सादा ढंग अपनाया है, कोई नये प्रयोग नहीं किये, तथापि उनके 'निर्मला', 'गबन' आदि में पूर्णतः और 'गोदान' आदि में मामूली अपवादों के साथ सीधी-सादी सरल निर्दोष एवं रोचक कथा पाई जाती है। पहले जैसी आकस्मिक घटनाएँ, आदर्श के अनुकूल तोड़ी-मोड़ी अस्वाभाविक परिस्थितियाँ या अंत आदि अब समाप्त हो चुकी है।

चरित्र-चित्रण—पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का अभाव था। पात्रों की कोई स्वतन्त्र, स्वाभाविक सजीव रेखायें उभर नहीं पाती थीं। पात्रों का व्यक्तित्व लेखक के हाथ की कठपुतली बना रहता था। अपने 'कु' और 'सु' ये युक्त यथार्थ चरित्र-सृष्टि प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम प्रकट की। उनका 'सेवा-सदन' सुमन, पद्मसिंह शर्मा, शान्ता, सदन आदि सजीव पात्रों की अमर चरित्र-सृष्टि लेकर आया। प्रेमचन्द जी ने यथार्थ जीवन से भिन्न-भिन्न वर्गों के सजीव पात्रों का चयन किया। उनका मानव-जीवन-अनुभव बड़ा व्यापक था। वह भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों की मनोवृत्तियों से अच्छी तरह अभिज्ञ थे। उनकी चरित्र-सृष्टि बहुत व्यापक एवं विशाल है। हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण-कला को उन्होंने बहुत विकसित किया, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण-कला सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनके 'गोदान'-पूर्व के कुछ उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता तथा उद्देश्य के आग्रह से कई बार कुछ पात्र दब गये हैं या उनका अस्वाभाविक गति-विकास हुआ है, जो मनोवैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता, जैसे 'प्रेमाश्रम' में गायत्री, ज्ञानशंकर आदि, 'गबन' में जोहरा तथा निर्मला में डॉ० सिन्हा की आत्महत्याएँ अस्वाभाविक ही हैं। पात्रों की इस प्रकार की अस्वाभाविक परिणति के कारण ही तो इलाचन्द्र जोशी ने प्रेमचन्द पर 'मनोविज्ञान के कच्चे' होने का दोष लगाया था। अपने आदर्शों या

नैतिकता की रक्षा के लिए वे पात्रों को मनमाना मोड़ दे देते हैं, जैसे—'प्रेमाश्रम' में ही मायाशंकर एकदम रियासत छोड़ देता है, 'सेवासदन' में जेल से आने के बाद सुमन के पिता कृष्णचन्द्र का परिवर्तन, तथा 'कर्मभूमि' में सकीना, मुन्नी आदि के चरित्रों में अस्वाभाविक परिवर्तन ऐसे ही अखरने वाले हैं। ऐसे परिवर्तनों के मनोवैज्ञानिक कारण प्रेमचन्द अच्छी तरह नहीं दे पाये हैं। तथापि अपने अन्तिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' में वे इन दोषों का परिहार करने में सफल हुए हैं। 'गोदान' के होरी, धनिया, गोबर, झुनिया, मेहता, मालती, खुर्शेद आदि प्रायः सब पात्र प्रेमचन्द की अमर कला का नमूना हैं। इस दृष्टि से 'गोदान' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ रचना सिद्ध होती है। रंगभूमि में भी सब पात्रों की इतनी सजीव रेखाएँ नहीं हैं, जितनी 'गोदान' में हैं।

प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं। इसी से प्रेमचन्द की चरित्र-सृष्टि अधिकतर वर्गगत ही है। यह इतनी वर्गगत रही कि कई बार पात्रों का व्यक्तित्व सजीव नहीं हो पाया। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की उपर्युक्त कुछ कमियाँ बनी रहीं। चरित्र-चित्रण कई बार समस्याओं के नीचे भी दब जाता था।

परन्तु सन् 1936 के आसपास से कुछ रचनाएँ ऐसी आने लगी थीं, जिनमें चरित्र-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक, सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और स्वतन्त्र वैयक्तिक दिखाई दिया। जड़ व्यक्तित्व के स्थान पर प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों में गत्यात्मक सजीव व्यक्तित्व आया। 'गोदान' प्रेमचन्द-युग और उत्तर युग के बीच की कड़ी है। पहले उपन्यासों में प्रतिनिधि पात्र ही स्थान पाते थे, उनके चरित्र का वही रूप सामने आता था, जिससे उनके वर्ग की विशिष्टता स्पष्ट हो सके। पर अब मानव अपनी विचित्रताओं में प्रकट होने लगा। परम्परागत आदर्श या नैतिक मर्यादाओं का बँधा हुआ भय अब समाप्त हुआ। प्रेमचन्द और उनसे पहले के उपन्यासों में 'सुनीता' (1936 ई०) की तरह पर-पुरुष के सामने नारी के नंगा हो जाने की कल्पना भी कोई लेखक नहीं कर सकता था।

इस प्रकार सन् 1935-36 से हमारी उपन्यास-कला ने एक और पलटा खाया। हमारे उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता, यथार्थता, उदारता, और व्यापकता आती गई। पहले उपन्यासों के नायक प्रायः उच्च वर्ग के बुर्जुआ मनोवृत्ति के व्यक्ति ही होते थे, अथवा आदर्श के पुतले या लेखक के आदर्श से परिचालित होते थे। पर 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा, रचनाकाल 1934-35), 'गोदान', 'सुनीता' में दृष्टिभेद स्पष्ट है। हम कह सकते हैं कि 'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द की ऐसी रचना है जो चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास में एक नया मोड़ प्रस्तुत करती है।

कुछ उपन्यासों में यथार्थवाद के मोह से अतिशय दुश्चरित्र, हीन, व्यभिचारी पात्रों का भी चित्रण हुआ। परन्तु अब यह प्रवृत्ति काफी बदल चुकी है। बुरे-से-बुरे पात्र का चित्रण भी आज स्वस्थ यथार्थवादी प्रवृत्ति से किया जाता है। बुरे पात्रों के प्रति उनकी परिस्थिति का ख्याल करके, सहानुभूति की भावना भी लेखकों ने दिखाई। पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान की प्रधानता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। हिन्दी उपन्यासों में

चरित्र-चित्रण की कला का पूर्ण विकास सन् 1940-41 से खूब दिखाई देता है। व्यक्तिवादी चरित्र-सृष्टि का भी इसी समय समुचित विकास हुआ। इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' (1941), अज्ञेयजी का 'शेखर एक जीवनी' (1941-44), जैनेन्द्र जी के 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि उपन्यासों में चरित्र-चित्रण-कला का भव्य विकास लक्षित हुआ। पात्रों के मन की विचित्रताओं, असंगतियों को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रकट करने में हमारे उपन्यासकार पर्याप्त सफल हुए हैं। इनमें सारा कथानक चरित्रों द्वारा ही परिचालित होता है। आज के अधिकांश उपन्यासों में 'गोदान' की तरह कथा और चरित्र-चित्रण का सामंजस्य रहता है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास-कला चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अपनी आरम्भिक अवस्था को पार कर प्रौढ़ बन गई है। प्रेमचन्द का इसे प्रौढ़ता के सोपान पर ले जाने में विशेष हाथ है।

संवाद : आरम्भिक उपन्यासों में संवाद-कला भी अकला ही थी। संवाद अस्वाभाविक और कृत्रिम-से होते थे। साहसिक रचनाओं में कुछ परिस्थिति के अनुकूल सुन्दर, रोचक संवाद अवश्य मिलते हैं, पर उनमें भी बाह्य अंश अधिक है। प्रेमचन्द ने ही सुन्दर स्वाभाविक पात्र-परिस्थिति के अनुरूप कथोपकथन को जन्म दिया। हास्य-व्यंग्य तथा रोचकता भी उनके संवादों का गुण है। सामान्यत: प्रेमचन्द के संवाद संक्षिप्त और चटुल होते हैं, पर जहाँ-कहीं वे सैद्धांतिक वाद-विवाद प्रकट करने लगते हैं, वहाँ संवाद लम्बे-लम्बे भाषण-से हो जाते हैं। यह दोष कुछ हद तक उनके 'गोदान' में भी पाया जाता है। विचार-धाराओं के प्रकाशन का मोह हमारे आगे के उपन्यासकारों में भी इतना रहने लगा कि वे कथा की गति और रोचकता का ध्यान ही भूल बैठे। विश्वम्भर नाथ शर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा व विष्णु प्रभाकर-जैसे कुछ उपन्यासकारों ने अपने कथोपकथनों को संक्षिप्त रखने का प्रयास भी दिखाया है। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में संवाद-शैली का खूब प्रयोग किया है, और उनमें ढूंढ़े से ही शायद कोई लम्बा संवाद मिले। उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के समावेश से अब अस्वाभाविकता और कृत्रिमता का दोष तो प्राय: समाप्त हुआ, पर कुछ उपन्यासों में लम्बे विचार गाम्भीर्य से युक्त संवाद रचना को बोझिल बना देते हैं। फिर भी सामान्य रूप से हमारे उपन्यासों में पात्रों की अवस्था, परिस्थिति, बुद्धि-संस्कार आदि के अनुरूप, सुन्दर नाटकीयता से ओत-प्रोत, स्वाभाविक, सजीव, सार्थक एवं रोचक संवाद-शैली का पर्याप्त विकास हुआ है। प्रेमचन्द का इस विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

देशकाल-वातावरण—प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में इस तत्त्व की भी कमी ही रही। किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने जो स्कॉट के ढंग पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया, उनमें ऐतिहासिक वातावरण की सजीवता का ध्यान तो दूर, बहुधा वातावरण की हत्या कर दी जाती थी। तिलस्मी-ऐय्यारी के उपन्यासों में सब वातावरण कृत्रिम होता था। जीवन की वास्तविकता से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। पारिवारिक तथा कुछ सामाजिक उपन्यासों में ही पारिवारिक और सीमित सामाजिक वातावरण उतरा, पर उनमें भी इसकी सजीवता और विस्तार या व्यापकता का अभाव

ही रहा। सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी ने ही अपने 'सेवासदन' आदि सामाजिक उपन्यासों द्वारा समाज के व्यापक चित्रण के रूप में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों को सजीव रूप दिया। प्रेमचन्द का चित्रपट जितना व्यापक, विस्तृत और सजीव है, वह उन्हें विश्व के बड़े-बड़े—बालझाक, टालस्टाय—जैसे उपन्यासकारों के समकक्ष खड़ा करता है। शरत्, रविबाबू, के० एम० मुंशी-जैसे श्रेष्ठ भारतीय उपन्यासकारों का चित्रपट (canvas) भी इतना व्यापक नहीं, जितना प्रेमचन्द का। ग्राम-जीवन के चित्रण में तो प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। युग-धर्म की इतनी सजीवता प्रेमचन्द के उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यासों का दर्जा प्रदान करती है। निश्चय ही प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारतीय जीवन की कम-से-कम पचास वर्षों की सच्ची झाँकी प्राप्त होती है, जो इतिहास की पुस्तकों में शायद ढूंढ़े से भी नहीं मिलेगी।

वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों—'गढ़कुण्डार', 'कचनार', 'मृगनयनी' आदि में ऐतिहासिक वातावरण की सजीव सृष्टि की है। बुन्देलखण्ड और उसकी अतीत संस्कृति को उन्होंने अपने उपन्यासों में साकार कर दिखाया। हिन्दी में अनेक वातावरण-प्रधान उपन्यास लिखे गए हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में—जैसे, चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगरवधू', 'गोली' आदि, यशपाल की 'दिव्या', राहुलजी के 'सिंह सेनापति', 'सोने की ढाल', 'जय यौधेय' आदि, आनन्द प्रकाश जैन का 'कठपुतली के धागे' आदि उपन्यासों में वातावरण की पर्याप्त सजीवता है।

प्रेमचन्दोत्तर काल के कुछ सामाजिक उपन्यासों में अछूते चित्रण भी हुए हैं—जैसे, उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मछुओं का जीवन। हिन्दी में पिछले दो दशकों में आंचलिक उपन्यासों का प्रयोग भी हुआ है। ये उपन्यास भी वातावरण-प्रधान ही हैं। पूर्णिया-जिला (बिहार) के जीवन पर फणीश्वर रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' नामक दो उपन्यास निकाले। नटों के जीवन पर रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ', मछुओं के जीवन पर उदयशंकर भट्ट का उपर्युक्त उपन्यास तथा जिला दरभंगा (बिहार) के जीवन पर नागार्जुन के 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसर नाथ' भी आँचलिक उपन्यास कहे जाते हैं। इनमें भाषा का प्रयोग भी स्थानीय होता है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों में पात्रों के क्रिया-कलाप, रीतिरिवाज, वेशभूषा, संस्कार, प्रथाएँ, स्थान, प्राकृतिक दृश्य तथा भाषा-शैली आदि के द्वारा युगधर्म और वातावरण की सजीवता आई। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में बाह्य वातावरण बहुत कम होता है। इनमें केवल देशकाल की झाँकियों द्वारा सीमित वातावरण में पात्रों की लीला चलती है, जो अधिकतर अन्तर्संघर्षों से सम्बन्धित होती है। इन उपन्यासों में भी—चाहे संक्षिप्त झाँकियां हों—देशकाल-वातावरण की सजीवता अवश्य रहती है। हिन्दी उपन्यासों में सच्चा युगधर्म और सजीव वातावरण उत्पन्न करने में प्रेमचन्द अग्रणी हैं। उन्होंने ही सच्चे देशकाल-वातावरण की राह हिन्दी-लेखकों को दिखाई। उनके उपन्यास सच्चे वातावरण-प्रधान उपन्यास हैं। इस दृष्टि से उनका महत्त्व सर्वाधिक है।

उद्देश्य—पहले कहा जा चुका है कि आरम्भ में या तो केवल मनोरंजन ही उपन्यासों का उद्देश्य होता था या सुधारवादी प्रवृत्ति के प्रभाव से उपदेश या नैतिकता का उद्देश्य सामने रखकर उपन्यास लिखे गए थे। यह उद्देश्य इतना उभरा रहता था कि कला की स्वाभाविकता इससे ढंक जाती थी। प्रेमचन्दजी भी समाज-सुधार का उद्देश्य लेकर चले, किन्तु उन्होंने सामयिक समस्याओं पर इस ढंग से प्रकाश डाला कि कला की विशेष हानि न हो। वास्तव में प्रेमचन्द की महानता इस बात में नहीं है कि उन्होंने हमारी अनेक समस्याओं को दर्शाया, न ही इस बात में है कि उनकी रचनाओं में आदर्श या नैतिकता का सन्देश पाया जाता है। मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्द इसलिए महान् हैं कि उन्होंने हमारी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं को संवेदनात्मक रूप देकर प्रस्तुत किया; उन्होंने जीवन को काव्य-रस के रूप में प्रस्तुत किया। रस के नाम से चौंकने वाले आधुनिक आलोचकों को हम आगे दिखायेंगे कि प्रेमचन्द की महानता काव्य-रस को उदात्त बनाने में ही है। उनके उपन्यासों में जीवन रस-रसायन में घुलकर प्रस्तुत हुआ है। प्रेमचन्द का भाव और रस लोक कितना व्यापक है, कितना उदात्त और गम्भीर है! उनकी रचनाएँ इसी रस-भाव तत्त्व के गुण के कारण प्रसिद्ध हैं न कि जीवन के विवेचन के कारण, जो कार्य एक नीतिशास्त्री या समाज-शास्त्री भली प्रकार कर सकता था। जहाँ-जहाँ स्वयं प्रेमचन्द ने कोरे सुधारवाद या जीवनवाद का चोला पहनना चाहा है, वहाँ उन्हें भी मुँह की खानी पड़ी है।

'गोदान'-पूर्व के उपन्यासों में, आचार्य शुक्लजी के शब्दों में कहें, "वे उपदेशक और समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़" कर आते प्रतीत होते हैं। उन पर गांधीवादी युग के सुधारवाद, समझौते और हृदय-परिवर्तन का एक गुलाबी पर्दा-सा पड़ा हुआ था। इसी कारण उनके 'गोदान' से पूर्व के उपन्यास किसी-न-किसी 'सदन' अथवा आश्रम या सुधार के काल्पनिक आदर्शवाद में परिणति पाते हैं। 'सेवा-सदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन', 'प्रतिज्ञा' आदि सभी उपन्यासों में वे यथार्थ से आरम्भ करके किसी-न-किसी आश्रम-संस्थापन, समझौता या हृदय-परिवर्तन, आदर्श ग्राम-जीवन आदि के आदर्शवाद में अन्त दिखाते हैं। इससे एक बना-बनाया निश्चित हल या अन्त उनके इन उपन्यासों को पूर्ण विश्वसनीय नहीं रहने देता। कलागत त्रुटि भी कथानक और पात्रों के मनमाने परिवर्तन से उत्पन्न हो गई है। फिर भी प्रेमचन्द की ये सुखद कल्पनाएँ निष्क्रिय (utopia) नहीं कही जा सकतीं। ये चाहे समस्याओं के पूरे हल न हों, पर एक साहित्यकार की संभावनाओं और सदिच्छाओं के परे की वस्तु नहीं हैं। अतः बहुत भारी असंगति इसे नहीं कह सकते।

कला-सम्बन्धी इन कुछ त्रुटियों के बावजूद भी प्रेमचन्द के उपन्यास भारतीय प्रगति के अग्रदूत हैं। उन्होंने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया। उन्होंने ही सर्वप्रथम समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं और समाज के कुरूप को स्पष्ट रूप में दिखाकर हमारी सामाजिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। वे बहुत बड़े भारतीय प्रगतिशील लेखक हुए हैं। जिस समय हिन्दी लेखक इधर-उधर भटक

रहे थे, प्रेमचन्द के प्रयत्न से उपन्यास साहित्य यथार्थ मानव-जीवन के उन्नयन का कार्य कर रहा था।

प्रेमचन्द के 'गोदान' में स्वस्थ यथार्थवाद के दर्शन हुए। पर कुछ लेखकों ने यथार्थवाद के नाम पर समाज के अति प्राकृत वीभत्स चित्रों को नंगा करना आरम्भ कर दिया। पांडेय बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन आदि ने समाज का ज्यों-का-त्यों फोटो प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था। 'दिल्ली का दलाल', 'व्यभिचार के अड्डे' आदि रचनाएँ ऐसी ही थीं। उद्देश्य इनका भी सामाजिक है, किन्तु इस प्रकार के नग्न यौन-विकार के चित्रों से पाठकों का मानसिक स्खलन होता है, स्वस्थ प्रतिक्रिया दब जाती है। सामाजिक उद्देश्य का एक अन्य रूप प्रेमचन्दोत्तर काल में साम्यवादी विचारधाराओं से प्रभावित उपन्यासों में दिखाई दिया। इनमें भी समाज का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करके सर्वहारा वर्ग की उन्नति-कामना तथा पूँजीवादियों का नैतिक पतन दिखाने, परम्परागत पूँजीवादी-सामन्तवादी शोषक-शक्तियों को मृत्युदण्ड देने का प्रयत्न पाया जाता है। मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रचार भी इनमें दिखाई देता है, जिसके कारण कला को हानि पहुँचती है।

हिन्दी उपन्यासों की सामाजिक मनोभूमि—हमारे उपन्यासों में सामाजिक चेतना और सामाजिक समस्याओं और जीवन-मूल्यों के अध्ययन में उत्तरोत्तर बड़ा परिवर्तन हुआ है। प्रेमचन्द से पूर्व के पारिवारिक और सामाजिक उपन्यासकारों में समाज की विकृतियों, अत्याचारों और बुरी परम्पराओं का खुल्लमखुल्ला विरोध करने का साहस कम ही था। पाप-पुण्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म के प्रति उनकी परम्परागत बंधी बंधाई धारणाएँ थीं। समस्याओं को गहरे में पकड़ने तथा समाज की जड़ों में घुसी कुरीतियों को कुरेदने की दृष्टि ही उनमें न आ पाई थी। प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र में व्यापक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया। प्रेमचन्द ने समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं को अत्यन्त मानवीय सहानुभूति के साथ दर्शाया। किन्तु उन्होंने भी व्यक्ति को समाज-सापेक्ष ही स्वीकार किया; व्यक्ति का समाज के साथ खुल्लमखुल्ला संघर्ष विद्रोह वे अच्छी तरह नहीं दिखा सके। प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों में ही व्यक्ति को समाज के पंजे में मुक्त कराने की भावना का विकास हुआ। प्रेमचन्द, प्रसाद (कङ्काल में) आदि ने भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं का खोखलापन दिखाकर प्रचलित सामाजिक धारणाओं और उनके प्रति जमे हुए विश्वासों पर जबरदस्त आघात तो किया था, पर यह आघात आघात ही रहा। इससे नए मूल्यों और नई नैतिकता की स्थापना का मार्ग नहीं खुला।

सर्वप्रथम भगवती बाबू के 'चित्रलेखा' में सामाजिक परम्परा को नया रूप मिला। उन्होंने पाप-पुण्य के सम्बन्ध में नई धारणा प्रकट की। व्यक्ति को समाज के बंधे आदर्शों से स्वतन्त्र होने की प्रेरणा दी। जीवन के नये नैतिक मूल्यों की स्थापना समाज की परिस्थितियों की बजाय व्यक्ति की ही परिस्थितियों के आधार पर करने का प्रयास हुआ। इसी से परम्परागत सर्वथा बाह्य नैतिकता के स्थान पर, व्यक्ति के महत्त्व के

कारण, सामाजिक मूल्यों में मनोवैज्ञानिक नैतिकता का प्रवेश हुआ। हिन्दी उपन्यासों में यह दिशान्तर प्रेमचन्द के पश्चात् स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। प्रेमचन्द-युग में वेश्या-समस्या तो थी, वेश्या के प्रति लेखक के मन में सहानुभूति भी थी, किन्तु सदनों की स्थापना में ही उसका हल दृष्टिगोचर होता था। उसे समाज में घुलाने-मिलाने—शादी-ब्याह करा कर समाज में रखने की दृष्टि नहीं थी। अब दृष्टिकोण बदला। परम्परागत नैतिक बन्धन ढीला हुआ। अब वेश्या के साथ—सुमन-जैसी पवित्र देश्या के साथ नहीं, अपितु घोर नारकीय जीवन बिताने वाली से—शादी कराने वाले को समादृत किया जाने लगा। प्रेमचन्द-युग में यदि शादी की बात होती भी, तो केवल सुमन-जैसी से, उन्हें पवित्र रखकर ही।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना उत्तरोत्तर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की परिचायक हुई। व्यक्ति के आचरणों की अच्छाई-बुराई की परख परम्परागत नैतिकता के स्थान पर व्यक्ति की ही परिस्थितियों के आधार पर नवीन मूल्यों के प्रकाश में की जाने लगी। इससे हिन्दी उपन्यास की भावधारा अन्तर्मुखी होती गई। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय आदि ने व्यक्ति का ही अध्ययन आरम्भ कर दिया। व्यक्ति और मानवता का कल्याण व्यक्ति के ही अतल में दबी हुई मलिनता के परिशोधन और संस्करण में समझा जाने लगा।

इसके विपरीत, मार्क्सवादी दृष्टि रखने वाले उपन्यासकारों ने व्यक्ति के स्थान पर सामूहिकता को मुक्त करके, नये सामाजिक विधान में व्यक्ति को नवसमाज का अङ्ग बनाया गया। इस रूप में हिन्दी उपन्यास की मनोभूमि का क्रमिक विकास संकुचित पारिवारिक-सामाजिक घेरे से अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और व्यापक सामाजिक और उसमें भी आगे विश्वमानवतावादी प्रगति के सोपान पर पहुँचने का परिचायक है। व्यक्तिवादी उपन्यासों की वैयक्तिकता में भी मानवतावादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। हमारे उपन्यासकार अधिकाधिक उदार संस्कृति के पोषक होते गए हैं।

आरम्भिक उपन्यासों में भावों का अत्यन्त सीमित प्रकाशन होता था। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' में ही सर्वप्रथम मानवीय संवेदनाओं का व्यापक और उदात्त रूप दृष्टि-गोचर हुआ। प्रेमचन्द के उपन्यासों का 'बीज भाव' घृणा ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में वीभत्स रस अपने विस्तृत उदात्त रूप में प्रकट हुआ है। जीवन की बुराइयों तथा दुष्ट, अत्याचारी, व्यभिचारी और भ्रष्टाचारी पात्रों के प्रति हमारी तीव्र घृणा, करुणा, हास्य, वात्सल्य, साहस-उत्साह आदि सभी प्रकार के उदात्त भाव रस की चरम स्थिति को पहुँचे हैं। उनकी सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि वे इन मानवीय संवेदनाओं का सफल चित्रण कर पाये हैं। जीवन की समस्याओं को उन्होंने भाव-संवेदनाओं में डुबोकर ही प्रस्तुत किया है। इसी से उनके उपन्यासों में रस-परिपाक पूर्ण सफलता से हुआ है, जो उपन्यासों की सरसता का रहस्य है। हिन्दी उप-न्यासों में शृङ्गार रस के अतिरिक्त बीभत्स रस का भी बहुत व्यापक और सुन्दर प्रकाशन हुआ है, सामाजिक बुराइयों को हमारे लेखकों ने खोल कर रख दिया है। बीभत्स रस

के अनेक आलम्बन प्रस्तुत हुए हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रगतिवादी उपन्यासों में पूंजीपति, सामन्त और अन्य बुर्जुआ मनोवृत्ति के लोग तथा उनके अत्याचार और अमानुषीय कार्य हमारी घृणा के आलम्बन बने हैं। अन्य सामाजिक रचनाओं में भी बीभत्स रस का प्रसार अनेक सामाजिक एवं वैयक्तिक बुराइयों के प्रकाशन में प्रकट हुआ है। जिन उपन्यासों में भाव-संवेदनाओं का समुचित प्रकाशन नहीं हो पाया है, वे सफल उपन्यास नहीं माने जाते। हिन्दी के सभी प्रसिद्ध उपन्यासों—जैसे, प्रेमचन्द के उपन्यास, वृन्दावनलाल वर्मा के 'कचनार', 'गढ़ कुंढार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी' आदि, जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' आदि, इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी' आदि—में भावों और रसों का व्यापक, गहन एवं उदात्त प्रकाशन ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है।

हिन्दी उपन्यासों में **भाषा-शैली** की दृष्टि से भी विकास की अनेक मंजिलें दिखाई देती हैं। आरम्भिक उपन्यासों में भाषा-शैली का भी सुष्ठु रूप नहीं मिलता। कथा-साहित्य की कोई एक आदर्श भाषा-शैली निश्चित नहीं हो पाई थी। कुछ उपन्यासों में जैसे—जैनेन्द्र किशोर की 'कमलिनी' आदि तथा देवीप्रसाद वर्मा के 'सुन्दर-सरोजिनी' (सन् 1893) आदि में संस्कृत-गर्भित अस्वाभाविक भाषा का प्रयोग हुआ है। घटना-प्रधान तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों में सीधी-सादी भाषा का प्रयोग हुआ, पर उनकी उर्दू की शैली और शब्दावली हिन्दी में ठीक तरह घुल-मिल कर प्रकट नहीं हुई। प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम उर्दू की विशेषताओं को हिन्दी की प्रकृति में ढालकर हिन्दी भाषा को स्वाभाविकता, सजीवता, सरलता, प्रवाहात्मकता, मुहावरे-बन्दी और चुस्ती प्रदान की। उन्होंने भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति को खूब बढ़ाया। प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य के लिए एक आदर्श भाषा-शैली का निर्माण किया। कितने ही लेखकों ने आज तक मामूली व्यक्तिगत भिन्नता के साथ प्रेमचन्द की ही शैली को अपनाया हुआ है। प्रसादजी ने भी अपने उपन्यासों में नाटकों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह तथा उग्र जी आदि ने कुछ आलंकारिक, चित्रात्मक व्यंजना-प्रधान भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है। रांगेय राघव, निराला, गुरुदत्त आदि के उपन्यासों में सुन्दर जन-भाषा का प्यारा रूप मिलता है। जैनेन्द्र की भाषा में बातचीत का-सा मजा आता है। इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय की भाषा प्रौढ़ साहित्यिक तत्सम-बहुला भाषा होती है। वर्णनात्मक, हास्य-व्यंग्यात्मक आदि अनेक शैलियों का सुन्दर विकास हमारे उपन्यासों में हुआ है।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों के संक्षिप्त शिल्प-विकास के अध्ययन से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रत्येक तत्त्व की दृष्टि से इस विकास-क्रम में प्रेमचन्द का अद्भुत योग है। वे हमारे उपन्यास साहित्य को कला की प्रौढ़ता के सोपान पर ले जाने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं। वह हिन्दी के ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्यकार हैं। उन्होंने हमारे कथा-साहित्य को नया जीवनवादी मोड़ प्रदान किया। कथा-

साहित्य को ही नहीं, उनकी प्रगतिशील दृष्टि का प्रभाव साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ा। साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि का समावेश हुआ। समूचे हिन्दी साहित्य ने ही करवट बदल ली। जन-जीवन पर जितना अधिक प्रभाव आधुनिक काल में प्रेमचन्द की रचनाओं का पड़ा है, उतना शायद ही किसी एक अन्य भारतीय साहित्यकार का पड़ा हो। निश्चय ही रविबाबू, शरत्, मुंशी आदि श्रेष्ठतम भारतीय कलाकारों की तुलना में भी, इस दृष्टि से, प्रेमचन्द्र भारी बैठते हैं।

3

उपन्यासों का कोटिक्रम

साहित्य की इस विधा (उपन्यास) का इतना नाना-विध विकास हो चुका है, और हो रहा है कि इसका समुचित वर्गीकरण एक कठिन समस्या ही है। भिन्न-भिन्न दृष्टि से उपन्यासों के भिन्न-भिन्न रूप हैं। अत: अध्ययन की सुविधा के लिए हम चार प्रकार से उपन्यासों के रंग-रूप, उनकी भिन्न-भिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकते हैं—1. रचना-तत्त्वों की दृष्टि से, 2. वर्ण्य विषय की दृष्टि से, 3. वर्णन-शैली की दृष्टि से, और 4. यथार्थ और आदर्श के आधार पर।

1. **रचना तत्त्वों की दृष्टि से** : यद्यपि उपन्यास में कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, भाव-रस, उद्देश्य, देश-काल वातावरण आदि सब तत्त्व सामान्यत: रहते ही हैं किन्तु तो भी कई उपन्यासों में कथानक या घटना, अथवा चरित्र-चित्रण, या देशकाल-वातावरण अथवा उद्देश्य या भाव-रस आदि किसी एक तत्त्व की प्रधानता दिखाई देती है। अत: तत्त्व-विशेष की प्रधानता के आधार पर उपन्यासों की कोटियाँ इस प्रकार होती हैं—(क) कथानक या घटना-प्रधान उपन्यास, (ख) चरित्र-प्रधान उपन्यास, (ग) घटना-चरित्र-समन्वित उपन्यास, (घ) देशकाल-वातावरण-प्रधान उपन्यास, (ड.) उद्देश्य-प्रधान उपन्यास।

(क) **कथानक-प्रधान उपन्यास**—जिन रचनाओं में कथानक और घटनाओं का आयोजन इस प्रकार होता है कि पाठक घटनाओं के वैचित्र्य और आकस्मिकता तथा तज्जन्य उत्सुकता व कौतूहल में ही लीन रहता है, उन्हें कथानक या घटना-प्रधान उपन्यास कहते हैं। हिन्दी में आरम्भिक युग में ऐसे उपन्यास अनेकों लिखे गये। हिन्दी के तिलस्मी-जासूसी एवं साहसिक उपन्यास अंग्रेजी के जासूसी एवं साहसिक उपन्यासों के स्तर तक नहीं पहुँच सके। रूसी लेखक दस्तायवस्की का 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' (Crime and Punishment) भी जासूसी उपन्यास है, किंतु उसमें मानवता का भाव-रस जिस खूबी से घोला गया है, वह दृष्टि हिन्दी-लेखकों में कम ही है।

प्रेमचन्दजी के 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'कायाकल्प' आदि गोदान-पूर्व के कुछ आरम्भिक उपन्यासों में भी कुछ कथानक की प्रधानता पाई जाती है। फिर भी उनमें

चरित्र-चित्रण का प्रयास रहा ही है। कथा-चरित्र की सापेक्षता प्रेमचन्द के 'गोदान' में सर्वाधिक है। प्रेमचन्द के 'गोदान' में घटना-चरित्र-वातावरण आदि सब तत्त्वों का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत हुआ है।

(ख) **चरित्र-प्रधान उपन्यास**—जिन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की विशेषता प्रमुख रहती है और लेखक का उद्देश्य आदि से अन्त तक चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक घात-प्रतिघात को प्रकट करके चरित्र की विचित्रताओं का प्रकाशन ही रहता है, उन्हें चरित्र-प्रधान उपन्यास कहा जाता है। घटना-प्रधान उपन्यासों में घटनाएँ महत्त्व पाती हैं, और वे ही पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके चरित्रों की कुछ रेखाएँ प्रकट करती है, पात्रों की चारित्रिक विशिष्टता से घटनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। इसके विपरीत, चरित्र-प्रधान उपन्यासों में चरित्र-चित्रण महत्त्व पाता है और पात्र ही परिस्थितियों और कथानक का निर्माण करते हैं। कथा-संकोच, अन्तर्द्वन्द्व, मनोविज्ञान की प्रधानता, पात्रों की भीड़ का अभाव, व्यक्ति-वैचित्र्य आदि चरित्र-प्रधान उपन्यासों की सामान्य विशेषताएँ होती हैं। इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास ही हैं।

(ग) तात्त्विक दृष्टि से तीसरे प्रकार के उपन्यास होते हैं **घटना-चरित्र-सापेक्ष सामंजस्यपूर्ण**। इनमें कथा और चरित्र-चित्रण दोनों का समान महत्त्व रहता है। कथा चरित्रों पर प्रकाश डालती है और चरित्र कथा को विकसित करते हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' इस कोटि का सुन्दर उदाहरण है। उनके 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन', 'कर्मभूमि', प्रेमाश्रम', तथा 'रंगभूमि' भी इसी कोटि में आते हैं। 'गोदान' में आकर तो प्रेमचन्दजी ने कथानक और चरित्र-चित्रण का अद्भूत सुन्दर संयोग प्रस्तुत किया है। हिन्दी में ऐसे सामञ्जस्यपूर्ण उपन्यास प्रचुर मात्रा में लिखे गये हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, रांगेयराघव, भगवतीचरण वर्मा, विष्णुप्रभाकर आदि के कुछ सुन्दर उपन्यास तथा इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' घटना-चरित्र-समन्वित रचनाएँ हैं।

(घ) **वातावरण-प्रधान उपन्यासों** में देशकाल-वातावरण का सजीव चित्रण रहता है और तत्सम्बन्धी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक आदि परिस्थितियाँ, लोगों के रीति-रिवाज, खान-पान, घर-स्थान आदि का सजीव चित्रण करना लेखक का उद्देश्य रहता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण की सजीवता और भी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में बुन्देलखण्ड का वातावरण सजीव हो उठा है। लेखक का उद्देश्य भी अतीत संस्कृति को, तात्कालिक जीवन को प्रकाशित करके उसमें से कुछ मणियाँ चुनने का रहा है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास ही वातावरण-प्रधान हो, ऐसी बात नहीं। सामाजिक उपन्यास भी वातावरण प्रधान हो सकते हैं, होते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में वातावरण अत्यन्त सजीव रहता है। वातावरण-प्रधान उपन्यासों में ऐतिहासिक सत्य का पुट रहता ही है। उनमें चाहे पात्रों के नाम और घटनाएँ सत्य न हों, सांस्कृतिक वातावरण के रूप में उनका ऐतिहासिक

महत्त्व रहता है। प्रेमचन्द के उपन्यास यद्यपि कल्पित कथानकों पर ही आधारित हैं, किंतु उनमें कम-से-कम पिछले पचास वर्षों के भारतीय जीवन का जो यथार्थ चित्रण है, वह बड़ी-बड़ी इतिहास की पुस्तकों में भी नहीं मिल सकता। अतः उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब दिन बना रहेगा। ऐतिहासिक उपन्यास भी दो तरह के होते हैं—एक शुद्ध ऐतिहासिक अर्थात् जिनमें घटना तथा पात्रों की सत्यता रहती है, दूसरे वे जिनमें केवल वातावरण की सत्यता रहती है—जैसे, वृन्दावनलाल वर्मा का 'विराटा की पद्मिनी'। कहना न होगा कि प्रेमचन्द के उपन्यास सैकड़ों वर्षों के पश्चात् भी इस दूसरी कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास माने जायेंगे।

हिन्दी में पिछले बीस वर्षों में आंचलिक उपन्यासों का भी प्रचलन हुआ है। ये उपन्यास शुद्ध वातावरण-प्रधान हैं। इनमें जनपदीय संस्कृति, भाषा-बोली, रीति-नीति, खान-पान, व्यवहार तथा अन्य सब परिस्थितियों का सजीव चित्रण रहता है। 'मैला-आँचल'-जैसे उपन्यासों में तो एक तरह थैकरे के 'वैनेटी फेयर' (Vainity-Fair) की तरह समाज ही हीरो बना हुआ है।

(ङ) हिन्दी में **भाव-प्रधान उपन्यासों** की संख्या गिनती की है। वास्तव में उपन्यास का कलेश्वर बड़ा होने से इसमें भावुकता का इतना विस्तार अस्वाभाविक ही हो जाता है। भाव-प्रधानता के साथ उपन्यास-कला का सहज विकास सम्भव नहीं है। आरम्भ में ब्रजनन्दन सहाय आदि के जो दो-चार उपन्यास मिलते हैं, वे अस्वाभाविकता के दोष से युक्त ही हैं। आगे भाव-प्रधान उपन्यास विशेष नहीं लिखे गए। वैसे उपन्यास में भावों और रसों की सृष्टि रहती ही है। प्रसादजी का 'तितली' सुन्दर भाव-पूर्ण उपन्यास है। भाव-प्रधान उपन्यासों का एक रूप पिछले वर्षों में हास्य-प्रधान उपन्यासों का विकसित हुआ है। निरालाजी के 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'कुल्ली भाट' सामाजिक व्यंग्य-प्रधान उपन्यास हैं। इसी प्रकार द्वारकाप्रसाद का 'गुनाह-बेलज्जत', अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेलाल' आदि हास्य-रस के उपन्यास हैं। परन्तु भाव-प्रधान उपन्यासों की जो एक विशेषता भावात्मक शैली होती है, वह इनमें नहीं है। अतः इन्हें भी सच्चे अर्थों में भाव-प्रधान उपन्यास नहीं कह सकते। सच तो यह है कि उपन्यास में भावुकता का दूर तक समावेश होना कठिन ही है।

(च) उद्देश्य को प्रमुखता देकर भी उपन्यास लिखे जाते हैं। पर उनमें कला का ह्रास अवश्यम्भावी है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में उपदेश और सुधार का उद्देश्य स्पष्ट रहने के कारण कलात्मकता का अभाव रहा है। वैसे तो प्रत्येक रचना सोद्देश्य लिखी जाती है, पर जब उद्देश्य की प्रधानता हो जाती है—उद्देश्य रस का सहारा लेकर प्रकट नहीं होता—तो औपन्यासिक आनन्द को हानि पहुँचती है। हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी उपन्यासों में बीच-बीच में उद्देश्य अलग-सा उभर आ पड़ता है, जिसके कारण सरसता में कमी आ जाती है। 'बाबा बटेसरनाथ' जैसी रचनाओं को तो उद्देश्य-प्रधान ही कहा जा सकता है। गुरुदत्त के अधिकांश उपन्यासों में उद्देश्य कथारस या भावरस में घुलकर ही प्रकट हुआ है, फिर भी कहीं-कहीं जहाँ वह अलग-सा उभर गया है, वहीं

उपन्यास की रोचकता बिगड़ गई है। फिर भी उनके उपन्यासों को उद्देश्य-प्रधान नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उद्देश्य प्रायः कथारस या भाव-संवेदनाओं का रूप लेकर ही प्रकट हुआ है। कहीं-कहीं किसी उपन्यास में किसी एक-आध स्थान पर इस बात का अपवाद भले हो, अन्यथा प्रेमचन्द का उद्देश्य प्रच्छन्न (कला का रूप बना) ही प्रकट हुआ है। 'गोदान' में तो उद्देश्य सर्वथा सरस और महान् है।

2. **वर्ण्य-विषय की दृष्टि से** उपन्यास की कोई सीमा नहीं। धार्मिक-पौराणिक विषयों पर भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं, यद्यपि हिन्दी में पं० गौरीशंकर मिश्र के 'बलिदान का मन्दिर' (1941 ई०) और 'जयदेव' (1942 ई०) आदि एक-दो अप्रौढ़ धार्मिक उपन्यास ही लिखे गए हैं। सामाजिक विषयों पर ही अधिक उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार पारिवारिक विषय पर पारिवारिक उपन्यास, वैयक्तिक समस्याओं से सम्बन्धित वैयक्तिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक, जासूसी, साहसिक आदि अनेक विषयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के उपन्यास लिखे गए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास सामाजिक हैं, क्योंकि उनमें समाज की विविध समस्याओं का सजीव चित्रण हुआ है। यद्यपि 'कर्मभूमि' आदि में कुछ राजनैतिक पुट भी आ गया है, पर प्रेमचन्द के किसी उपन्यास को राजनैतिक नहीं कहा जा सकता।

3. **उपन्यासों का वर्गीकरण शैली की दृष्टि से** भी किया जाता है। हिन्दी उपन्यासों में अनेक शैलियों का विकास हुआ है।

(क) **वर्णन-विवरणात्मक शैली**—शुद्ध वर्णनात्मक शैली का प्रयोग हिन्दी के आरम्भिक तिलस्मी, जासूसी, ऐय्यारी के घटनाप्रधान उपन्यासों में हुआ। तब सारी कहानी लेखक के वर्णन और घटना-विवरण के रूप में ही प्रकट की जाती थी। संवाद-शैली का प्रयोग भी थोड़ा होता था और विश्लेषण की भी आवश्यकता नहीं होती थी। वस्तु-चित्रण या वृत्त-विवरण सब लेखक या उसके नायक कथाकार के अधीन रहता था।

(ख) **वर्णन-विश्लेषणात्मक शैली**—आरम्भिक उपन्यासों के बाद हमारे उपन्यासों में कोरा वर्णन या विवरण ही नहीं रहा, जीवन की व्याख्या भी प्रस्तुत की जाने लगी। प्रेमचन्द के 'वरदान', 'कायाकल्प' में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग अधिक रहा है। किन्तु 'सेवासदन' से 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द जीवन के पूर्ण व्याख्याता बन गये। अतः उनकी अन्य सब रचनाओं में वर्णन-विश्लेषणात्मक शैली का ही प्रयोग हुआ है। वे घटनाओं और वस्तु का विवरण और चित्रण करने के साथ-साथ जीवन की व्याख्या या विश्लेषण भी प्रस्तुत करते जाते हैं। 'गोदान' में इस समन्वित शैली का चरम-उत्कर्ष पाया जाता है। यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गुरुदत्त आदि की रचनाओं में भी इसी शैली का प्रयोग हुआ है।

(ग) **विश्लेषणात्मक शैली**—प्रेमचन्दोत्तर काल के हमारे कुछ उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक गूढ़ता आई। अतः वर्णन-प्रधान शैली के स्थान पर विश्लेषण-प्रधान शैली की आवश्यकता प्रतीत हुई। इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और जैनेन्द्र ने विशेष रूप से इसी

शैली को अपनाया। जोशीजी के सभी उपन्यास विश्लेषण-प्रधान शैली में लिखे गये हैं। इनमें घटनाओं का वर्णन मामूली होता है, पर पात्रों की मनःस्थितियों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा परिस्थितियों का विश्लेषण अधिक रहता है।

(घ) **संवाद-प्रधान शैली** —पहले भी कहा चुका कि आरम्भ में कुछ उपन्यास पारसी नाटक मण्डलियों के प्रभाव से नाटकीय शैली में भी लिखे गये थे, जैसे—रामलाल का 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' (सन् 1913), नयनगोपाल का 'उर्वशी' (1925 ई०) आदि। बाद में यह शैली कुछ वर्णन-शैली को साथ लेकर चली। वृन्दावनलाल वर्मा के कुछ उपन्यासों में वर्णनयुक्त संवाद-प्रधान शैली के ही दर्शन होते हैं। उनका 'कचनार' इसका सुन्दर उदाहरण है; उसकी समस्त कथा-सामग्री मुख्यतः छोटे-छोटे सुन्दर संवादों के रूप में प्रकट हुई है।

कथा कहने के ढंग भी बहुत होते हैं। एक है इतिहासकार की भाँति द्रष्टारूप में कथा कहने का ढंग। इस प्रणाली में लेखक स्वयं सब प्रकार के वर्णन, विवरण और विश्लेषण देता है। यह प्रणाली अपेक्षाकृत सरल होती है। प्रेमचन्द के सब उपन्यास इसी शैली में लिखे गये हैं। कथा-पद्धति का दूसरा रूप है **आत्म-कथात्मक पद्धति**। इसमें एक या एकाधिक पात्र अपनी कथा 'मैं' शैली में प्रस्तुत करते हैं। इस शैली का सफल निर्वाह लेखक से सर्तकता चाहता है। इससे कथा और भी विश्वसनीय बन जाती है। लेखक बीच में नहीं आता। जैनेन्द्र के 'सुखदा', 'व्यतीत', अज्ञेय का 'शेखर', जोशीजी के 'संन्यासी', 'जिप्सी' आदि में एक प्रमुख पात्र अपनी कथा कहता चलता है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' में एकाधिक पात्र अपनी-अपनी परस्पर सम्बद्ध कहानी कहते हैं। मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान उपन्यासों में इस शैली का विशेष प्रयोग हुआ है।

तीसरी शैली है—**पत्र-शैली**। इसका अधिक प्रचलन हिन्दी में नहीं हुआ। वैसे भी इस शैली में कथा, चरित्र-चित्रण आदि उपन्यास-कला के अंग अधूरे ही रह जाते हैं। बेचन शर्मा उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूत', प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त' का उपन्यास 'पाप और पुण्य' (1930 ई०) इसी शैली की रचनाएँ हैं।

चौथी प्रणाली है **दैनन्दिनी (डायरी) शैली**। यह भी आत्मकथा शैली का ही एक रूप है, क्योंकि डायरी लिखने वाला 'मैं' शैली ही अपनाता है। हिन्दी में यह शैली भी विशेष प्रचलित नहीं हुई। कुछ उपन्यासों में—जैसे, इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' (घृणामयी) और 'निर्वासित' में—पात्रों की डायरी से काम लिया गया है, पर उनकी शैली समग्रतः डायरी शैली नहीं है। इस शैली में 'शोणिततर्पण', प्रमोद बंसल-रचित 'अधूरा चित्र' आदि कुछ ही उपन्यास लिखे गये हैं। प्रेमचन्द ने पत्र-डायरी आदि शैली-रूप नहीं अपनाए।

इसके अतिरिक्त कथा और भी अनेक रूपों में प्रस्तुत की जाती है। कुछ उपन्यासों में असम्बद्ध घटनाओं के रूप में कथा प्रकट की जाती है; घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता; विभिन्न व्यक्तियों या सामाजिक वर्गों से सम्बन्धित जीवन अलग-अलग

कल्याणी रेग्मी स्मारक पुस्तकालय

झाँकियों के रूप में प्रकट किया जाता है। या तो ये विभिन्न झाँकियाँ एक नायक के कारण अलग-अलग जुड़ी रहती हैं या एक ही उद्देश्य से सम्बन्ध रखती हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में यह ढंग बहुत सुन्दर रूप में अपनाया गया है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन की झाँकियों को एक नायक द्वारा दर्शाया गया है। एक और ढंग पात्रों के आधार पर कथा-शैली के प्रयोग का होता है। इसमें लेखक दो-तीन पात्रों को लेता है, और बारी-बारी उनकी कथा प्रकट करता हुआ अन्त में किसी एक परिस्थिति में उनको मिला देता है। इस प्रकार की कथा उपसंहार में सम्बद्ध हो जाती है। राजा राधिकारमण का 'राम रहीम' इसका सुन्दर उदाहरण है।

असम्बद्ध घटनाओं की उपर्युक्त शैली से मिलती-जुलती विभिन्न कहानियों के रूप में उपन्यास लिखने की पद्धति भी हिन्दी में पिछले कुछ वर्षों से प्रचलित हुई है। हिन्दी में यह एक बड़े साहस का प्रयोग है। विश्व-साहित्य में भी इस शैली का प्रयोग विशेष नहीं हुआ। श्री धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का 'बहती गंगा' इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। इनमें परस्पर स्वतन्त्र कहानियों में कौशल के साथ सम्बन्ध-सूत्र जोड़ दिया जाता है। 'बहती गंगा' में काशी की दो सौ वर्षों की जीवनधारा को सत्रह तरंगों में प्रकट किया गया है। लेखक का कथन है—"ये तरंग हैं एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतंत्र, परन्तु धारा और तरंग-न्याय से आपस में बंधी हुई।"

समय-विपर्यय (Time-shift) पद्धति का भी कुछ उपन्यास की घटनाओं के प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रयोग हुआ है। इसमें कालक्रम के अनुसार क्रमिक रूप में कथा-प्रसंग और घटनाएँ प्रस्तुत नहीं की जातीं। जोशीजी के 'पर्दे की रानी' में पहले निरंजना के होस्टल प्रवेश की कथा प्रस्तुत की गई है, फिर अगले प्रकरण में उसकी पूर्वकथा पर प्रकाश डाला गया है। जैनेन्द्र की 'कल्याणी' समय-विपर्यय का सुन्दर उदाहरण प्रकट करती है।

कुछ उपन्यास चेतना-प्रवाह पद्धति पर भी लिखे गये हैं। हिन्दी में यद्यपि जेम्स ज्वायस के 'यूलिसिस', वर्जिनिया वुल्फ के 'लाइट हाऊस' जैसा चेतना-प्रवाह नहीं मिलता, तो भी अज्ञेय, प्रभाकर माचवे आदि ने इसका कुछ प्रयोग किया है। माचवेजी का उपन्यास 'परन्तु' इस पद्धति का अच्छा आभास देता है।

इस प्रकार वर्णन-शैली की दृष्टि से कथा-शिल्प में हमारे उपन्यासकारों ने अनेकानेक प्रयोग किए हैं। कहना न होगा कि प्रेमचन्द ने इस दिशा में कोई प्रयोग नहीं किया। उनके उपन्यासों में कथा का सीधा-सादा रूप ही पाया जाता है। उसी को उन्होंने रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। कथा में रोचकता का गुण होना ही उपन्यास की पहली शर्त होती है, प्रयोग-चमत्कार दिखाना नहीं। अतः प्रेमचन्द के सामने यही उद्देश्य था। प्रयोगों के लिए उनके पास समय नहीं था, न उन्हें आवश्यकता ही थी। जीवानुभूतियों की इतनी विपुल रोचक सामग्री उनके पास थी कि उसे चाहे जिस ढंग से प्रस्तुत कर देते, प्रभाव उत्पन्न किये बिना न रहती। अतः कथा-शिल्प के प्रयोगों के बिना भी

उनके कथानक प्रयोगवादियों से अधिक सफल हैं।

4 यथार्थ और आदर्श की दृष्टि से कुछ रचनाएँ अति यथार्थवाद के रूप में लिखी गई हैं, जैसे उग्रजी तथा ऋषभचरण जैन आदि के कुछ उपन्यास। आरम्भ में कुछ आदर्शवादी रचनाएँ भी हुईं। किन्तु प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य में यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य प्रस्तुत करके एक स्वस्थ राह दिखाई। उनका 'सेवासदन' इस दिशा में नया मोड़ था। 'गोदान' ने स्वस्थ यथार्थवाद की ओर और भी उत्तम नया मोड़ प्रस्तुत किया। आजकल इसी स्वस्थ यथार्थवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही अपनाना उचित समझा जाता है। यशपाल, गोविन्दवल्लभ पन्त, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि सबमें जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ देनेवाला यथार्थवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पाया जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यास सामाजिक यथार्थवाद के सच्चे निर्देशक हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से हिन्दी उपन्यास की भिन्न-भिन्न कोटियाँ और प्रेमचन्द के उपन्यासों का कोटिक्रम स्पष्ट हुआ होगा। उपन्यास की शिल्प-टेकनीक समझने की दृष्टि से भी यह प्रकरण उपयोगी रहा होगा, ऐसी आशा है। प्रेमचन्द के उपन्यास ऐतिहासिक वर्णन-विश्लेषणात्मक शैली में रचे गए घटना-चरित्र-वातावरण-समन्वित आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास हैं।

4

औपन्यासिक चेतना का क्रमिक विकास

गोदान-पूर्व के उपन्यास

प्रेमचन्द की पहली रचना (अप्राप्य) के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि मामू के घटना-प्रसंग को उन्होंने किस प्रकार प्रहसन का रूप दिया। इससे ही उनकी समाज-सापेक्ष दृष्टि का पता चल जाता है। हिन्दी में 'सेवासदन' के प्रकाशन से पूर्व प्रेमचन्द उर्दू में कई उपन्यास और कहानियां लिख चुके थे। इनमें 'रूठी रानी', 'इसरारे मुआबिद' (1898 ई०), 'प्रतापचन्द्र', 'श्यामा' (1901 ई०), 'वरदान' (1902 ई०), 'प्रेमा', 'कृष्णा' (1902 ई०), 'हम खुर्मा व हम सवाब' (1904 ई०) और 'प्रतिज्ञा' (1906ई०) नामक उपन्यासों का पता चलता है। 'रूठी रानी' ऐतिहासिक आधार पर लिखा गया है। इसमें अतीत इतिहास की हमारी बुराइयों को प्रकट करते हुए, राजपूतों की आपसी फूट और ईर्ष्या, बहु-विवाह की खराबियाँ, राजदरबारों के द्वेष-भरे षड्यन्त्र, सामन्तीय व्यवस्था में नारी की शोचनीय दशा आदि पर प्रकाश डाला गया है। प्रेमचन्द नारी की शोचनीय दशा के प्रति आरम्भ से ही संवेदनशील रहे हैं। उन्होंने कहा है—"बेटी बिन सींगों की गाय है। माता-पिता उसकी रक्षा करते हैं और जिसके पल्ले चाहें, बाँध देते हैं।"

'प्रतापचन्द्र' और 'वरदान' एक ही रचना के दो रूप हैं तथा 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमा' और 'हम खुर्मा व हम सवाब' भी एक ही विषय की अलग-अलग रचनाएँ हैं। अन्तिम अप्रकाशित रही और अब अप्राप्य है। इसी प्रकार सम्भवतः 'श्यामा' और 'कृष्णा' भी एक ही रचना के दो नाम प्रचलित हो गए होंगे। ये दोनों भी अप्राप्य हैं।

'वरदान' (1902 ई०) की कहानी असफल प्रेम की कहानी है। पर प्रेमचन्द इसमें विफल प्रेमी प्रताप के प्रेम का उदात्तीकरण करके उसे समाज-सेवी बना देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द आरम्भ से ही समाज-सेवा का आदर्श अपना कर चले हैं। इस रचना में हमारी परम्परागत वैवाहिक पद्धति के दोष को प्रकट किया गया है। प्रताप गरीब लड़का है, बिरजन अमीर घराने की है। बालपन के साहचर्य से विकसित दोनों का स्वाभाविक प्रेम समाज की दीवार से टकरा कर रह जाता है। अमीर की

लड़की का विवाह गरीब से कैसे हो सकता है ? दोनों छटपटाते रह जाते हैं। शरतचंद्र के 'देवदास' जैसी करुण परिस्थिति इसमें पाई जाती है। पर जहां प्रेमचंद देवदास की तरह प्रताप को निकम्मा और शराबी न बनाकर देशसेवी बनाने का प्रशंसनीय कार्य हाथ में लेते हैं, वहां वह कला को भली प्रकार निभा नहीं सके। इसी से 'देवदास' की तुलना में यह रचना बहुत हल्की प्रतीत होती है।

यह रचना संयोग तथा घटनाओं पर आधारित एक साधारण रचना है। आरम्भिक रचना का हल्का होना कोई हीनता की बात नहीं। इसमें कथा शिथिल है, चरित्र-चित्रण की कमी है और कई अस्वाभाविक परिस्थितियाँ पाई जाती हैं। विवाहोपरान्त बिरजन की मानसिक स्थिति को प्रेमचन्द मनोवैज्ञानिक ढंग पर प्रकट नहीं कर सके। वह एक साथ ही कमलाचरण (अपने पति) और प्रताप दोनों से प्रेम जताती प्रतीत होती है। प्रताप के वियोग में वह बीमार हो जाती है और उसके आने पर ही अच्छी होती है। किन्तु इसी के साथ यह भी दिखाया गया है कि बिरजन कमला के प्रति भी प्रेमपूर्ण हृदय रखती है। यह स्थिति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण ही है।

इस दोष का मुख्य कारण है प्रेमचन्द की आदर्शवादी दृष्टि। वास्तव में प्रेमचंद एक ओर तो बिरजन को कमला के प्रति अपना धर्म निभाने का परम्परागत आदर्श पालने का आग्रह रखकर चले हैं, दूसरी ओर प्रताप के चरित्र को ऊंचा रखने के मोह में भी भटक गए हैं। इसीसे दोनों के चरित्रों में अस्वाभाविकता-सी आ गई है। प्रताप के संबंध में दिखाया गया है कि वह पाँच-सात मिनट माधवी से बात होते ही कहने लगता है कि यदि तुमने मेरे लिए योगिनी बनना स्वीकार कर लिया है तो मैं भी तुम्हारे लिये इस संन्यास और वैराग्य (अब वह बालाजी नाम से वीतरागी बना हुआ है) को त्याग सकता हूँ। किन्तु बाद में वह पीछे हट जाता है। कमला के मरने पर प्रताप और बिरजन का मिलाप भी इसी आदर्श के हेतु नहीं कराया गया। इस प्रकार प्रेमचन्द की आदर्शवादिता इसमें परिहास बनकर रह गई है। यहाँ आदर्श यथार्थ के लिए भटक रहा है। सामाजिक परिवेश भी इस रचना में बहुत सीमित है। फिर भी इस रचना के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद के पास समाज की बुराइयों और विकृतियों के बारे में कहने को बहुत कुछ है, पर वह कथारस और भाव-रस में डुबाकर अभी उन बातों को कह नहीं पा रहे हैं। इसीसे कोरा उल्लेख कर रहे हैं। बिरजन के पत्रों तथा अन्य स्थलों पर ये सीधे उल्लेख देखे जा सकते हैं। बिरजन एक पत्र में लिखती है—"क्या सुनती थी और क्या देखती हूं ! टूटे-फूटे फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-कर्कट के बड़े-बड़े ढेर, ये दृश्य देखकर जी चाहता है कि कहीं चली जाऊं ! मनुष्यों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा हैं। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।" इसी प्रकार अन्य पत्रों में गवई गाँवों की बुरी हालत, महाजनों के शोषण, साहूकारों, जमींदारों के अत्याचारों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्रतापचन्द्र नीची जाति के लोगों में बैठता है,

उनसे सहानुभूति प्रकट करता है। कहीं प्रेमचन्द रिश्वतखोर थानेदार की काली करतूतों का उल्लेख करते हैं, कहीं अंग्रेज कलक्टर से मिलने के लिए जाने वाले डिप्टी श्यामाचरण को अपमानित अनुभव कराके भारतीयों का आत्म-गौरव जगाने की कोशिश की गई है।

इस प्रकार प्रेमचन्द के पास सामाजिक सामग्री बहुत दिखाई देती है पर वह यहां उसे कथा-रस के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। सब कथन ऊपरी उल्लेख-से हो गए हैं। वह इन्हें कथा-रस और भाव-संवेदनाओं में गूंथने की राह ढूंढ रहे हैं जो उन्हें 'सेवासदन' आदि अगले उपन्यासों में मिल गई।

प्रतिज्ञा (1906 ई०)

'वरदान' की अपेक्षा प्रतिज्ञा एक सुलझी हुई सुन्दर रचना है। इसमें विधवा नारी की समस्या है। इसका भी सामाजिक परिवेश सीमित ही है। इसमें प्रेमचन्द अस्वाभाविकता के दोष से बहुत-कुछ बच गए हैं। इस उपन्यास का सम्बन्ध प्रेमचन्द के व्यक्तिगत जीवन से भी है। इस समय प्रेमचन्द विधवा-समस्या पर विचार-मग्न थे। इसीका परिणाम है कि सन् 1905 में उन्होंने शिवरानी देवी नामक एक विधवा से विवाह करके अपने गार्हस्थ्य को सुखी बनाया। ऐसा लगता है कि अपने उपन्यास की एक बहुत बड़ी यथार्थ कमी को उन्होंने जीवन की इस घटना से पूरा किया है। वह इस प्रकार की 'प्रतिज्ञा' में विधवा पूर्णा कहीं ठिकाना न पाकर, कमलाप्रसाद के आश्रय को भी कलुषित जानकर, अमृतराय के विधवाश्रम में चली जाती है। पूर्णा विधवा है और समझदार है। उसका विवेक पुनर्विवाह के पक्ष में है। अमृतराय दुहाजू है और उसका संकल्प है कि विधवा से ही शादी करेगा। ऐसी अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करके भी प्रेमचन्द ने पूर्णा और अमृतराय को नहीं मिलाया। समाज के सामने इस प्रकार का साहसपूर्ण हल प्रस्तुत करते हुए भी प्रेमचन्द केवल संकेतों तक रह गए। शायद उनका आदर्शवाद आड़े आ गया वह इसे यथार्थ रूप देने का साहस नहीं दिखा सके।

कला की दृष्टि से यह रचना 'वरदान' से एक कदम आगे है। इसमें पूर्णा और कमलाप्रसाद के मानसिक संघर्षों का अच्छा चित्रण हुआ है, यद्यपि प्रेमचन्द का मनोविज्ञान यहाँ भी सामाजिक ऊपरी है ; अर्थात् पात्रों की मनोवृत्तियों से वे उतना ही सरोकार रखते हैं, जितने से सामाजिक पहलुओं पर प्रकाश पड़ सके। पात्रों के वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व से उन्हें कोई मतलब नहीं। यही कारण है कि अमृतराय, सुमित्रा, दीनानाथ आदि का चरित्र-चित्रण विशेष सजीव नहीं बन सका। उपन्यास की कथा यद्यपि 'वरदान' से अधिक सुलझी हुई है, तथापि 'निर्मला'-जैसी सुगठित एवं रोचक नहीं है।

सेवासदन (सन् 1916)

प्रेमचन्द के 'सेवासदन' ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में नई चेतना, नया शिल्प, नई दृष्टि—सब प्रकार से नया मोड़ उपस्थित किया। सर्वप्रथम इस रचना में सामाजिक समस्याओं का व्यापक और गहरा अध्ययन प्रकट हुआ। इसमें ही सर्वप्रथम समाज का

कंकाल पूरी तरह दिखाई दिया। इसमें प्रेमचन्द का मुख्य ध्यान वेश्या-समस्या पर रहा। पर उसके साथ उसकी कारणभूत तथा अन्य अनेक बुराइयों का पर्दाफाश किया गया है। समाज की किन बुराइयों से हमारी सुमन-जैसी कुल-कन्याएँ वेश्याएँ बनती हैं, यह अत्यन्त सजीवता और मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रकट किया गया है। किस प्रकार समाज की एक बुराई दूसरी को जन्म देती है और इस प्रकार सामाजिक बुराइयों का घटाटोप जीवन को अवरुद्ध कर देता है, यह प्रेमचन्द ने अच्छी तरह दर्शाया है।

सुमन एक अच्छे कुल की कन्या है, जो माता-पिता के लाड़-प्यार में पली है। उसके पिता दारोगा कृष्णचन्द पुलिस इन्सपेक्टर हैं—बड़े ईमानदार, सज्जन पुरुष, जो एक पैसा रिश्वत नहीं लेते और इसी से अपने विभाग के सभी पुलिस कर्मचारियों, अफसरों और मातहतों की नजरों में खटकते हैं। प्रेमचन्द ने यहां पुलिस के भ्रष्टाचार पर अच्छा प्रकाश डाला है। पुलिस विभाग का माहौल ही ऐसा है कि इसमें रिश्वत न लेने वाला ईमानदार आदमी सुख से नहीं रह सकता। दारोगा कृष्णचन्द अपनी प्यारी पुत्री के लिए वर की तलाश करते हैं। जहां-कहीं योग्य वर देखते हैं, दहेज की भारी माँग होती है। दहेज कहाँ से दें? उन्होंने तो कभी एक पैसा भी रिश्वत का नहीं लिया। समस्या उपस्थित हो जाती है। अब उन्हें पछतावा होता है। ऐसे समाज में साधु बने रहने से क्या लाभ? वह चाहते तो अब तक लाखों रुपया रिश्वत से जमा कर सकते थे। दहेज की समस्या उन्हें अब रिश्वत लेने को तैयार करती है। समाज की एक बुराई दूसरी को जन्म देती है। रिश्वत लेने का अवसर भी तुरन्त उपस्थित हो जाता है क्योंकि समाज में चोरों, डाकुओं, शोषकों और अन्यायियों की कमी नहीं है। इन सबसे रिश्वतें उड़ाने के अवसर पुलिस वालों को हरदम प्राप्त रहते हैं।

यहाँ प्रेमचन्द ने महन्त रामदास के प्रसंग-द्वारा धर्म के ढोंग और सामन्तीय शोषण का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। महन्त रामदास बाँकेबिहारी के नाम पर गरीबों का शोषण करता है। उसके पास अखाड़े की भूमि है। आसामी खेती करते हैं। वह मुफ्त की खाता है; वह गरीब असामियों का शोषण करता है। मुफ्त की कमाई से उसने कई मुसटंडे पाल रखे हैं, जिनसे गरीब किसानों को भयभीत रखता है। 30 प्रतिशत सूद खाता है। बाँकेबिहारी के नाम पर पीटने, जेल भिजवाने, बेदखल कराने, यहाँ तक कि नरक भिजवा देने का रौब भी उसके पास है। वह जबरदस्ती चंदा वसूल करता है और बेचारे चेतू अहीर को, न दे सकने के कारण विरोध करने पर, इतना पिटवाता है कि बेचारा तड़प-तड़प कर मर जाता है। दारोगा कृष्णचन्द को अवसर मिल जाता है। वह महन्त से तीस हजार रुपया रिश्वत लेकर मामले को रफा-दफा कर देते हैं। प्रेमचन्द की दृष्टि समाज की सभी बुराइयों पर सूक्ष्मता से जाने लगी है। दारोगा ने रुपये स्वयं हजम करने चाहे। अपने सिपाहियों को कुछ न दिया। महन्त का कारिन्दा जो दारोगा कृष्णचन्द को रुपयों की थैली देता है, अपनी बखशीस या दलाली चाहता है। पर इस मामले में अनभ्यस्त दारोगा किसी को हिस्सा नहीं बाँटता। अतः शिकायत हो जाती है और छापा लगने पर दारोगा के घर से रिश्वत के रुपये बरामद हो जाते हैं। दारोगा को सजा हो जाती है।

इन परिस्थितियों में सुमन का विवाह एक अधेड़ उमर के दुहाजू से ही होता है, क्योंकि अच्छा वर पाने के लिए गंगाजली (सुमन की माता) दहेज देने में असमर्थ थी। फूल-सी कन्या एक निर्धन, कुरूप, अधेड़ दुहाजू व्यक्ति के साथ बाँध दी जाती है।

प्रेमचन्द ने सुमन की उन मनोवैज्ञानिक, पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है, जिनके कारण उसे दालमण्डी का कोठा सजाना पड़ता है। घर में दरिद्रता के कारण उसकी इच्छाएँ बुझी-बुझी रहती हैं। उसके द्वार के सामने गली-मुहल्ले के शोहदे और चंचल युवक चक्कर लगाने लगते हैं। वह सबसे बचती है। जीवन की विषम परिस्थितियों से समझौता करना चाहती है। पर पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ उसके पवित्र संस्कारों को झकझोरती जाती हैं। उसके भारतीय कुल-कन्या के संस्कारों पर विकृत सामाजिक परिस्थितियों की पे-दर-पे चोट पड़ती है। उसके घर के सामने ही भोलीबाई नामक एक वेश्या का मकान है। वह उसके ठाठ देखती है। पर उसे वेश्या से घृणा है। उसका संस्कार कहता है कि गरीब होते हुए भी वह वेश्या से बहुत ऊँची है। पर एक दिन जब वह देखती है कि वेश्या के यहाँ मुजरे में शहर के सभी धनीमानी लोग आये हैं और यहाँ तक कि उसका पति भी सम्मिलित हुआ है, तो उसका मन शंका से भर जाता है। उसका पति उससे कहता है कि जो धनी लोग वेश्या के यहाँ आये थे, वे धनी होने से ही अच्छे आदमी नहीं कहे जा सकते। वह पति की बात मान लेती है। परन्तु जब वह भगवान के मन्दिर में भी वेश्या का सम्मान देखती है और पार्क में बेंच पर बैठने के कारण चौकीदार उसका अपमान करता है और भोलीबाई को सलाम करता है तो वह उत्तेजित हो जाती है। उसके स्वाभिमान को एक ठोकर और लगती है। जब पद्मसिंह शर्मा-जैसे सज्जन वकील भी अपने यहाँ वेश्या भोलीबाई का मुजरा कराते हैं तो उसका आत्मविश्वास टूक-टूक हो जाता है। वह सोचती है कि वेश्या का इतना सम्मान ! क्या भोलीबाई से वह रूप में कम है ? क्या वह गाना-बजाना सीखकर वैसा सम्मान नहीं पा सकती ?

उधर उसका पति संशय से भरा रहता है। अधेड़ व्यक्ति अपनी सुन्दर पत्नी के बारे में सहज ही संशयालु हो जाता है। उस रात जब वह अपनी सखी सुभद्रा के घर से बारह बजे लौटती है तो पति डण्डे मारकर उसे घर से बाहर निकाल देता है। यह चरम स्थिति है। सुमन भी सोचती है कि आखिर उसका क्या दोष है जो उसका पति इस प्रकार का व्यवहार करता है ? वह कौन से गहने गढ़वा कर लाता है ? कहाँ के कपड़े पहनाता और पकवान खिलाता है कि इस प्रकार रौब जताये ? जब घर के द्वार उसके लिए बन्द हो जाते हैं तो वह अनिश्चित भविष्य के आगे पाँव बढ़ाती है। भोलीबाई स्थिति को ताड़ जाती है। वह सुमन को बुलाती है। अपने पास वेश्या का जीवन बिताने के लिए रखना चाहती है। प्रेमचंद ने यहाँ फिर उसके कुल-कन्या के संस्कारों की प्रबलता दिखाई है। वह भोलीबाई के पास न रहकर, एक अलग कोठरी में रहने लगती है, सिलाई आदि काम-धन्धा करके अपना निर्वाह करना चाहती है। पर वाह रे समाज ! तू कब किसी असहाय अबला को सुरक्षित छोड़ता है ? शोहदे और गुण्डे सुमन का जीना मुश्किल

कर देते हैं। आखिर उसे भोलीबाई की शरण लेनी पड़ती है और गान-विद्या, संगीत आदि सीखकर दालमण्डी का कोठा सजाना पड़ता है ।

प्रेमचंद ने समाज के बीभत्स रूप का बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में किया है। हम पहले कह चुके हैं, प्रेमचंद के उपन्यासों का बीजभाव घृणा है। 'सेवासदन' बीभत्स रस-प्रधान उपन्यास है। सामाजिक कुरीतियों, बुराइयों तथा तत्सम्बन्धी बुरे व्यक्तियों के प्रति हमारी घृणा इसमें स्थान-स्थान पर जागृत होती है। दहेज, वेश्या-गमन, रिश्वतखोरी, पुलिस वालों के हथकण्डे, धार्मिक ढोंग और शोषण, अमीर लोगों की विलास-भावना, संकुचित दृष्टि, विवाह-शादी में वेश्या के नाच-गान आदि पर अत्यधिक खर्च, झूठी कुल-मर्यादा के लिए बारात वापिस लौटाना (शान्ता के विवाह-प्रसंग पर), नारी के एक बार पंक में फँस जाने पर उसे सदा कलंकिनी मानने की मनोवृत्ति, जाति-पाँति के बन्धन, छूआछूत आदि अनेक सामाजिक बुराइयों को प्रेमचन्द ने बीभत्स रस के रूप में प्रस्तुत किया है। इन सब समस्याओं को कथारस और भावरस (बीभत्स रस) में गूंथ कर प्रकट किया गया है, यही इस रचना की सबसे बड़ी शक्ति है ।

वेश्या-समस्या के सम्बन्ध में यहाँ प्रेमचन्द अपने युग से आगे दृष्टिपात नहीं कर सके हैं। उन्होंने वेश्या समस्या का हल वेश्याओं को नगर से दूर बसाने और उनके सुधार के रूप में ही ढूंढा है। यद्यपि वह यह संकेत भी देते हैं कि धन या धनी लोग ही इन वेश्याओं को पालते हैं। पर इस समस्या का आर्थिक पहलू वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं। फिर भी हमारी कुल-कन्याओं के वेश्या बनने में सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों को उत्तरदायी ठहराने में वह पूरी तरह सफल हुए हैं। साथ ही वेश्याओं—विशेष रूप से वेश्याओं की सन्तानों—के लिए नारी-सदन की स्थापना भी एक महत्वपूर्ण सुझाव कहा जा सकता है। प्रेमचन्द की रचना साफ शब्दों में पुकार रही है कि समाज का यह कुरूप बदलो, तभी कल्याण सम्भव है।

इस रचना में सुमन और पद्मसिंह शर्मा—इन दो पात्रों का चरित्र-चित्रण जितनी सफलता से प्रकट हुआ है, वह प्रेमचन्द को संसार का महान् उपन्यासकार कहने के लिये पर्याप्त है। इनके अतिरिक्त सदन, शान्ता, बिट्ठलदास, गंगाजली, सुभद्रा आदि पात्रों का चरित्र भी पर्याप्त सजीव है। दारोगा कृष्णचन्द के चरित्र-परिवर्तन के पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण प्रेमचन्द नहीं प्रकट कर सके। इसी प्रकार गजानन्द के चरित्र का अन्तिम अंश भी बहुत-कुछ हवाई हो गया है ।

कथा-शिल्प में भी प्रेमचन्द को अद्भुत सफलता मिली है। यद्यपि इस रचना में भी म्यूनिसिपल कमेटी के सदस्यों का अत्यधिक वाद-विवाद आदि प्रसंग भरती के-से हो गये हैं और कथा के स्वाभाविक विकास-क्रम और रस में बाधा पहुँचाते हैं, तथापि यह दोष बहुत अखरने वाला नहीं।

प्रेमचन्द ने इसमें भी समाप्ति आदर्शवाद में ही की है, पर वह आदर्शवाद कोरा काल्पनिक अनहोना आदर्शवाद नहीं है। कुल मिलाकर 'सेवासदन' प्रेमचन्द का आगे

की भी कई रचनाओं से श्रेष्ठ उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में तो वह युग-प्रवर्त्तन-कारी रचना है ही।

प्रेमाश्रम (सन् 1922)

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द सर्वप्रथम गवईं गाँव की ओर उन्मुख हुए। हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, अपितु सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम इसी रचना में जमींदार और किसानों के संघर्ष का खुलकर चित्रण हुआ। इस दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' 'गोदान' की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें शोषक और शोषित का संघर्ष 'गोदान' से किसी प्रकार कम नहीं है। अन्तर यही है कि 'प्रेमाश्रम' में जमींदार (ज्ञानशंकर) की कथा प्रमुख है, किसानों की परिस्थितियाँ और कथाप्रसंग इससे सम्बन्धित हैं, जबकि 'गोदान' में किसान (होरी) की प्रथा प्रमुख है और जमींदार आदि की परिस्थितियाँ और कथा-प्रसंग उसके सम्बन्ध से प्रकट हुए हैं। यही कारण है कि ग्राम-जीवन की वैसी मर्मान्तिक तड़पन 'प्रेमाश्रम' में प्रकट नहीं हो सकी जो 'गोदान' में है। पर यह मानना पड़ेगा कि 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द अपने युग से आगे हैं। 1920-21 ई० में जबकि यह उपन्यास लिखा गया था, देश में ग्राम-आन्दोलन या किसान-आन्दोलन विशेष प्रचलित नहीं हुए थे। काँग्रेस द्वारा सन् 1928 से पहले किसी किसान-आन्दोलन का संगठन नहीं हुआ था। देश में साम्य-वादियों के मोर्चे भी बाद में जमने शुरू हुए। प्रेमचन्द को गाँधीजी का मानस-पुत्र कहा जाता है। पर मैं समझता हूँ कि 'प्रेमाश्रम' में जहाँ प्रेमशंकर की अवतारणा गाँधीजी के प्रभाव से हुई है, वहाँ जमींदार-किसान के संघर्ष की रूपरेखा प्रेमचन्द की अपनी मौलिक दृष्टि-सृष्टि है।

आरम्भ में ही किसान के मन का विद्रोह प्रकट किया गया है। जब जमींदार का आदमी 10 छटाँक के बाजार-भाव की बजाय, जबरदस्ती रुपये सेर के हिसाब से घी के दाम देता है और मनोहर के विरोध करने पर कहता है—"जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म के बाहर नहीं जा सकते।" तो मनोहर स्पष्ट शब्दों में कहता है—"जमीन कोई खैरात में जोतते हैं? उसका लगान देते हैं। एक किश्त भी बाकी पड़ जाए तो नालिश होती है।···न कारिन्दा कोई काटू है, न जमींदार कोई हौआ है। यहाँ कोई दबैल नहीं है। जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें।"

मनोहर का बेटा बलराज नई पीढ़ी का और भी उग्र नवयुवक है। वह मरने-मारने तक की चुनौती देता है। प्रेमचन्द ने कृषक-संघर्ष का यह स्रोत रूस-बलगेरिया की क्रान्तियों से प्राप्त किया है। उस युग में कोई किसान रूसी क्रान्ति की बात करके भारत में कृषक-मजदूर के राज्य की आकांक्षा शायद ही प्रकट कर सका हो। यह स्थिति लगभग सन् 1930 के पहले सम्भव नहीं लगती। तो भी प्रेमचन्द ने आगामी युग की आहट लेते हुए बलराज से कहलाया है—"तुम लोग तो मेरी हँसी उड़ाते हो, मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं, वह जमींदार की बेगार ही करने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आया है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते

हैं, करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।" और वह बड़ी पीढ़ी के लोगों से साफ-साफ कह देता है कि तुम सहते रहे, हम नहीं सह सकते—"क्यों न बोलूँ, तुम तो दो-चार दिन के मेहमान हो, जो कुछ पड़ेगी वह तो हमारी ही सिर पड़ेगी। जमींदार कोई बादशाह नहीं हैं कि चाहे जितनी जबरदस्ती करें और हम मुँह न खोलें। इस जमाने में तो बादशाहों का भी इतना अख्तियार नहीं, जमींदार किस गिनती में हैं।"

निश्चय ही बलराज का यह रूप-स्वरूप प्रेमचन्द की ही मानस-सृष्टि है। यह अपने युग से आगे की झलक है। सच तो यह है कि 'गोदान' में भी प्रेमचन्द विद्रोह का ऐसा तना हुआ उग्र रूप नहीं दिखा सके।

इतने पर भी कहना पड़ता है कि प्रेमचन्द इस संघर्ष के हल के लिए गाँधीजी की ओर ही देखते हैं, यद्यपि उन्होंने कहलवाया है कि "सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध हुआ" परन्तु हृदय-परिवर्तन, समझौता, अहिंसात्मक क्रान्ति, सत्याग्रह आदि साधनों से ही उनका आदर्श पात्र प्रेमशंकर संघर्ष करता है और प्रेमचन्द की सुखद कल्पना से विजयी होता है। क्योंकि अन्त तक आते-आते सबका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। मायाशंकर अपनी रियासत छोड़ देता है। किसानों में उसे बाँट दिया जाता है, अभियुक्त छूट जाते हैं। इर्फानअली, इजादहुसैन, ज्वालासिंह, डॉ० प्रेमनाथ आदि सबका मन अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण ग्लानि से भर जाता है, सबका परिवर्तन हो जाता है। लखनपुर एक आदर्श ग्राम बन जाता है। निश्चय ही प्रेमचन्द का यह आदर्शवाद गाँधीयुग की एक सुखद कल्पना थी, जो न अपने युग की वास्तविकता थी, और न आगामी युग की। यह आदर्शवादी अन्त प्रेमचन्द का एक सामान्य ढंग ही बन गया। प्रेमचन्द की सभी रचनाओं में बहुत-से दुष्ट पात्र अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए अपनी सदाशयता को खोजते प्रतीत होते हैं। 'गोदान' में आदर्शवादी परिणति न होते हुए भी पात्रों के चरित्र-चित्रण में यह आदर्शवादी परिवर्तन अवश्य पाया जाता है। मातादीन, मालती, खन्ना आदि के चरित्रों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। 'प्रेमाश्रम' में तो यह बहुत ही अधिक है। उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त गायत्री, श्रद्धा आदि और यहाँ तक कि स्वयं ज्ञानशंकर पछताते प्रतीत होते हैं।

इस रचना में प्रेमचन्द का सामाजिक अध्ययन 'सेवासदन' से बढ़ा-चढ़ा ही है। इसमें मुख्य चित्रण जमींदार का ही है और उद्देश्य है जमींदारी-पद्धति के दुष्परिणाम प्रकट करना। प्रेमचन्द जमींदारी के सभी पहलुओं—प्रभाव, ऐश्वर्य, शोषण, अन्याय, अधिकार-लिप्सा, विलास-लोलुपता आदि—पर प्रकाश डालते हुए अन्त में इस पद्धति को मृत्यु-दण्ड देते हैं।

'प्रेमाश्रम' में जमींदार के सभी रूपों पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कम-से-कम चार रूप स्पष्ट हैं। एक रूप है प्राचीन जटाशंकर का, जिसमें बौद्धिक युग की चतुराई के स्थान पर सामन्तीय जमींदार की दया और उदारता थी। जटाशंकर मर चुके

थे। उनके समय की बात ही और थी। "तब साल दो साल की देन-बाकी पड़ जाती थी, मुदा मालिक कभी कुड़की, बेदखली नहीं कराते थे···लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी, चारा और पच्चीस रुपया बंधा हुआ था।···जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे, तो रैयत भी हँसी-खुशी उनकी बेगार करती थी। अब वह बात तो गई।" जमींदार का जीवन भी सरल ही था। न उसे डालियाँ देनी होती थीं, न किसी अफसर की खुशामद करनी पड़ती थी। उसकी आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। अत: असामियों पर अत्याचार करने की जरूरत नहीं थी।

अब रह गये हैं प्रभाशंकर, जिनका न प्रभाव है, न हाथों में शक्ति है, न धन। किन्तु जो पुरानी शान रखना चाहते हैं। असामियों पर अत्याचार ढाना उन्हें पसंद नहीं है। अधिक दौड़-धूप नहीं कर सकते। नये बौद्धिक वातावरण से उनका मेल नहीं खाता। नई पीढ़ी के ज्ञानशंकर ने उनकी बोलती बन्द कर दी है। यह दूसरे प्रकार के जमींदार का रूप है। पहले जमींदार अपनी स्वाभाविक मौत मर गये थे, ये जीवित होते भी प्रभावहीन, संघर्षहीन, जड़ बने हुए हैं। ये अपनी परम्परा में बँधे हुए हैं और नई पूँजीवादी या बुद्धिवादी जमींदारी से दूर हैं।

प्रेमचन्दजी ने तीसरे प्रकार के जमींदार का विस्तृत चित्रण किया है। यह है ज्ञानशंकर। वह बौद्धिक-भौतिक युग का जमींदार है और वैज्ञानिक ढंग से शोषण करता है। वह नई परिस्थितियों के अनुसार सोच-समझकर अपने स्वार्थों की रक्षा करता है; दौड़-धूप मचाता है। पुलिस और हाकिमों में अपना रसूख बनाता है। रिश्वत, डालियाँ देता है। ठाट-बाट रचता है। वह नैतिक दृष्टि से बहुत खोखला है। विलासी है, पर साथ ही पूरा अधिकार-लोलुप। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हर तरह का स्वांग रचने वाला है। यह जमींदार पूरा हृदयहीन जमींदार है। अपने असामियों पर अत्याचार ढाते जरा भी नहीं हिचकता। इसके पतन की विस्तृत कहानी ही 'प्रेमाश्रम' का मुख्य उपजीव्य है। प्रेमचन्द ने अन्त में इस जमींदार को भी हताश दशा में मृत्युदण्ड के लिए बाध्य किया है। उसका बेटा मायाशंकर ही उससे मुँह मोड़ लेता है। जिसके लिए उसने अपना ईमान खोया, अनेक हेर-फेर और कुकर्म किये, वही उससे अलग हो जाता है।

मायाशंकर चौथा रूप है, जो बदलती हुई परिस्थितियों को समझ लेता है। जिसने गाँधीवाद या समाजवाद से समझौता करने में ही अपना तथा कृषक-वर्ग का कल्याण समझ लिया है। वह स्वेच्छा से अपनी रियासत किसानों को दे देता है और नाम पाता है। प्रेमचन्द जमींदारों का ऐसा ही हृदय-परिवर्तन चाहते हैं।

'प्रेमाश्रम' में जमींदार के एक और रूप का उल्लेख किये बिना बात अधूरी रह जायगी। यह पाँचवाँ रूप है राय कमलानन्द का। यह विचारों की दृष्टि से 'गोदान' के रायसाहब अमरपालसिंह की तरह एकदम समझदार और प्रगतिशील हैं। राय कमलानंद और 'गोदान' के रायसाहब में अद्‌भुत साम्य है। राय कमलानन्द अपने वर्ग के दोषों की वैसी ही स्वीकारोक्ति करते हैं जैसी 'गोदान' के रायसाहब अमरपालसिंह। शोषक ज्ञानशंकर से वह स्पष्ट कहते हैं कि इस रियासत पर मेरा क्या अधिकार है? यह मेरे

पिताजी को अंग्रेजों की सहायता के बदले में मिली थी। मैंने अपने परिश्रम से प्राप्त नहीं की। "हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गये हैं इसी दलाली के लिए हम एक-दूसरे के खून से अपने हाथ रँगते हैं।"···"जमींदार के हाथों किसानों की बड़ी दुर्दशा होती है। मैं स्वयं इस विषय में सर्वथा निर्दोष नहीं हूँ। डाँड, बाँध भी लेता हूँ। बेदखली या एजाफा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता, असामियों पर अपना रौब जमाने के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करता हूँ।"

इसी जमींदारी को बुरा समझते हुए भी राय कमलानन्द इसे छोड़ नहीं सकते, यही तो विडम्बना है। इस प्रथा के ढाँचे से निकलना उनके लिए मुश्किल है। वह स्वयं कहते हैं—"तुम कहोगे, यह सब कोरी बकवाद है। रियासत इतनी बुरी चीज है तो उसे छोड़ क्यों नहीं देते। हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया है। हम अब किसी काम के नहीं रहे।"

यह जमींदार सारी राजनैतिक और राष्ट्रीय स्थिति को समझता-गुनता है। अपने वर्ग की कुप्रवृत्तियों को अच्छी तरह जानता है और उनकी निन्दा भी करता है। पर तो भी उनमें फँसा हुआ है। वह न तो ज्ञानशंकर ही रहा है और न मायाशंकर बन पाया है।

इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों के भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत करके प्रेमचन्द ने इस प्रथा के दुष्परिणामों को प्रकट किया है और स्पष्ट शब्दों में इस वर्ग के अस्तित्व को अनावश्यक और अनिष्टकारी सिद्ध किया है।

'प्रेमाश्रम' में कथा-प्रबन्ध वैसा सफल नहीं हो पाया जैसा 'सेवा-सदन' में था। इसका कारण है कार्यक्षेत्र का फैलाव। इसमें प्रेमचन्द ने अनेक चित्र दिये हैं और उनमें कुछ अनावश्यक या असम्बद्ध भी हैं। अनेक स्थानों पर वाग्विस्तार अधिक है। कुछ घटना-प्रसंग भी अविश्वसनीय और अनावश्यक हैं। जैसे तेजशंकर और पद्मशंकर के भैरव-विश्वास और बलिदान की कथा, राय कमलानन्द के जहर खाने पर भी कुछ असर न होने की बात, अनेक पात्रों की हत्याएँ, सनातन धर्म सभा का अधिवेशन आदि प्रसंग और घटनाएँ ऐसी ही हैं। इसी फैलाव के कारण कथा-संगठन में शिथिलता आई है, रोचकता की भी हानि हुई है।

कुछ पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी मनोवैज्ञानिक दोष दिखाई देते हैं। राय-कमलानन्द की सांसारिक प्रवृत्ति, शोषण और योग-बल में सामंजस्य संदिग्ध ही है। ज्ञानशंकर की आत्महत्या के बारे में तो हिन्दी-जगत में पर्याप्त आलोचना हो चुकी है। पात्रों की इतनी हत्याएँ भी लेखक की कुशलता पर धब्बा ही है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि जहाँ 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द की विचार-दृष्टि गम्भीर हुई है, सामाजिक परिवेश भी बढ़ा है, कृषक-जीवन की समस्याओं और जमींदारी-प्रथा का सर्वप्रथम विशद् चित्रण हुआ है, वहाँ कला-शिल्प में 'सेवासदन' से विकास की मंजिल विशेष दिखाई नहीं देती। 'प्रेमाश्रम' में कथारस और भावरस-ग्रन्थन की कुछ कमी रह गई, अन्यथा यह रचना भी प्रेमचन्द के 'गोदान' की टक्कर की सिद्ध होती। कुछ लोग इसे प्रेमचन्द का

सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानते हैं। एक आलोचक का कथन उल्लेखनीय है—'प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति-कौन-सी है, यह प्रश्न उठता है, तो लोग 'गोदान' और 'कायाकल्प' के साथ 'प्रेमाश्रम' का नाम भी लेते हैं। प्रश्न विवादास्पद तो अवश्य है और तीनों उपन्यासों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं किन्तु **समाहित प्रभाव, चरित्र-चित्रण की कलात्मकता और मनोवैज्ञानिकता एवं कथासंघटन की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' को ही विद्वन्मण्डली श्रेष्ठ कृति मानती है**"[1]

डॉ० राजेश्वर गुरु का उपर्युक्त कथन बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। हमारे जाने शायद ही किसी ने 'कायाकल्प' को प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ रचना कहा हो। दूसरे, राजेश्वर गुरु ने 'प्रेमाश्रम' को जिस आधार पर प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ रचना माना है, शायद वही उसकी दुर्बलता के अंग हैं। 'प्रेमाश्रम' में समाहित प्रभाव फैलाव के कारण वैसा नहीं रहा है, जैसा 'गोदान' में। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो यह रचना कई रचनाओं से पीछे है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिकता और कथासंगठन भी 'प्रेमाश्रम' के प्रशंसनीय तत्त्व नहीं हैं, जिनकी बिना पर उसे अन्य रचनाओं से श्रेष्ठ माना जा सके। मजे की बात यह है कि अपने कथन की पुष्टि उन्होंने 'विद्वन्मण्डली' (?) के नाम पर करना चाही है।

वास्तव में 'प्रेमाश्रम' की शक्ति उसके कला-शिल्प में नहीं है, उसमें तो वह दुर्बल है। बल्कि उसकी शक्ति है उसके वीभत्स रस-प्रधान होने में। प्रेमचन्द ने जमींदारी प्रथा के बीभत्स रूप का विशद् चित्रण किया है। रस के नाम से चौंकने वाले आधुनिक आलोचकों से हम निवेदन करते हैं जरा हमारे कथन की ओर ध्यान दें। 'प्रेमाश्रम' इसलिए महान है कि इसका उद्देश्य महान् है। उद्देश्य की महानता अपने में कुछ न होती, यदि वह रस-रूप में न होती। यह रस-रूप और महानता वीभत्स रस का स्वरूप लेकर प्रकट हुई है। ज्ञानशंकर का दुश्चरित्र, अन्याय, अत्याचार, निर्दयता, गायत्री को फँसाना राय कमलानन्द को ज़हर देना आदि कुकर्म, अफसरों की रिश्वत-खोरी तथा गरीबों से अन्याय, अफसरों के साथ आये टिड्डी दल चपरासियों आदि की ज्यादतियाँ- कारिन्दों की मनमानी आदि अनेकों विषय आरम्भ से अन्त तक हमारे घृणा भाव को जगाते और तीव्र करते हैं। इन सब शोषकों के प्रति पाठक घृणा से भर जाता है और गरीबों के प्रति करुणा और सहानुभूति मन में लाता है। यही प्रेमचन्द की सफलता है। यही उद्देश्य की सिद्धि है। यही रस-दशा वीभत्स रस-अनुभूति है। यदि इसमें कलात्मक दोष (जो ऊपर बताए गए हैं) न आते तो 'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द की 'गोदान' की टक्कर की रचना बन जाती।

निर्मला (सन् 1923 ई०)

'निर्मला' प्रेमचन्द का एक छोटा—उनके सब उपन्यासों से छोटा—सामाजिक उपन्यास

---

1. प्रेमचन्द : एक अध्ययन (लेखक डा० राजेश्वर गुरु)—पृष्ठ 150-151।

है। इसमें मूल समस्या है बेमेल विवाह और उसके भयंकर दुष्परिणाम। इसमें नारी-जीवन की करुणापूर्ण कहानी है। यह रचना करुणरस-प्रधान है। प्रेमचन्दजी ने हमारी वैवाहिक पद्धति के दोषों को अपनी रचनाओं में खूब प्रकट किया है। विवाह हमारे यहाँ एक ढकोसला बन गया है। रुपयों की थैलियों से सौदे तय किए जाते हैं। लड़के-लड़की के स्वभाव, आकृति-प्रकृति, वय आदि का कोई मिलान जरूरी नहीं है। समाज में दहेज की प्रथा से अनर्थ हो रहा है। इसी के कारण एक पन्द्रह वर्षीय कलिका—निर्मला का विवाह, उसकी विधवा माता को एक 40 से भी अधिक वय के कुरूप, तोन्दू, दुहाजू किन्तु सम्पन्न वकील लाला तोताराम से करना पड़ता है। इस सामाजिक समस्या के कारण, पारिवारिक जीवन की अनेक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं। तोताराम के तीन बच्चों की विषमता के रूप में निर्मला को, बच्चों से पूरा स्नेह होने पर भी लाँछित किया जाता है। उसे वृद्धा ननद की कोप दृष्टि और ईर्ष्या का शिकार बनना पड़ता है। वृद्ध पति के संशय और विषम परिस्थितियों से घर तबाह हो जाता है।

'निर्मला' में भाव-सघनता खूब पायी जाती है। कथा-संघटन की दृष्टि से भी यह रचना उत्तम है। कुछ अस्वाभाविक संयोगों और अमनोवैज्ञानिक स्थितियों का दोष अवश्य पाया जाता है। सामाजिक परिवेश भी सीमित है। पर सीमित पारिवारिक-सामाजिक परिवेश में प्रेमचन्द ने संवेदनाओं की गहराई भरने का बहुत सफल प्रयास किया है। यही इस रचना की विशेषता है।

रंगभूमि (सन् 1924 ई०)

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सबसे बड़ा उपन्यास है। कुछ लोग इस उपन्यास को 'गोदान' से भी ऊँची रचना मानते हैं। परन्तु हम समझते हैं कि 'रंगभूमि' में 'गोदान'-जैसी संवेदना की सघनता नहीं पाई जाती। उसका बड़ा कलेवर ही उसके प्रभाव को बिखरा रहा है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की दृष्टि इस रचना में बहुत व्यापकता लिए हुए है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने पहली बार देशी रियासतों की बिगड़ी स्थिति; राजाओं के अत्याचार और अन्याय को प्रस्तुत करके इस ओर देश का ध्यान आकर्षित किया। देशी रियासतों में बेचारे किसानों की और भी बुरी अवस्था है। प्रेमचन्द ने पीड़ित प्रजा के साथ अपनी सच्ची सहानुभूति दिखाई है।

रंगभूमि में ही पहली बार प्रेमचन्द ने पूँजीवाद के आगमन और पूँजीवादी पद्धति के दोषों को प्रकट किया है। यह पूँजीवादी पद्धति सामन्तवाद या जमींदारी पद्धति से भी अधिक हानिकारक और खतरनाक है। सामन्तवाद ने दयनीय अवस्था ही बनाई थी, पर यह पूँजीवाद तो अस्तित्व के लिए ही खतरा बनकर आया है। गरीबों की झोंपड़ियों को उजाड़ कर यह कल-कारखाने बना रहा है। गाँवों का सरल, निष्कपट और उच्च नैतिक जीवन नष्ट करके यह पूँजीवाद उसे कलुषित कर रहा है। पूँजीपति जॉन-सेवक सूरदास की जमीन लेना चाहता है—सिगरेट का बड़ा कारखाना खोलना चाहता है। सूरदास विरोध करता है। राजा महेन्द्रपाल भी अपने स्वार्थ की खातिर जॉनसेवक

की तरफदारी करता है और जमीन दिलाने में उसका सहायक एवं सूरदास का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है। सूरदास कहता है—"सरकार, बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जाएगी (मिल लगने से), रोजगारी से लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जाएगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जाएँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे। कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजदूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहा बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और बुरे आचरण अपने गाँव में फैलाएँगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करनी जाएँगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। यही यहाँ हो जाएगी।"

सन् 1924 के इस उपन्यास पर गांधीवादी प्रभाव सर्वाधिक नजर आता है। सूरदास गाँगीवादी का ही प्रतिरूप है। वह मशीनी औद्योगीकरण और पूँजीवाद का विरोध करता है। नगरों के कोलाहलमय दूषित वातावरण से ग्रामों के शान्तिपूर्ण पवित्र वातावरण को उत्तम समझता हुआ ग्राम-संस्कृति की रक्षा करना चाहता है। संघर्ष सोलह आने गान्धीवादी है। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, असहयोग, आत्म-त्याग आदि ही उसके साधन हैं। वह पूरी दृढ़ता के साथ संघर्ष करता है। और इस संघर्ष में यद्यपि असफल रहता है, पर हार नहीं मानता। सन् 1921 के असहयोग-आन्दोलन में भी गांधीजी देश को स्वराज्य दिलाने में भले ही असफल रहे हों, पर उन्होंने संघर्ष नहीं छोड़ा, हतोत्साह नहीं हुए, मन को नहीं हारा। शायद इसी भूमिका में प्रेमचन्द ने सूरदास के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। वह अपने संघर्ष में हार जाता है, पूँजीवाद की विजय होती है, गाँव की धरती पर पूँजीपति का मिल स्थापित हो जाता है, मजूरों का नैतिक पतन होता है। जुआ-शराब का हुल्लड़ मचने लगता है, सारा आन्दोलन विफल हो जाता है। पर खिलाड़ी सूरा कहता है—"तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो। दम नहीं उखड़ता। खिलाड़ियों को मिला-कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते है, गाली-गलौच, मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता।...हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, घाँघली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी—अवश्य होगी।"

पिछड़ते हुए कर्मवीर का, मरते हुए सत्याग्रही का कितना दृढ़ आत्म-विश्वास है! निश्चय ही प्रेमचन्द ने भारतीय राजनैतिक संघर्ष को इस रचना-द्वारा आत्म-बल प्रदान किया था। जीवन को खेल की बाजी समझकर खेलना प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन बन गया था।

प्रेमचन्द ने जिस शहरी सभ्यता और विकासमान पूँजीवाद की झाँकी अपने 'गोदान' में प्रकट की है, उसका पूर्व रूप और पूर्वाभास हमें 'रंगभूमि' में प्राप्त हो जाता है। 'रंगभूमि' में भी शहरी सभ्यता का विकास हो रहा है। "शहर अमीरों के रहने और

क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्यभाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनकी मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं।" गाँवों की पुरातन पवित्रता, आत्म निर्भरता और संस्कृति समाप्त हो रही है। शहर का पूँजीपति गाँवों की जमीन पर अपने कारखाने बना रहा है। गाँव का सामूहिक जीवन बिखर रहा है। और किसान मजदूर बनता जा रहा है। पूँजीपति अत्यधिक मुनाफा कमा रहा है। उसका जादू चल रहा है। उसके तर्क-बुद्धि भी है। वह कहता है—"हमारी जाति का उद्धार कला, कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम-से-कम एक हज़ार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जाएगी और खेतों के सिर से उनका बोझ टल जाएगा।" इस पूँजीपति जॉन सेवक को धन से बड़ा प्रेम है !

परन्तु प्रेमचन्द अर्थ के अनर्थ को अवश्य प्रकट करते हैं। 'गोदान' में मि० खन्ना की जब मिल जल जाती है तब ही उसके पारिवारिक जीवन से अशांति मिटती है। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि धन ही अनेक बुराइयों की जड़ बनता है। इसी प्रकार 'रंगभूमि' का जॉनसेवक भी अनुभव करता है कि यह कारखाना एक असाध्य रोग ही लग गया है। इसके कारण पारिवारिक अशांति उत्पन्न हुई। सारा कुनबा बिखर गया, लड़की सोफिया घर से चली गई, लड़का प्रभुसेवक विरोधी हो गया। शहर में बदनामी हुई। शहर और गाँव में इस कारखाने के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो गया है। कारीगर और कुली भी काम छोड़कर अपने घर जाने की धमकी देते रहते हैं।

देशी रियासतों की बुरी अवस्था को भी प्रेमचन्द ने अच्छी तरह दर्शाया है। अंग्रेज रेजिडेन्ट के सामने राजा की दशा गुलामों-जैसी है। इनमें कोई दम नहीं रहा है। स्वयं राजा अपनी हालत बताता हुआ कहता है—"हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई-बीती है। उन्हें तो सफाई देने का अवसर दिया जाता है, हमसे कौन सफाई लेता है ? ···हमारे लिए न कोई कानून है, न कोई धारा। जो अपराध चाहा, लगा दिया। जो दण्ड चाहा, दे दिया। न कहीं अपील है, न फरयाद।"

इन राजाओं और रियासती कर्मचारियों का एक और चित्र क्रान्तिकारी वीरपालसिंह प्रस्तुत करता है—"ये लोग (राज्य-कर्मचारी) प्रजा को दोनों हाथों लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म···चोरी कीजिए, डाके डालिये, घरों में आग लगाइये, कोई आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म करते रहिये। दिनदहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस का घर पूरा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जाएँगे। आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा···यह समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओं का एक गोल है। सबके सब मिलकर शिकार करते हैं और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू···या तो विलायत की सैर करेगा या यहाँ अँग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा। इसके सिवा उसे कोई काम नहीं। प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से।"

प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' की एक बड़ी विशेषता इस बात में है कि यही रचना राजनैतिक संघर्ष के लिए सर्वाधिक प्रेरक सिद्ध हुई। जन-साधारण में असन्तोष और विद्रोह की भावना जगाने का सर्वाधिक उपक्रम इसी रचना में पाया जाता है। सूरा, विनय, प्रभु सेवक, सोफिया आदि कितने ही कर्मवीर जनता को जागृत करते हैं। वे अन्याय का डटकर मुकाबिला करने की हिम्मत रखते हैं और पशुबल के सामने आत्मबल प्रदर्शित करते हैं। प्रभुसेवक "रिश्वतखोर कर्मचारियों, जालिम जमींदारों, स्वार्थी अधिकारियों पर सदैव ताक लगाये रहते" लगते हैं। "उनका विचार था कि प्रजा में असन्तोष पैदा करना भी सेवकों और नेताओं का कर्त्तव्य है।"

'रंगभूमि' के अन्त में डा० गांगुली स्पष्ट शब्दों में अंग्रेज गवर्नर से कहते हैं—"आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेण्ट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है।···अब हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है, कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमको अनन्तकाल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है।"

प्रेमचन्द धर्म के ढोंग का हर स्थान पर भण्डा-फोड़ करते हैं। 'रंगभूमि' में सोफिया और प्रभुसेवक दोनों धार्मिक पाखण्ड की खिल्ली उड़ाते हैं। उनके माता-पिता का धर्म ढकोसला है, दादा का धार्मिक रूप कोरा पाखण्ड है। पिता जॉनसेवक सातवें दिन गिरजा जाते हैं पर वहाँ भी धन के देवता की मूर्ति का ही जाप करते हैं। दादा ईश्वर-सेवक ईश्वर-भक्ति का दम्भ रखता है, पर है परले दरजे का दुष्ट और कंजूस।

'रंगभूमि' में एक खटकने वाली बात यह है कि प्रेमचन्द ने प्रायः सभी निकट के सम्बन्धी पात्रों में विरोध प्रस्तुत किया है। कहीं पत्नी पति के विरुद्ध है, जैसे राजा महेन्द्रकुमार सिंह असत् पक्ष के हैं तो उसकी पत्नी इन्दु उनके सर्वथा विरुद्ध सत् पक्ष की है; यही बात भैरों और उसकी पत्नी सुभागी के बारे में कही जा सकती है; कहीं माँ-बाप के विरोधी बेटा-बेटी दिखाये गये हैं, जैसे सोफिया और प्रभुसेवक अपने माता-पिता की विचारधारा और कार्यों के सर्वथा विरुद्ध हैं—मां-बाप असत पक्ष के हैं तो बेटा-बेटी सत् पक्ष के। महेन्द्रकुमार सिंह के विरुद्ध उनका साला विनय खड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे उदाहरण जीवन में पर्याप्त मिलते हैं, पर एक उपन्यास में ऐसे अनेक द्वन्द्व प्रस्तुत करना कुछ अस्वाभाविक-सा प्रतीत होने लगता है। चरित्र-चित्रण में कुछ अन्य त्रुटियाँ भी पायी जाती हैं। जैसे प्रेमचन्दजी अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के मोह में चरित्र को इतना अतिरञ्जित रूप दे देते हैं, जो अमनोवैज्ञानिक-सा बन जाता है। रानी जाह्नवी आदर्श माता हैं, सन्देह नहीं, पर उसका आदर्श यहाँ तक चला जाता है कि अपने पुत्र की मृत्यु के पश्चात् "उनका सदुत्साह दुगुना हो गया। वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गईं। उनके रोम-रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ" यह स्थिति उसके मातृत्व की हत्या ही कर देती है! इसी प्रकार सोफिया की माता का काला रूप अतिरंजित है जो एक माता के लिए स्वाभाविक नहीं लगता।

दूसरी कमजोरी है विस्तार। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, इस विस्तार के कारण प्रभाव बिखर गया है। सघन प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सका। न तो वे पूंजीवादी के घिनौने रूप को अच्छी तरह प्रस्तुत कर सके और न ही देशी रियासतों की आन्तरिक दशा और राजा प्रजा के शोषक-शोषित रूप का मार्मिक चित्रण कर पाये। पूंजीवादी पद्धति का जैसा मार्मिक चित्रण 'गोदान' में है और रियासतों की आन्तरिक परिस्थिति और राजा-प्रजा के सम्बन्ध का जैसा सजीव चित्रण 'कायाकल्प' में है, वह 'रंगभूमि' में नहीं प्रकट हो सका। सच तो यह है कि फैलाव के कारण प्रेमचन्द आलम्बनत्व को पूरी तरह नहीं रंग सके। यही कारण है कि न तो पूंजीवाद के प्रति पूरी तरह घृणा जागृत होती है, और न ही सोफिया आदि का बलिदान इतना करुणाजनक बन पाया है। फिर भी 'रंगभूमि' में बीभत्स रस और करुण रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है।

कायाकल्प (सन् 1928)

कथा-प्रबन्ध की दृष्टि से 'कायाकल्प' प्रेमचन्दजी की सर्वाधिक शिथिल और जटिल रचना है। 'रंगभूमि' में तो फिर सूरदास के संघर्ष की आधिकारिक कथा निर्दिष्ट थी, यद्यपि विनय और सोफी की प्रासंगिक कथा भी पर्याप्त विस्तृत थी, पर 'कायाकल्प में केन्द्रीय कथा सर्वथा अनिर्दिष्ट है। रानी देवप्रिया के जन्म-जन्मान्तर और कायाकल्प ने उसे जटिल भी बना दिया है। फिर भी प्रेमचन्द ने इस रचना में जीवन के उद्देश्यों को स्पष्ट और निर्दिष्ट रखा है। इसमें प्रेमचन्द मुख्य तथ्य तो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सच्ची मानसिक शान्ति प्रेम में है, वासना में नहीं। वासना सदा अतृप्त और बेचैन रहती है। रानी-देवप्रिया के जीवन से यही सिद्ध होता है। उसे मानो युग-युग की वासना-पिपासा है। वह अतृप्ति की अग्नि में जलती रहती है। कमला के रूप में वह शंखधर को पाती है। पर जैसे ही दोनों वासना के आलिंगन में आबद्ध होते हैं, शंखधर की जीवन लीला समाप्त होने लगती है। वह कहता है—"प्रिये, फिर मिलेंगे। यह लीला (वासना तृप्त करने के लिए बार-बार जन्म लेने और मिलने की लीला) उस दिन समाप्त होगी, जब प्रेम में वासना न रहेगी।" वह देवप्रिया, जो विनोद और विलास को ही सब कुछ मानती थी, अतृप्त वासना को तृप्ति देने के लिए महेन्द्र, विक्रमसिंह और शंखधर रूप में कई पतियों को नए-नए जन्मों में पाती है और भूखी रहती है, वही इस घटना से सचेत हो जाती है और तपस्विनी बन जाती है। उसकी मोह-तन्द्रा नष्ट हो जाती है। वह जीवन-मुक्त हो जाती है। तृष्णाओं और वासनाओं से मुक्ति ही तो जीवन-मुक्ति है, यही तो सच्चा कायाकल्प है।

इस विलास-वासना का कारण है धन-सम्पत्ति। धन-सम्पत्ति से ही विलास-वासना सूझती है। प्रेमचंद ने इस सम्बन्ध में देशी राज्यों की 'काजल कोठरी' का चित्र प्रस्तुत किया है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने राजाओं के विलासपूर्ण जीवन का उल्लेख मात्र किया था, यहाँ 'कायाकल्प' में उनकी विलासिता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया है। रानी देवप्रिया के लिए रियासत भोग-विलास का साधन मात्र है। अपने पैशाचिक विलास के

लिए उन्हें जितने रुपये चाहिएँ, रियासत के मैनेजर का कर्त्तव्य है कि तुरन्त जुटाये—चाहे ऋण ले, चोरी करे अथवा प्रजा का गला काट कर दे। रानी को इससे कोई मतलब नहीं। जनता पर क्या बीतती है, इसे जानने की उसे जरूरत ही नहीं। इसी प्रसंग में प्रेमचन्दजी ने जनता के निर्मम शोषण की करुण कहानी प्रकट की है। कितनी घोर विषमता है—एक ओर विलास का नग्न नृत्य हो रहा है, दूसरी ओर किसान, मजदूर भूखे मर रहे हैं। भोजन नहीं मिलता, तन ढकने को कपड़ा प्राप्त नहीं होता !

प्रेमचंद ने अर्थ और सम्पति के अनर्थ को सर्वत्र प्रकट किया है। 'कायाकल्प' में स्पष्टतः दिखाया है कि यह धन-सम्पत्ति और अधिकार या वैभव किस प्रकार मनुष्य को बदल देता है। उसका नैतिक पतन हो जाता है। राज्याधिकार पाने से पूर्व राजा विशाल सिंह अत्यन्त उदार विचारों के सज्जन और जनवादी व्यक्ति थे। परन्तु गद्दी पर बैठने के पश्चात् वह गिरगिट की तरह रंग बदल जाते हैं। गरीब जनता से उत्सव का नजराना वसूल किया जाता है, बेगार ली जाती है। चक्रधर स्पष्ट शब्दों में कहता है—"···राजा साहब की जात से लोगों को कैसी-कैसी आशाएँ थीं, लेकिन अभी गद्दी पर बैठे छः महीने भी नहीं हुए और उन्होंने भी वही पुराना ढंग अख्तियार कर लिया। प्रजा से डण्डों के जोर से रुपये वसूल किये जा रहे हैं और कोई फरियाद नहीं सुनता।"

और जब विरोध बढ़ता है तो यह शोषक बौखला उठता है—"प्रजा मेरे पैरों की धूल है। मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ, वैसा सलूक करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का हक नहीं।" इस पर चक्रधर उसे फटकारता हुआ कहता है—"आपको अपने मुँह से ये शब्द निकालते हुए शर्म आनी चाहिए थी। अगर सम्पत्ति से इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज संसार में कोई नहीं। आपके भाव कितने पवित्र थे,···आप कहते थे, मैं प्रजा को अपने पास बेरोकटोक आने दूँगा।···मेरे कर्मचारी उनकी ओर टेढ़ी निगाह से भी देखेंगे, तो उनकी शामत आ जायगी। वे सारी बातें क्या आपको भूल गईं ? और इतनी जल्दी ?"

यही नहीं, सम्पत्ति या अधिकार का नशा इस चक्रधर पर भी चढ़ता है, जो इतना आदर्श नेता बना हुआ है। रियासत से सम्बन्ध हो जाने पर उसकी मनोवृत्ति भी बदलने लगती है। वही चक्रधर जो बेगार और शोषण के विरुद्ध लड़कर जेल जाता है, वही अब बेगार न मिलने पर क्रुद्ध हो जाता है। जब उसकी मोटर उलट जाती है और वह उसे ठेलकर ले चलने के लिए किसानों को आज्ञा देता है तो उसकी जबरदस्ती का विरोध करने वाले एक किसान पर वह अत्याचार कर बैठता है, उसे धमकी देता है और उसका हाथ तोड़ डालता है। उसके इस आचरण को देखकर उस पर श्रद्धा रखने वाला धन्नासिंह आश्चर्य-चकित होकर कह उठता है—"यह तुम कैसे बदल गये ? अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास नहीं आता। जरूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गई।"

सचमुच चक्रधर अनुभव करता है कि रिसायत की बू कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उसमें समा रही है। "जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्होंने एक निर्बल

प्राणी पर हाथ उठाया था···आह, मुझ पर भी प्रभुता का जादू चल गया ।···अब मुझे अनुभव हो गया कि इस वातावरण (रियासत के सामन्तीय विलासपूर्ण) में रहकर मेरे लिए अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है।" और एक रात वह चुपचाप राजा विशालसिंह के महल को त्याग देते हैं।

प्रेमचन्द ने इस पद्धति को ही दोषी माना है। 'प्रेमाश्रम,' 'रंगभूमि' तथा 'कायाकल्प' आदि सब रचनाओं में उन्होंने व्यक्तियों को दोषी ठहराने की बजाय सामन्तीय और जमींदारी पद्धति को ही दोषी ठहराया है। राजा विशालसिंह के प्रसंग में भी यही बात प्रकट की गई है। राजा साहब बुरे नहीं थे, परिस्थितियाँ उन्हें विवश करती हैं। वह कहते हैं—"ईश्वर जानता है, मेरे मन में प्रजाहित के कैसे-कैसे हौसले थे। मैं अपनी रियासत में रामराज्य का युग लाना चाहता था, पर दुर्भाग्य से परिस्थिति कुछ ऐसी होती जाती है कि मुझे वे सभी काम करने पड़ते हैं, जिनसे मुझे घृणा थी। न जाने वह कौन-सी शक्ति है, जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के लिए मजबूर कर देती है।" वह शक्ति कोई अलौकिक नहीं है, यही पद्धति है। राजा साहब कहते हैं कि"मैं हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ हूं।" प्रेमचन्द ने क्या राय कमलानन्द और क्या रायसाहब अमरपालसिंह सबके मुख से यही कहलवाया है कि सारी पद्धति ही दूषित है।

पर विचित्र बात यह है कि जब प्रेमचन्द के सामने समस्या के हल का प्रश्न आता है तो वह गांधीवादी प्रभाव से वर्ग-समन्वय पर विश्वास जताने लगते हैं। उनके विनय, सूरदास, चक्रधर, अमरकान्त आदि सब नेता वर्ग-समन्वय के हामी हैं। चक्रधर स्पष्ट शब्दों में कहता है—"मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं। लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक नहीं···।" किन्तु प्रेमचंद चाहे जो हल चाहें, उनकी रचनाएँ ही चिल्ला-चिल्ला कर कह रही हैं कि इस पद्धति के आमूल परिवर्तन के बिना स्थिति सुधर नहीं सकती। जब रोग जड़ से ऊपर तक है तो किसी प्रकार के बीच-बचाव या समझौते, हृदय-परिवर्तन से काम नहीं चलेगा। सब कुछ बदलना होगा। सज्ञान रूप से प्रेमचन्द वर्ग-समन्वय और समझौते, हृदय-परिवर्तन को—गांधीवादी दृष्टिकोण को अपनाकर चले हैं। पर उनकी रचनाओं से क्रान्ति की ध्वनि प्रकट होती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचंद ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और झगड़ों का भी सजीव चित्रण किया है। 'कायाकल्प' की रचना के समय देश में साम्प्रदायिक दंगों का जोर था। हिन्दू-मुसलमानों में आये दिन झगड़ा होता था। इस कलह का राजनीतिक प्रश्न एक विकट समस्या बन गया था। सारा देश साम्प्रदायिकता की अग्नि में झुलस रहा था। स्वराज्य और समाज-सुधार की बातें पीछे पड़ गई थीं। धर्मान्धता की आँधी ने अच्छे-अच्छों की आँखों में धूल झोंक दी थी। "जरा-जरा-सी बात पर दोनों दलों के सिर-फिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग-भंग हो जाते। कहीं बनिये ने डण्डी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया। कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का

कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले के हिन्दुओं के घर लुट गये। दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैंकड़ों आदमी घायल हुए, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी राज-भक्ति का राग अलापते।"

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता के इस भूत की भी खूब खबर ली है। धर्म के पाखण्ड की भी खिल्ली उड़ाई है। प्रेमचन्द इस सारी स्थिति के लिए भी व्यक्तियों को जिम्मेदार न ठहराकर धर्म के नशे और शासन को दोषी ठहराते हैं। बाबू यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद दोनों अपने कालेज- जीवन में उदार विचारों के जनवादी छात्र-नेता थे। पर अब पंन्द्रह वर्षों के बाद साम्प्रदायिकता की हवा में बहकर दोनों साम्प्रदायिक नेता बन जाते हैं, एक-दूसरे के शत्रु बनकर आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। दोनों अपने-अपने वर्गों को भड़काते हैं। सारे दंगे-फिसाद के बाद ख्वाजा महमूद कहते हैं—"खुदा गवाह है, मैंने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद ही से इस बद-नसीब कौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था, जितना मैं, शायद मुझसे भी ज्यादा। लेकिन खुदा जाने वह कौन-सी ताकत थी, जो हम दोनों को बरसरे-जंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे, पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमको लड़ाती रहती थी।" निश्चय ही यह गैबी ताकत "धर्म का नशा और अंग्रेजी शासन था, जो हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाकर ही अपने राज्य की नींव दृढ़ करना चाहता था। धर्म का पञ्जा भी बहुत कड़ा था।"

'कायाकल्प' में जन्म-जन्मान्तरवाद और अलौकिक चमत्कार अभी वैज्ञानिक दृष्टि से संदिग्ध ही हैं। यदि रानी देवप्रिया और उसके पतियों के भिन्न-भिन्न जन्मों की वात तथा कथा के चमत्कारी अंशों को रूपक-मात्र मान लिया जाय, तो कथा-संगठन में शिथिलता होते हुए भी कथा में रोचकता अद्भुत है। इस रोचकता का सबसे बड़ा कारण है रस-परिपाक। बीभत्स, श्रृंगार और करुण रसों की सुन्दर त्रिवेणी इस रचना की बड़ी शक्ति है।

गबन (सन् 1930 ई०)

'गवन' में प्रेमचन्द ने मध्यवित्त-वर्ग के यथार्थ जीवन और मनोवृत्तियों का चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने पहली बार 'गबन' में इस वर्ग की समस्याओं को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। इस वर्ग की वास्तविक आय कम है, पर अपनी झूठी शान रखने के लिये इस वर्ग के लोग अपनी हैसियत से बहुत अधिक खर्च करते हैं, और आय तथा व्यय के असन्तुलन को बेईमानी, रिश्वत, झूठ, हेरा-फेरी आदि उपायों से पूरा करना चाहते हैं। मुंशी दीनदयाल अपनी लड़की जालपा की शादी महाशय दयानाथ के पुत्र रमानाथ से करते हैं। दीनदयाल दिल खोल कर खर्च करते हैं, क्योंकि उनका वेतन चाहे

केवल पाँच रुपये था, पर 'ऊपर की आमदनी' का कोई हिसाब नहीं था। दूसरी ओर रमानाथ सुन्दर सजीला जवान है। उसके पिता महाशय दयानाथ बड़े ईमानदार आदमी हैं। उन्होंने कभी एक पैसा भी रिश्वत का नहीं लिया। वह ऐसी पाप की कमाई से घृणा करते हैं। पर लड़का नयी रोशनी का फैशनेबल युवक है। वह अभी बेकार है, पर यार दोस्तों में बैठने-उठने के कारण उसकी खाने-उड़ाने की इच्छा प्रबल हो चुकी है। वह शादी में खूब खर्च करा देता है। दयानाथ भी उसकी तथा अपनी पत्नी की बातों में आकर हैसियत से बहुत बढ़-चढ़कर खर्च कर देते हैं। सर्राफे से उधार गहने आ जाते हैं। दिखाने के लिए और भी कई तरह का खर्च खूब बढ़-बढ़कर किया जाता है। यही खर्च उनके लिए समस्या बन जाता है।

रमानाथ अपनी पत्नी जालपा से घर की स्थिति छिपा कर रखता है। वह उलटा बहुत जीट उड़ाता है—बहुत धन है, जायदाद है, बैंकों में रुपया पड़ा है। वह अपनी पत्नी को खुश रखने के लिए उसकी फरमाइशें पूरा करना चाहता है। सर्राफे के तकाजे होने से उसे अपनी पत्नी के जेवर चुराने पड़ते हैं। स्वयं जेवर चुराकर बाप-बेटा उड़ाते यह हैं कि जेवर चोर चुरा ले गये। इस वर्ग के कृत्रिम जीवन की बहुत सुन्दर झाँकी प्रेमचन्द ने प्रस्तुत की है। इस उपन्यास की मुख्य समस्या नारी का आभूषण-प्रेम नहीं है, जैसा कि कुछ आलोचक कहा करते हैं। आभूषण-प्रेम तो गौण बात है। जालपा के मन में चन्द्रहार की लालसा बचपन से थी और इसमें संदेह नहीं कि उसके जेवर चले जाने पर वह निर्जीव-सी उदास रहने लगी थी और जब रमानाथ फिर सर्राफे से उसके लिये कंगन और हार उधार लाता है तभी वह प्रसन्न होती है। परन्तु इस सारी परिस्थिति के पीछे पति द्वारा वास्तविकता से दुराव है। यदि उसे मालूम हो जाता कि जेवर उधार में आये हैं और घर की वास्तविक स्थिति वह नहीं जो रमानाथ शेखी में बताया करता था, तो वह कभी जेवरों के लिए आग्रह न करती।

रमानाथ स्वयं अपने जाल में फँसता है। अपने जीवन को वह कितना आडम्बर-पूर्ण और कृत्रिम बना लेता है! वह अपनी शान रखने के लिए फैशन करता है, अपनी पत्नी को फैशन में रखता है। अपनी पत्नी को अपना वेतन अधिक बताता है। रिश्वत खूब उड़ाता है। रतन के सामने अपनी झूठी शान जताता है। हेरा-फेरी से अपनी बात रखना चाहता है। रतन ने कंगन बनवाने के लिए जो रुपये दिये थे, उन्हें सर्राफे में देकर अपनी साख रखना चाहता है। रतन को झूठ बोल-बोलकर टालता जाता है। पर जब रतन की शंका बढ़ जाती है, वह कड़ा तकाजा करती है, तो वह चुंगी के रुपयों में से रतन को दे देता है और सरकारी गबन के भय से भाग जाता है।

प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग के खोखले जीवन की सजीव झाँकी प्रकट की है। इस आडम्बरपूर्ण कृत्रिम और दिखावटी जीवन को निभाने के लिए इस वर्ग के लोगों को कितने स्वाँग रचने पड़ते हैं! किसी भी प्रकार का पाप-कर्म ये कर सकते हैं, बशर्ते कि वह छिपा रहे। चोरी, रिश्वतखोरी, झूठ, फरेब, हेरा-फेरी, गबन सब-कुछ सम्भव है। यद्यपि रमानाथ की समस्या व्यक्ति की समस्या है, पर यह समूचे मध्यवर्ग पर भी लागू होती है।

प्रेमचन्द ने उपर्युक्त मुख्य समस्या के अतिरिक्त ब्रिटिश पुलिस-पद्धति के हथकण्डों का इस रचना में खूब पर्दाफाश किया है। पुलिस किस प्रकार झूठे गवाह बनाती है; निर्दोष दिनेश आदि को फँसाती है, गवाहों को प्रलोभन देकर, उनका नैतिक पतन करके अपने जाल में फँसाया जाता है। रिश्वत का बाजार गरम है। सत्याग्रहियों और देशभक्तों को कुचला जाता है। देवीदीन खटीक के जवान बेटे स्वदेशी आन्दोलन में पुलिस की लाठियों का शिकार हुए थे। प्रेमचन्दजी ने इस रचना में भी अनमेल विवाह का एक करुण परिणाम प्रस्तुत किया है। नवयुवती रतन एक सम्पन्न बूढ़े वकील की पत्नी है। यद्यपि वह धनी पति से सन्तुष्ट है, और उसकी अतृप्त लालसा खाने-खर्चने से दबी रहती है, पर प्रेमचन्द ने दो रूपों में उसकी करुण स्थिति में रंग भरा है। पहली स्थिति है उसके अभावग्रस्त मातृत्व का चीत्कार। दूसरी है वृद्ध और रोगी पति की शीघ्र मृत्यु और उसका परिणाम !

यहाँ प्रेमचन्द ने हिन्दू विधवा रतन की असहाय दशा दर्शाकर समाज को विचारने के लिए बाध्य कर दिया है। पति की मृत्यु के बाद उसके अधिकार छिन जाते हैं। उसका भतीजा ही छल-कपट से सारी सम्पत्ति हड़प कर जाता है और वह एकदम कंगाल हो जाती है। यह इस बेमेल वैवाहिक पद्धति का दुष्परिणाम एवं हमारे समाज में नारी की दयनीय दशा का करुणापूर्ण चित्र है।

'गबन' में भी प्रेमचन्द ने पूर्णतया यथार्थ से आरम्भ करके आदर्श में परिणति की है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सब पात्र आदर्शवादी बन जाते हैं। रमानाथ अपनी पत्नी जालपा के प्रभाव से बदल जाता है। वह अपना बयान बदल देता है और निर्दोष अभियुक्तों को छुड़ा लेता है। वह पुलिस के प्रलोभन को ठुकरा देता है। यहाँ तक कि जोहरा वेश्या भी बदल जाती है। वह अपनी वेश्यावृत्ति छोड़कर सेवा और त्याग का जीवन बिताने लगती है। प्रेमचन्द ने रतन, जोहरा, रमानाथ, जालपा, देवीदीन आदि सब पात्रों को अन्त में सेवा और त्याग का आदर्श जीवन बिताते दिखाया है। ये सब अपना एक आदर्श संसार बसाते हैं, जहाँ छल कपट, असत्य, अन्याय आदि के स्थान पर सेवा, सत्य, अहिंसा और प्रेम का राज्य है। किन्तु 'गबन' में यह आदर्श परिणति किसी प्रकार की अस्वाभाविकता या असंगति प्रतीत नही होती। वास्तव में प्रेमचन्द ही नगर के प्रपंचात्मक जीवन से ऊब कर अपने प्रिय ग्राम-जीवन के सरल, शांतिपूर्ण वातावरण में आते प्रतीत होते हैं।

कथा-संगठन की दृष्टि से भी 'गबन' प्रेमचन्द की सफल कृति है। इसमें अनावश्यक विस्तार या भरती के प्रसंगों का कोई दोष नहीं है। चरित्र-चित्रण भी बहुत सफल है। जालपा और रमानाथ के अतिरिक्त देवीदीन के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द ने बहुत कमाल किया है। जोहरा के चरित्र-परिवर्तन में यदि मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और अधिक प्रकट होता तो अच्छा रहता। बाद में उसकी हत्या तो बहुत अस्वाभाविक है। कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि 'गबन' कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की पर्याप्त सफल रचना है।

प्रेमचन्द ने अर्थ के अनर्थ को अपने सब उपन्यासों में किसी-न-किसी तरह अवश्य प्रस्तुत किया जाता है। पूंजी को वह सब बुराइयों की जड़ मानते रहे हैं। आज की पूंजीवादी व्यवस्था में धन ही धर्म बना हुआ है। इस पूंजीवादी संस्कृति में वास्तविक धर्म लुप्त हो गया है, टका-धर्म ही चालू है। धर्म के ढकोसले को प्रेमचन्द जहाँ-तहाँ सर्वत्र फटकारते रहे हैं। देवीदीन एक पूंजीवादी मिल-मालिक के दान-धर्म की पोल खोलता हुआ कहता है—"उसे पापी कहना चाहिए, महापापी ! दया तो उसके पास से होकर ही नहीं निकली। उसकी जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इस मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हण्टरों से पिटवाता है, हण्टरों से ! चरबी-मिला घी बेच कर उसने लाखों रुपये कमा लिये। कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरन्त तलब काट लेता है। अगर साल में दो-चार हजार रुपये दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे ?"

'गबन' में प्रेमचन्द ने नेताओं की भी खबर ली है। आज जबकि राजनैतिक भ्रष्टाचार हमारी एक प्रमुख समस्या बन गया है और नेता लोगों के स्वार्थों के कारण हमारे स्वराज्य की सुख-कल्पना अधूरी सिद्ध हो रही है, तो हमें प्रेमचन्द का सन् 1930 का यह कथन कितना सत्य प्रतीत होता है : देवीदीन कहता है—"इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है।···बड़े-बड़े देश-भक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देशी चीज नहीं मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सामान विलायती है।···विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती बर्तनों में खाओ, विलायती दवाइयाँ पीयो, पर देश के नाम को रोये जाओ, ।···एक बार यहाँ एक बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले-कूदे। जब वह नीचे आये, तब मैंने उनसे पूछा, "साहब, सच बताओ जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तब कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है। तुम भी बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे। पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का कल्याण होगा ? तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले ही आराम से गुजरे पर देश का तो कोई भला न होगा।" बस बगलें झाँकने लगे। तुम दिन में पाँच बेर खाना चाहते हो और वह भी बढ़िया माल। गरीब किसान को एक जून चबेना भी नहीं मिलता।···अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।"

'गबन' के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है कि प्रेमचन्द मूलतः सामाजिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने व्यक्ति की समस्याओं को भी सामाजिक समस्याओं के रूप में अपनाया है। यद्यपि 'गबन' की मुख्य कथा का सामाजिक परिवेश सीमित है, पर प्रेमचन्द प्रासंगिक रूप से समाज की अनेक झाँकिया प्रस्तुत करने में नहीं चूके हैं।

कर्मभूमि (सन् 1932)

'कर्मभूमि' भी कथा-संगठन की दृष्टि से प्रेमचन्द की शिथिल रचना है। इसमें शहर की और गाँव की दो अलग-अलग कथाएँ हैं और दोनों का सम्बन्ध सूत्र, 'गोदान' की कथा की तरह, अत्यन्त क्षीण है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने अछूत-समस्या को प्रमुखता दी है, इसके साथ ही किसान (शोषित) की समस्या जुड़ी हुई है। मन्दिरों में बेचारे भंगी-चमारों की छाया भी नहीं पड़ने दी जाती। उनका सबसे पीछे अलग बैठना भी नागवार मालूम देता है। पुजारी और ब्रह्मचारी माथा पीट लेते हैं। उनकी उपस्थिति धर्मात्माओं को असह्य हो गयी। कई आदमी जूते लेकर उन गरीबों पर पिल पड़ते हैं। भला इससे बढ़कर और अधर्म क्या हो सकता है? ये रोज सबको छूते हैं! इनकी छाया प्रसाद पर पड़ती है! डॉ० शान्ति कुमार इन भक्तों को धिक्कारते हैं—'वाह रे ईश्वर भक्तो! वाह, क्या कहना है तुम्हारी भक्ति का! जो जितने जूते मारेगा, भगवान् उस पर उतने ही प्रसन्न होंगे···और तुम (चमारों से), तुम्हें इतनी खबर नहीं कि यहाँ सेठ-महाजनों के भगवान् रहते हैं, तुम्हारे भगवान् कहीं किसी झोंपड़े में या पेड़ तले होंगे।" कैसा करारा व्यंग्य है! साथ ही स्पष्ट है, प्रेमचन्द अछूतों की समस्या को केवल जाति-भेद (वर्ण-भेद) ही नहीं मानते अपितु अर्थ-विषमता भी इसके मूल में स्वीकार करते हैं।

प्रेमचन्द ने धर्म का सामन्तीय शोषक रूप 'सेवासदन' में महन्त रामदास का चित्रण करके प्रकट किया था। 'कर्मभूमि' में भी महन्त आशाराम गिरि मठाधीश बने हुए हैं। प्रेमचन्द ने उनके राजसी ठाठ का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। अमरकान्त मुश्किल से ही महन्त महाराज के दर्शन कर पाता है। सोने की कुर्सी और मखमल के गद्दे पर महन्त महाराज विराजमान होते हैं। उनके विलासपूर्ण भण्डार को देखकर अमरकान्त मन में कहता है—"ठाकुरजी के नाम पर धन का कितना अपव्यय होता है!" इस महन्त की जमींदारी में भी गरीब किसानों पर अत्याचार ढाये जाते हैं, जबरदस्ती लगान वसूल किये जाते हैं। धर्म का यह रूप भी पूँजी और सत्ता के सामन्तीय दोषों से भरा है। इसके विरुद्ध जनता का असन्तोष भड़कता है। इन दुश्चरित्र पण्डे-पुजारियों और महन्तों की पोल खोलता हुआ एक अछूत चौधरी कहता है—"यहाँ के पण्डे-पुजारियों के चरित्र सुनो तो दाँतों-तले उँगली दबालो, पर ये यहाँ के मालिक हैं और हम भीतर कदम नहीं रख सकते!"

प्रेमचन्द के कितने ही आलोचकों ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी मानकर उसके गांधीवादी आदर्शवाद की खिल्ली उड़ाई है। पर हमें तो 'कर्मभूमि' प्रेमचन्द की यथार्थ रचना प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि 'कर्मभूमि' में समझौता, हृदय-परिवर्तन और अहिंसा आदि सब तत्त्व गांधीवादी हैं। किन्तु प्रेमचन्द ने इनका प्रयोग इसीलिए किया है कि देश की तात्कालिक राजनीति का ऐसा ही रूप था। एक वस्तुवादी लेखक के नाते प्रेमचन्द ने जो-कुछ देखा, जिस रूप में देखा, वही चित्रित कर दिया। गांधीजी के प्रभाव से देश-भर की नेतागिरी का यही रूप बना हुआ था। जिस नीति ने गांधी-

इरविन पैक्ट को जन्म दिया; जिस नीति ने भगतसिंह और उसके साथियों को फाँसी दिया जाना न्याय-संगत माना; जिस नीति के कारण स्वार्थी और ढोंगी पूँजीपति और जमींदार भी राष्ट्रभक्त बन गए, उसी नीति का उच्चस्वर तो प्रेमचन्द ने अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। उनका आदर्श पात्र अमरकान्त संघर्ष में पड़ता है, शोषित जनता को जगाता है। महन्त के अत्याचारों के विरुद्ध लोग संगठित हो जाते हैं। जनता उत्तेजित हो जाती है। स्वामी आत्मानन्द जनता को तैयार करते हुए कहते हैं—"आओ, आज हम सब चलकर महन्तजी का मकान और ठाकुरद्वारा घेरे लें और जब तक वह लगान बिल्कुल न छोड़ दें, कोई उत्सव न होने दें।" लोग कुछ कर गुजरने को तैयार हो जाते हैं। पर अमरकान्त सिर पीट लेता है और इस उत्तेजना को ठण्डा करता हुआ कहता है—"जिस रास्ते पर तुम जा रहे हो, वह उद्धार का रास्ता नहीं है, सर्वनाश का रास्ता है।" निश्चय ही उस युग का नेता उस समय यही कर रहा था। वह हर स्थान की उत्तेजना को समझौते से शांत करने में प्रयत्नशील था। विद्रोहियों और क्रान्तिकारियों को वह आग्नेय नेत्रों से देखता था, अवांछित प्राणी समझता था। अमरकांत भी आत्मानन्द के बारे में यही सोचता है, "सचमुच आत्मानन्द आग लगा रहा है। अगर वह गिरफ्तार हो जाय, तो इलाके में शांति हो जाय। स्वामी साहसी है, यथार्थ वक्ता है, देश का सच्चा सेवक है, लेकिन इस वक्त उसका गिरफ्तार हो जाना ही अच्छा।" क्या उस समय के कांग्रेसी नेताओं और स्वयं महात्मा गांधी की विद्रोहियों और साहसी क्रान्तिकारियों के प्रति यही मनोवृत्ति नहीं थी ? प्रेमचन्द ने जो देखा, वही चित्रित कर दिया। उस समय इसी समझौतावादी नीति का बोलबाला था। एक तरह से यह तर्क-बुद्धि पर भी खरी उतर रही थी। विद्रोह और सशस्त्र क्रांति से अंग्रेजी शासन को हटाना असम्भव सा प्रतीत हो रहा था। इसी से गांधीजी ने सत्याग्रह, समझौता और वर्ग-समन्वय का रास्ता अपनाया था। उन्हें अंग्रेजों की शक्ति का भय था। यही भय प्रेमचन्द के अमरकान्त को है और इसी भय से वह जनता के आवेश को ठण्डा करता है—"अगर धैर्य से काम लोगे तो सब कुछ हो जायगा। हुल्लड़ मचाओगे, तो कुछ न होगा। उल्टे और डण्डे पड़ेंगे।" प्रेमचन्द आरम्भ से ही सुलह-शान्ति की नीति को अपनाये हुए थे, जिसे उन्होंने टॉल्सटॉय से लिया, गांधी से लिया। और उसी नीति का जादू वह प्रत्यक्ष देख रहे थे, अतः उसी का चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है।

प्रेमचन्द ने आज की शिक्षा की भी आलोचना की है। "हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है।···कचहरियों में पैसे का राज है, यहाँ उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय। देर से आइये, तो जुर्माना, किताबें न खरीद सकिये तो जुर्माना, कोई अपराध हो जाय, तो जुर्माना। शिक्षालय क्या है जुर्मानालय है।···यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला घोंटने वाले, पैसे के लिए आत्मा को बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है ?" यह महँगी तालीम गरीबों के लिए तो असम्भव ही है। इसमें जितना खर्च करो उतना ही बड़ा ओहदा मिलता है। और वातावरण भी इसका तड़क-भड़क और फैशन का है। स्वयं हमारे अध्यापक फैशन के

गुलाम हैं। 'सादा जीवन और उच्च विचार' का सिद्धांत यहाँ से कोसों दूर है।

'कर्मभूमि' में भारतीय नारी के जागरण का शंखनाद भी पाया जाता है। सुखदा, सकीना और नैना जाग्रत भारत की नारियाँ हैं।

कला की दृष्टि से कथा की शिथिलता के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण में भी कुछ भूलें की हैं। मुन्नी और सकीना के परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक आधार पर्याप्त पुष्ट नहीं है। कुछ अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी सजीव नहीं बन सका।

इस प्रकार प्रेमचन्द के 'गोदान' से पूर्व के उपन्यासों के उपर्युक्त संक्षिप्त अध्ययन से उनकी औपन्यासिक चेतना तथा मनोविकास का परिचय हुआ होगा। प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना कितनी व्यापक थी, यह उनके भिन्न-भिन्न उपन्यासों में व्यक्त सामाजिक समस्याओं से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने हमारे जीवन की प्रायः समस्त बुराइयों को अपनी रचनाओं में उघाड़ कर रख दिया। समस्याओं के हल के जो-जो सुझाव या संकेत उन्होंने दिये हैं, उनसे चाहे कोई सहमत न हो···और मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्द स्वयं अपने सुझावों और संकेतों से अन्त तक आते-आते सहमत नहीं रहे थे···पर समस्याओं के कारणों की खोज-बीन में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। एक वस्तुवादी कलाकार के नाते वह जो-कुछ जीवन में अनुभव करते गये, उसे अपने उपन्यासों में उतारते गए। 'गोदान' में उनकी समाज-चेतना और कला ने विकास की एक और मंजिल तय की। 'सेवासदन' मोड़ का एक पत्थर था—न केवल प्रेमचन्द के मनोविकास और औपन्यासिक चेतना का, बल्कि समग्र हिन्दी साहित्य का मोड़ का पत्थर था। 'प्रेमाश्रम' दूसरा मोड़ था जिससे कृषक-जीवन और जमींदारी पद्धति का खाका प्रस्तुत किया; 'रंगभूमि' तीसरा मोड़ बना जिसने पूँजीवाद और सामन्तशाही के विरुद्ध संघर्ष की राजनैतिक चेतना उत्पन्न की, और 'गोदान' चौथा मोड़ है, जिसमें हम उनकी कला और सामाजिक चेतना दोनों में विकास की नई दिशा पाते हैं, जो न केवल प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना का नया मोड़ है, अपितु समग्र हिन्दी साहित्य की दिशा-परिवर्तनकारी रचना कही जा सकती है।

5

'गोदान' में नया मोड़ : कला का चरमोत्कर्ष

पिछले दोषों का परिहार

'गोदान' प्रेमचन्द की अन्तिम पूर्ण रचना है और निर्विवाद-रूप से सर्वश्रेष्ठ है। इसमें प्रेमचन्द की कला अपने चरम विकास पर है। प्रेमचन्द के इससे पूर्व के उपन्यासों में कला और चिन्तन-सम्बन्धी जो कुछ दोष रह गए थे, प्रेमचन्द ने उन दोषों का परिहार भी इस रचना में किया है। यही नहीं, 'गोदान' हिन्दी-साहित्य की एक युग-प्रवर्त्तनकारी रचना है।

आलोचकों ने प्रेमचन्द की उपन्यास-कला पर कई आक्षेप किये हैं। शुक्लजी ने कहा था—'प्रेमचन्द समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़कर' आते हैं। प्रायः सभी समीक्षकों को यह बात अखरी है कि प्रेमचन्द यथार्थ से शुरू करके अपने उपन्यासों को एक विशेष ढंग के काल्पनिक आदर्शवाद—किसी आश्रम, सदन या सुधार के 'यूटोपिया' (utopian) पुट द्वारा अथवा समझौते-हृदय-परिवर्तन के रूप में समाप्त करते हैं। फलतः उपन्यासों का अन्त एक ही ढंग का अकलात्मक-सा हो गया है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के निम्न आक्षेप हैं—(1) "प्रेमचन्द का कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का आदर्श है।" (2) उनके "मानसिक संघटन में कल्पना का अभाव है। कल्पना के अभाव के साथ उनमें तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फलस्वरूप निर्मित होने वाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का अभाव है। प्रेमचन्दजी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते।" (3) उनका कहना है कि "समय ने प्रेमचन्द का उतना साथ नहीं दिया, जितना प्रेमचन्द ने समय का दिया है।" अर्थात् व्यंग्य-रूप में वाजपेयीजी ने कहा कि प्रेमचन्द की रचनाएँ सामयिक हैं। "वे सामयिक आँधी के साथ उड़ते देखे जा सकते हैं। आँधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण में वे स्थिति का अध्ययन नहीं कर सकते और न उनके परिणाम हमें अवगत करा सकते हैं।"(4) "घटना-बाहुल्य और वर्णनों का अनावश्यक विस्तार उनमें बहुत अधिक है। इसलिए उनकी कला में स्थूलता आ गई है।" (5) "चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला का सौष्ठव प्रेमचन्दजी में उच्चकोटि का नहीं हो पाया। इसका कारण वही स्थूल आदर्श-

वादिता है।" इसीलिए "पात्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की अपेक्षा कथानक का प्रभाव अधिक है।" "सब मिलाकर कथानक, चरित्र, विचार-सूत्र और कला की निर्मिति में प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचे।" वाजपेयी-जी ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी ही माना है, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को वह कोई वस्तु नहीं मानते।

यद्यपि नन्ददुलारे वाजपेयी के उपर्युक्त आक्षेपों से पूरी तरह सहमत होना कठिन है, तथापि 'गोदान' के पूर्व की रचनाओं की दृष्टि से उनमें पर्याप्त सत्यता पाई जाती है। 'गोदान' के प्रकाशन के बाद सम्भवत: वाजपेयी की उपर्युक्त मूल धारणा में भी परिवर्तन हुआ। यद्यपि सर्वथा निर्दोष रचना कहने का साहस नहीं किया जा सकता, फिर भी यह निश्चित है कि 'गोदान' में उपर्युक्त दोष प्राय: नहीं पाये जाते। नीचे हम उनके पहले उपन्यासों की तुलना में 'गोदान' की उत्कृष्ट कला का परिचय देते हैं।

निश्चित ही प्रेमचन्द के ऊपर पहली रचनाओं में युग का एक गुलाबी पर्दा पड़ा हुआ था। उसी के कारण वह एक ही प्रकार का आदर्शवाद सब रचनाओं में अपना कर चले। वह आदर्शवाद है गांधीवादी सत्य, अहिंसा, समझौता, हृदय-परिवर्तन और वर्ग-समन्वय का आदर्श। इस आदर्श के आग्रह से कला में भी कई प्रकार से त्रुटियाँ पैदा हुई हैं और विचार-तत्त्व और जीवन-दर्शन भी एक ही ढंग का सीमित-सा बनकर रह गया है। सामयिकता का दोष भी कुछ-कुछ इसी कारण आ गया। यह आदर्शात्मक प्रवृत्ति जहाँ 'सेवासदन', 'गबन', 'निर्मला' आदि में निभ गई और कला में विशेष व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ, वहाँ 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में नहीं निभ पाई और बहुत अखरती है। वास्तव में पहली तीन रचनाओं में निभने का कारण भी यही है कि उनमें राजनैतिक वर्ग-संघर्ष का अभाव है। बाद की चार रचनाओं में समस्याओं का रूप राजनैतिक और आर्थिक है। यहाँ गांधीवादी समझौता, हृदय-परिवर्तन एक मजाक ही बना हुआ प्रतीत होता है। 'प्रेमाश्रम' में जमींदार मायाशंकर रियासत छोड़ देता है। ज्ञानशंकर पछताने लगता है। अपील में अभियुक्त छूट जाते हैं। सबका हृदय-परिवर्तन होता है और एक आदर्श ग्राम का निर्माण किया जाता है। यह स्थिति न तो युग का सत्य थी और न ही भावी सत्य। इसी से यह अखरती है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया। 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में एक ही तरह के नेता और उनका एक-सा संघर्ष दिखाई देता है। इस समझौतेवादी आग्रह से कई स्थानों पर रस-व्याघात भी उत्पन्न हुआ है। जैसे, जहाँ 'कर्मभूमि' में जनता उत्तेजित होती है, विद्रोह करने के लिए तैयार हो जाती है और पाठक भी यही चाहता है कि जनता अपना असन्तोष उग्र रूप में प्रकट करे, वहाँ प्रेमचन्द अमरकान्त द्वारा शान्ति का पाठ पढ़ा कर सारे उत्साह और जोश को ठण्डा कर देते हैं। यह रस-दोष नहीं तो क्या है? ऐसी स्थितियाँ 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' में भी एकाधिक स्थानों पर पाई जाती हैं।

'गोदान' में न सुधारवादी दृष्टि है, न प्रचारवादी। यहाँ न किसी आश्रम की स्थापना हुई है और न ही किसी गांधीवादी नेता की अवतारणा। यहाँ प्रेमचन्द की दृष्टि

यथार्थवादी सत्य से ओतप्रोत है। यहाँ होरी के त्राण के लिए किसी लीडर की कल्पना नहीं की गई। उसे अपनी जीवन-नौका को स्वयं खेने दिया गया है। 'गोदान' एक शुद्ध यथार्थवादी कलाकृति है। यहाँ प्रेमचन्द गांधीवादी विचारधारा से आगे स्वानुभूत जीवन दर्शन प्रस्तुत करते हैं। मेहता का जीवन-दर्शन उनकी तीव्र बौद्धिक दृष्टि का परिचायक है, जिसके अभाव का आक्षेप आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लगाया था। यह दर्शन केवल गांधीजी द्वारा सिखाया गया दर्शन नहीं है। चिन्तन और मनन का निजीपन इसमें पाया जाता है। 'गोदान' को सामयिक रचना भी कदापि नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द ने उसके सामयिक रूप को युग-युग के मानवीय सत्य का रूप दिया है। यद्यपि सामयिकता का बहुत बड़ा दोष उनकी 'गोदान'-पूर्व की रचनाओं में भी नहीं है, फिर भी आन्दोलनों का एक-जैसा रूप, समस्याओं की समान रूपरेखा, नेतागिरी का एक-जैसा रूप कुछ रचनाओं में एकरसता का दोष अवश्य उत्पन्न करता है। 'गोदान' में यह बात नहीं है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'गोदान' से बहुत पहले प्रेमचन्द पर 'मनोविज्ञान के कच्चे' होने का दोष लगाया था। यह बात भी कुछ अंशों तक सत्य है। कई स्थानों पर प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक भूलें की थीं। कई पात्रों के चरित्र-परिवर्तन में वह पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण नहीं दिखा सके। जैसे, 'कर्मभूमि' के मुन्नी, सकीना, सलीम, 'गबन' की जोहरा, 'सेवासदन' के कृष्णचन्द आदि पात्रों का चरित्र-परिवर्तन ऐसा ही है। 'निर्मला' में रंगीली पहले तो बड़े जोर से कहती है कि हम निर्मला से अपने पुत्र का विवाह नहीं करेंगे, किंतु निर्मला की माता का पत्र पढ़ कर वह तुरन्त विधवा के प्रति उदारता दिखाने और निर्मला का हाथ लेने का आग्रह करने लगती है। यह स्थिति अमनोवैज्ञानिक ही है। इस तरह की भूलें पहले उपन्यासों में कई स्थानों पर दिखाई देती हैं। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर की आत्महत्या तो अमनोवैज्ञानिक है ही, अन्य पात्रों की इतनी हत्याओं में भी कोई तुक नहीं दिखाई देती। प्रेमचन्द ने कई स्थानों पर अपने आदर्शों या उद्देश्यों के विरुद्ध पड़ने वाले पात्रों की अस्वाभाविक हत्याएँ करा दी हैं। कहीं-कहीं समस्या को न सुलझता पाकर वह आत्महत्या करा देते हैं। 'रंगभूमि' में विनय और सोफी की हत्याएँ ऐसी ही हैं। 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द और 'कायाकल्प' की देवप्रिया-जैसे विचित्र पात्र भी किसी-किसी रचना में ऐसे हैं जो शायद ही कहीं इस धरती पर दिखाई दें। राय कमलानन्द प्रचण्ड झुलसती गरमी में भी मोटा ऊनी कम्बल ओढ़ते हैं। "गरमी में आग खाते हैं, आग पीते हैं।" "विष को वह दूध-घी समझता है।" "जाड़े में हिमकणों का सेवन" करता है।

'रंगभूमि' के पात्रों में एक और अस्वाभाविकता यह दीखती है कि कई निकटतम सम्बन्धी पात्रों को जानबूझकर विरोधी पक्षों में खड़ा कर दिया गया है। राजा महेन्द्रकुमार सिंह असत् पक्ष के हैं, उनकी पत्नी इन्दु सत् पक्ष की। भैंरों और उसकी पत्नी का भी यही हाल है। विनय और उसके बहनोई महेन्द्रकुमार सिंह, जॉनसेवक और उसके बेटा-बेटी में भी यही विरोध और विषमता है। यह कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। मानो अपने उद्देश्य की सरल पूर्ति के लिए लेखक ने जान-बूझकर ऐसी सृष्टि कर ली

हो। 'गोदान' में ऐसी अस्वाभाविकता प्रायः नहीं है। चरित्र-चित्रण पर इस रचना में प्रेमचन्द ने बल दिया है। पहले उपन्यासों में कुछ पात्रों का चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब गया था। परन्तु 'गोदान' में ऐसा कुछ नहीं। 'गोदान' में प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ हमने आगे प्रकट की हैं। उनकी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि, पात्रों के व्यक्तित्व को उभारने का सफल प्रयत्न 'गोदान' में पाया जाता है। यहाँ पात्र केवल वर्गगत नहीं हैं, उनमें व्यक्तित्व की सजीव रेखाएँ हैं।

प्रेमचन्द ने अपने आरम्भिक जीवन में घटना-वैचित्र्य-प्रधान उपन्यास और किस्से खूब पढ़े थे। यद्यपि वह उस रास्ते पर न चले, और जीवन की यथार्थ अनुभूतियों को ही उन्होंने अपने उपन्यासों में अपनाया, पर फिर भी आरम्भिक रचनाओं में कथा-वैचित्र्य और अद्‌भुत घटना-चक्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति उनमें थोड़ी-बहुत उसी प्रभाव से बनी रही। उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह सामान्य धारणा अवश्य बनती है कि वह अपने कथानकों में वैचित्र्य उत्पन्न करने के फेर में जहाँ-तहाँ अवश्य पड़ते रहे हैं। 'काया-कल्प' तो इस प्रवृत्ति का विचित्र उदाहरण है। 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'कायाकल्प' आदि रचनाओं में आकस्मिक घटनाओं और संयोगों (Coincidents) से उन्होंने बहुत काम चलाया है। उस आरम्भिक युग में सम्भवतः यह चमत्कारी ढंग अच्छा समझा जाता था। 'निर्मला' में बाबू उदयभानलाल की मृत्यु के संयोग को कथा-विकास का आधार बनाया गया है। पर प्रेमचन्द इन संयोगों को बहुत बार स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके। बाबू उदयभानलाल की मृत्यु के संयोग से लगता है कि जैसे लेखक ने अपनी कथा की आवश्यकता-पूर्ति के लिए जबरदस्ती की है। 'प्रेमाश्रम' की अत्यधिक हत्याएँ भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। 'गोदान' में दैविक संयोग और आकस्मिक घटनाएँ नहीं हैं। प्रायः सब घटनाओं के मूल में मानव-चरित्र की स्वाभाविक विचित्रता है। इसमें पात्र ही घटनाओं को जन्म देते हैं। कथा में अद्‌भुत चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति 'गोदान' में बिल्कुल नहीं है। इसी से समस्त घटना-चक्र और कथा-विकास स्वाभाविक लगता है। एकाध चमत्कारी स्थल प्रवृत्ति-वश इसमें आया है, जसे मेहता का एकदम पठान वेश में प्रकट होना, पर यहाँ ये प्रसंग वैसे अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते।

'गोदान' में कथानक के एक और दोष का परिहार हुआ है। पहले उपन्यासों में, सम्भवतः उपदेश-प्रधान उपन्यासों के प्रभाव से, प्रेमचन्द को कथा के पूर्व-संकेत देने की एक ऐसी आदत-सी पड़ी हुई थी, जिससे आगे की घटना और प्रसंग का पूर्वाभास पाठक को हो जाता था। अनेक स्थानों पर तो प्रेमचन्द ने अकारण ही ऐसा किया है। जैसे 'निर्मला' में जब निर्मला अपने विवाह की बातचीत सुनती है तो "उसके हृदय में एक विचित्र शंका" समा जाती है। उसके "रोम-रोम में एक भय का संचार" हो जाता है कि न जाने क्या होगा? इसके बाद जब वह स्वप्न देखती है कि जिस नाव पर चढ़कर वह नदी पार कर रही है वह नीचे से खिसक जाती है और उसके पैर उखड़ जाते हैं तब इन संकेतों से उसके जीवन की ट्रेजेडी का पूर्व आभास पाठक को हो जाता है। लेखक ने अपने जाने इससे पाठक की उत्सुकता बढ़ाने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसे संकेत

अवांछनीय ही कहे जा सकते हैं। कथा-योजना की कुशलता इसी बात में होनी चाहिए कि प्रत्येक घटना या प्रसंग पाठक को आश्चर्य में डालने वाला हो। प्रेमचन्द के उपन्यासों के आदि और अर्द्धविकास से ही अन्त का पता चल जाता है। फिर ऐसे अकारण संकेत तो सर्वथा अमनोवैज्ञानिक और अनावश्यक ही प्रतीत होते हैं। निर्मला के मन की यह अकारण ही शंका और भय किसी प्रकार मनोवैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अभी निर्मला के सामने अपने विवाह की विषमता या आपत्ति की कोई विशेष बात ही नहीं आई है। एक कुमारिका में ऐसी अज्ञात आशंका को दर्शाना अमनोवैज्ञानिक तो है ही, साथ ही यह पूर्व-संकेत वस्तु-शिल्प की दृष्टि से भी त्रुटिपूर्ण है। यदि पाठक को पहले ही कथा-सूत्रों का आभास हो गया तो मजा ही क्या ? शरत् के उपन्यासों में कथा के मोड़ों और घटनाओं का कोई पूर्वाभास नहीं होता। कब और कहाँ कहानी कैसे मुड़ जाएगी, यह पहले विदित नहीं होता। घटनाएँ एक के बाद एक आश्चर्यपूर्ण ढंग से अनपेक्षित प्रकट होती हैं। यह बात शरत् को कथा का जादूगर बनाती है। प्रेमचन्द में यह बात नहीं आ पाई थी।

'वरदान' के आरम्भ में भी यह वाक्य कहे गए हैं—"इस प्रकार संयोग ने आज उस विषैले विष का बीज बोया जिसने तीन ही वर्ष में कुल का सर्वनाश कर दिया।" इससे एक तरह प्रेमचन्द ने कथा का अन्तिम परिणाम ही कह डाला है। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह उत्सव का आयोजन कर रहे हैं, पर "किसी अनिष्ट की आशंका उन्हें हरदम उद्विग्न" कर रही है। कुछ पन्नों के बाद ही पाठक के सामने अनिष्ट प्रस्तुत हो जाता है। इस तरह के कितने ही उदाहरण प्रेमचन्द के उपन्यासों से दिए जा सकते हैं।

परन्तु 'गोदान' में अव्वल तो ऐसे संकेत है ही नहीं, प्रेमचन्द ने पुरानी आदत छोड़ दी है, यदि कहीं कोई एकाध है भी तो अकारण और अस्वाभाविक तो बिल्कुल नहीं है। एक उदाहरण देखिए—होरी ने गाय ली है। उसकी चिरअभिलाषा पूरी हो रही है। वह उल्लास से भरा है। वह गाय को द्वार के आगे बाँधना चाहता है। ऐसी गाय को देखकर ही तो लोगों को मालूम होगा, यह होरी महतो का घर है। यह पुरुष का मनोविज्ञान है। पर धनिया के भीरु नारी हृदय का सजीव मनोविज्ञान भी प्रकट हुआ है। गाय के आने से धनिया अपने उल्लास को दबाये रखती है। "इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई बड़ी बाधा न लाये, यह आशंका उसके हृदय में कम्पन डाल रही थी।" मानो वह भगवान को भी धोखा देना चाहती थी। भगवान् को भी दिखाना चाहती थी कि इस गाय के आने से उसे इतना आनन्द नहीं हुआ कि ईर्ष्यालु भगवान् कोई नई विपत्ति न भेज दें। होरी गाय को बाहर बाँधना चाहता है पर वह जिद् करके गाय को सात परदों के भीतर छिपाकर रखना चाहती है, भीतर बाँधती है। कहीं किसी की नजर न लग जाय ! दातादीन गाय देखने आते हैं। होरी खूब प्रशंसा करता हुआ गाय के नीचे का दूध बताता है। तब धनिया झट आकर कहती है—अरे ! इतना कहाँ है !" उसका नारी-हृदय कितना सजीव है ! उसे नजर लग जाने का डर है। दातादीन उसकी बात भाँप कर जाते हुए कहते हैं—बाहर न बाँधना, इतना कहे देते हैं।"

इस प्रसंग से यद्यपि भावी अनिष्ट की कुछ आशंका या आभास पाठक को होने लगता है, पर यह कितना मनोवैज्ञानिक है ! अकारण तो कुछ कहा ही नहीं गया। घनिया का 'नजर' से डरने वाला स्वाभाविक नारी-हृदय कितना मनोवैज्ञानिक सत्य लेकर आया है ! दातादीन का कथन भी कार्य-कारण रूप से प्रकट हुआ है। इससे पाठक के मन में कोई पूर्व धारणा दृढ़ नहीं हो पाती। प्रसंग अतीव रोचक बना रहता है।

"इनके उपन्यासों में घटनाओं की पुनरावृत्ति भी होती है। 'सेवासदन' में सुमन गंगा में डूबने जाती है, और फिर लौट आती है। कृष्णचन्द डूबने जाते हैं और डूब जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भी श्रद्धा डूबने चलती है, प्रेमाशंकर उसे बचाकर लौटा आते हैं। ज्ञानशंकर एक बार तो पानी से निकल आता है, पर दूसरी बार नदी में डूबकर ही सदा के लिए हृदय-दाह को शान्त कर देता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर को चोट खानी पड़ती है। 'रंगभूमि' में विनय घायल होता है, 'कायाकल्प' में चक्रधर के कन्धे में संगीन घुसती है और 'कर्मभूमि' में शान्तिकुमार घायल होते हैं—सबके सब एक ही-सी परिस्थिति में पड़कर—जनता और जनता के ऊपर अत्याचार करने वालों के बीच में पड़कर। 'कर्म-भूमि' में अंकित अदालत और अभियोग का स्थिति-चित्र प्रायः वैसा ही है जैसाकि 'गबन' 'कायाकल्प' और 'प्रेमाश्रम' में।"[1] श्री जनार्दन प्रसाद झा के इस कथन में भी पर्याप्त सत्यता है और जैसाकि हम कह चुके हैं, यह पुनरावृत्ति उसी विशेष गांधीवादी दृष्टिकोण के कारण ही विशेष रूप से आई है। परन्तु 'गोदान' की सम्पूर्ण विषय-सामग्री नई है; समस्त घटनाएँ नवीन हैं। कहीं पर भी ऐसा आभासित नहीं होता कि प्रेमचन्द ने पुरानी बातें ही दोहराई हैं। पहले उपन्यासों में पात्रों की चरित्र-परम्परा भी एक-सी थी। अपने सिद्धान्तों, मनोवृत्ति और प्रवृत्ति के नाते अधिकांशतः पात्र एक-जैसे होते हैं। चरित्र-निरूपण एक ही ढर्रे का है। परन्तु 'गोदान' में यह दोष भी पर्याप्त मात्रा में दूर हुआ है।

प्रेमचन्द की सामाजिक दृष्टि भी 'गोदान' में सर्वाधिक बढी-चढ़ी है। समाज की समस्याओं का जितना अधिक व्यापक और गहन रूप 'गोदान' में है, वैसा पहले क ी किसी एक रचना में नहीं मिलता। वर्ग-विषमता का जैसा सजीव चित्रण 'गोदान' में है, वैसा पहले किसी रचना में नहीं आ सका। इसी कारण भाव-संवेदनाएँ भी गोदान में अत्यन्त गहरी हैं। भाव-सौन्दर्य और कला का जैसा सुन्दर सामंजस्य गोदान में है, वैसा अन्य रचनाओं में नहीं। 'गोदान' की भाषा-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है। उसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और व्यंग्यात्मक व्यंजना बहुत सुन्दर है। पहले की रचनाओं में प्रेमचन्द मुसलमान पात्रों से अनावश्यक रूप में उर्दू शब्द का अधिक प्रयोग कराते थे। भाषा का यह भेद भी प्रेमचन्द ने 'गोदान' में हटा दिया।

निश्चित ही 'गोदान' अपनी यथार्थवादी दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में एक दिशांतर-

---

1. जनार्दन प्रसाद झा : प्रेमचन्द की उपन्यास-कला, पृष्ठ 40।

कारी रचना सिद्ध हुई है। साहित्य में पहली बार एक दीन-हीन निम्नवर्ग किसान को नायक बनाकर उसके जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ। 'गोदान' कृषक-जीवन की लोक-संस्कृति का प्रतीक है। वह भारत की 80 प्रतिशत जनता की मूक वाणी का चीत्कार बना है। इतने बड़े सामाजिक चित्रपट पर भारतीय साहित्य की यह पहली अद्‌भुत रचना कही जा सकती है। रवि बाबू, शरत् तथा कन्हैयालाल मुंशी-जैसे श्रेष्ठ भारतीय साहित्यकारों की रचनाएँ भी इतने विस्तृत चित्रपट को नहीं छू सकीं।

6

गोदान की तात्त्विक समीक्षा

1. भाव और रस : रसवादी समीक्षा

रस-भाव साहित्य का प्राण-रूप अनिवार्य तत्त्व है। इसके बिना कोई रचना साहित्य (काव्य) की परिधि में आ ही नहीं सकती। बहुत-से आधुनिक आलोचक साहित्य-समीक्षा —विशेषकर आधुनिक साहित्य की समीक्षा में रस-तत्त्व की अवहेलना करने लगे हैं। उनका विचार है कि रस के बंधे-बंधाये चौखटे से नवसाहित्य की परख नहीं हो सकती। प्रगतिवादी और नये कवितावादी आलोचक भारतीय रस-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख 'रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य' में कहा है—"साहित्य विकासमान है, और वह एक महान् सामाजिक क्रिया है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बनाये थे वे आज नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जायगा या फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं होती।···जीवन की धाराएँ एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेंड़ बाँध कर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बढ़ाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूँढ़ने होंगे।···इसलिए साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं या इससे ज्यादा, और 'गबन' में श्रृंगार है या रसाभास। इन संचारी-व्यभिचारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयंप्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक न हो सकेगा।"

रस और रस-सिद्धान्त के बारे में इस धारणा के कई कारण हैं। एक तो रस के उदात्त रूप की प्रतिष्ठा—ऐसी कि जिसमें जीवन के प्रगतिशील तत्त्व समाहित रहते हैं—प्राचीन रस-आचार्य नहीं कर सके थे। उनके लिए संभवतः श्रृंगार रस की कामुकता-पूर्ण उक्ति भी रस का उदाहरण थी, और त्याग, कर्त्तव्य, साहस आदि उदात्त भावनाओं

से परिपूर्ण प्रेम का चित्रण भी शृंगार रस का उदाहरण था। इन दोनों में श्रेष्ठता की दृष्टि से परख का विचार उनके सम्मुख था ही नहीं। दूसरे, आज तक हम अपनी रस-दृष्टि केवल इस बात में ही सीमित किए हुए हैं कि अमुक रचना में कौन-कौन सा रस है, किस रस की प्रधानता है। अर्थात् हमारी रस-दृष्टि केवल रस-गिनाने तक ही सीमित रहती है। हम भावों और रसों की जीवनोपयोगिता तथा उनके आधार पर कवि या लेखक की संपूर्ण रचनाप्रक्रिया का विश्लेषण नहीं करते, और इस प्रकार रस-सिद्धान्त एक सीमित समीक्षा-सिद्धान्त प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका समाज और जीवन की प्रगति से विशेष सम्बन्ध नहीं; कि वह वैयक्तिक आनन्दानुभूति-मात्र है।

हमने रस-सिद्धान्त को समीक्षा का मानदण्ड सिद्ध करते हुए रसों के उदात्त रूप-स्वरूप की विस्तृत विवेचना और सब तत्त्वों से समन्वित रसवादी समीक्षा की रूपरेखा तथा उसके आधार पर नवसाहित्य —विशेषतः नई कविता—की समीक्षा का प्रयत्न अपनी पुस्तक 'उदात्त रस सिद्धान्त और नई कविता' में किया है। यहाँ तो हम केवल संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि रस की अवहेलना से काम न चलेगा। रसतत्त्व में जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को समाहित करने की शक्ति है। जीवन के वैषम्य पर क्षुब्ध, करुणार्द्र या घृणा से प्लावित हुए बिना अर्थात् भावानुभूति या रसानुभूति के बिना कोई व्यक्ति वर्गहीन या वैषम्यहीन समाज के निर्माण में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता; या यों कहें कि काव्य या साहित्य में सामाजिक विषमता के प्रति लेखकों की घृणात्मक तथा करुणामय प्रतिक्रिया ही—जो निश्चय ही पाठक के लिए रसानुभूति होती है···वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक होगी। जब यह कहा जाता है कि 'गोदान' कृषक-जीवन की 'ट्रेजेडी' है तो क्या इससे यह अभिप्राय है कि उसमें कृषक-जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं? इससे निश्चित ही जीवन की करुणा अभिप्रेत है जो करुण रस ही है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'गोदान' में शोषकों के अनेक रूप हैं तो इसका सीधा मतलब यह है कि 'गोदान' में घृणा या बीभत्स रस के अनेक आलम्बन हैं। समाज की बुराइयाँ, कुरीतियाँ, अत्याचार, अनाचार, अन्याय सब जो चित्रित होते हैं, वे घृणा या बीभत्स रस के विषय ही तो हैं।

आज के हमारे अनेक आलोचक समीक्षा के कुछ बाह्य मानदण्डों या सिद्धान्तों को सत्य मानकर समीक्षा करना चाहते हैं। साहित्य के मूल तत्त्व भाव-रस की वे अव-हेलना करते प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा आग्रह है कि साहित्य-समीक्षकों को युग-साहित्य के नियमों की विवेचना करते हुए साहित्य के मूलभूत शाश्वत मानदण्ड—रस या उदात्त भाव-रस—को नहीं भुलाना चाहिए। चाहे हम महाकाव्य के लक्षणों या नियमों की विवेचना कर रहे हों या उपन्यास के तत्त्वों की, हमें सदा उन तत्त्वों को प्रमुखता देनी चाहिए जो साहित्य के मूल तत्त्व हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए छन्द-नियम, सर्ग-संख्या, मंगलाचरण आदि बाह्य बातों को भी उतना ही आवश्यक ठहराया जितना-रस परिपाक और उदात्तता आदि अन्तरंग तत्त्वों को। महाकाव्य के व्यापक और शाश्वत मानदण्डों के आधार पर उसके अनिवार्य

अन्तरंग तत्त्वों और परिवर्तनीय बाह्य तत्त्वों में भेद जताकर पूर्ण विवेचना आचार्यों ने नहीं की। अब यदि कोई समीक्षक किसी आधुनिक महाकाव्य में मंगलाचरण या प्राचीन छन्द-नियम आदि न पाकर उसे दूषित ठहरने लगे, तो उसकी आलोचना कितनी हास्यास्पद होगी ! खेद की बात है कि आज भी हम वही गलती दोहरा रहे हैं। उपन्यास, कहानी आदि आधुनिक साहित्य-विधाओं के तत्त्व-निरूपण में हम पाश्चात्य समीक्षकों के अनुकरण पर मूल तत्त्व को भुला रहे हैं। उपन्यास-कहानी के तत्त्व प्रकाशित करते हुए बहुत-से आलोचक भावानुभूति···रस-भाव तत्त्व—को गिनाते ही नहीं। प्रेमचन्द के उपन्यासों की समीक्षा करने वाले कई समीक्षकों ने भाव-संवेदनाओं की दृष्टि से मूल्यांकन छोड़ ही दिया है। क्या प्रेमचन्द की महानता केवल इस बात में है कि उन्होंने समाज की विविध समस्याओं का बोध कराया, जो कार्य कि एक समाज-शास्त्री भी कर सकता था ? मैं समझता हूँ, प्रेमचन्द इसलिए महान् हैं कि उन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर हमारी भाव-संवेदनाएं जगाईं, जो युग के महान् सांस्कृतिक निर्माण से सम्बन्ध रखती हैं। अनुभूति-क्षेत्र के रागात्मक तत्त्वों के माध्यम से ही प्रेमचन्द के प्रगतिशील तत्त्वों का अध्ययन करना समीचीन है। इसके बिना उनकी समीक्षा अधूरी ही कही जा सकती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति उनमें व्यक्त उदात्त भाव और रस ही हैं।

बीभत्स[1] रस का प्रसार

प्रेमचन्द के उपन्यासों का बीज भाव घृणा ही है। उनके उपन्यासों में हमें समाज की विकृतियों के अनेक चित्र मिलते हैं। प्रेमचन्द ने समाज की इन विकृतियों के प्रति घृणा से भर कर ही साहित्य-रचना की। एक तरह से घृणा का भाव ही उनका मूल प्रेरक भाव है। स्वयं प्रेमचन्दजी ने स्पष्ट कहा है—"पाखण्ड, धूर्त्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी।"[2] इतने व्यापक चित्रपट पर सामाजिक बुराइयों का अवलोकन शायद ही किसी अन्य लेखक ने किया हो। हमारी वैवाहिक पद्धति की विकृतियाँ, बेमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, नारी का उत्पीड़न, वेश्याजीवन का कलंक, विधवा-जीवन की विडम्बना, सामन्तीय या जमींदारी तथा पूँजीवादी शोषण, धार्मिक ढोंग, महन्तों और मठाधीशों की दुश्चरित्रता, अन्याय और धूर्त्तता, छुआछूत का कलंक, वर्ण-भेद, नशेबाजी, अन्धविश्वास, संकुचित संकीर्ण मनोवृत्ति, रिश्वतखोरी, धर्मभेद, हिन्दू-मुसलिम तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक सांप्रदायिकता, स्वार्थपरता, राष्ट्रीय भावना का अभाव, झूठा अहम्, झूठी शान जताने की प्रवृत्ति, पुलिसवालों के हथकण्डे और अत्याचार, ब्रिटिश नौकरशाही के जुल्म, गाँव का विकृत

---

1. बीभत्स रस के सही रूप-स्वरूप के अध्ययन के लिए हमारा थीसिस 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' या 'रससिद्धान्त और घृणा भाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पढ़ें।

2. प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा—पृ० 150

महाजनी पूँजीवाद तथा अन्य अनेक सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियाँ आदि अनेक सामाजिक विकृतियाँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में उभर कर आई हैं। इन सब बुराइयों के प्रति घृणा उत्पन्न करके स्वस्थ समाज के निर्माण की प्रेरणा ही प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा है। बीभत्स रस के उपर्युक्त अनेक आलम्बन उनके उपन्यासों में पाये जाते हैं। यह बीभत्स रस या उदात्त घृणा भाव ही है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों को सबल और सशक्त रचनाएँ सिद्ध करता है। इसी के आश्रय सामाजिक बुराइयों के मूलोच्छेदन की प्रेरणा हमें प्राप्त होती है। उनके 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' निश्चित रूप से बीभत्स-रस-प्रधान उपन्यास हैं। अन्य उपन्यासों में भी बीभत्स रस का पर्याप्त विस्तार पाया जाता है।

शोषक : शोषण के विविध रूप

गोदान में बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। इसमें घृणा के अनेक आलम्बनों का प्रसार है। यद्यपि इस रचना का प्रधान रस करुण ही है, तथापि बीज भाव घृणा ही है। महाजनी शोषण, जमींदारी शोषण, धार्मिक शोषण, और वर्ग विषमता की यह मुँह-बोलती तस्वीर है। 'गोदान' कृषक-जीवन की अत्यन्त करुण कहानी है। करुण परिस्थितियाँ अधिकतर शोषण, अत्याचार और अन्याय का परिणाम हैं। अतः इस उपन्यास में यद्यपि प्रधान रस करुण ही है किन्तु उसके साथ-साथ बीभत्स रस की व्याप्ति भी आद्योपान्त है। बीभत्स रस और करुण रस का सह-अस्तित्व और उदात्त प्रसार ही 'गोदान' की बड़ी शक्ति है। बीभत्स रस के अनेक प्रकार के आलम्बन प्रकट हुए हैं। गरीबों का शोषण करने वाले, बेगार लेने वाले, नज़र-नज़राने, डाँड तथा अपने धार्मिक या सामाजिक विनोद के लिये गरीबों से जबरदस्ती चन्दा लेने वाले रायसाहब अमरपालसिंह, उनके बेईमान, आचारभ्रष्ट और गरीब किसानों पर अत्याचार करने वाले, लगान-वसूली की रसीद न देकर दुबारा वसूल करने वाले, बेगार लेने वाले और दरपर्दा व्यभिचार करनेवाले नोखेराम-जैसे कारिन्दे; मंगरू शाह, पंडित दातादीन तथा झिंगुरीसिंह-जैसे निर्दयी सूदखोर महाजन, पटेश्वरी-जैसे स्वार्थी और लोभी पटवारी; परंपरापंथी, अन्यायी और स्वार्थी पंच; रिश्वतखोर, स्वार्थी और अन्यायी पुलिस दारोगा, धर्म की ओट में शोषण करने वाले, चालबाज़ तथा छुआ-छूत, ऊँच-नीच और जातपात का भेद रखने वाले स्वार्थी पंडित दातादीन और उनके लम्पट पुत्र मातादीन; किसानों की ऊख कम तोलने वाले, मजदूरों का शोषण करने वाले और रसिक-लम्पट बेईमान मिल-मालिक खन्ना, तिलकधारी, ढोंगी और लम्पट ब्राह्मण, काश्मीरी गपड़ू की स्वच्छन्द लड़कियाँ; ओंकारनाथ-जैसे स्वार्थी और दुर्बल प्रकृति पत्रकार आदि अनेक पात्र घृणा के पूर्ण आलम्बन हैं।

'गोदान' में शोषण के विविध रूप मिलते हैं : 1. सामन्तीय शोषण या जमींदारी पद्धति-द्वारा शोषण। इसके अन्तर्गत रायसाहब अमरपालसिंह-जैसे जमींदार और उनके कारिन्दे आते हैं। रायसाहब अन्यायपूर्वक लगान वसूल करता है, बेदखल करता है और असामियों को तंग करता है, उनसे बेगार लेता है, डाँड़, नज़र-नज़राने वसूल करता है

उसका एक बीभत्स चित्र देखिये : रायसाहब अपने धार्मिक और सामाजिक ढोंग और विनोद के लिए धनुष-यज्ञ की तैयारियाँ करा रहे हैं। अपने असामियों से बेगार ले रहे हैं। एक चपरासी आकर कहता है—"सरकार बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। कहते हैं, जबतक हमें खाने को न मिलेगा, हम काम न करेंगे।"

"रायसाहब के माथे पर बल पड़ गये। आँखें निकालकर बोले—"उन दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया गया, तो आज यह नई बात क्यों? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है, और इस मजूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"

यह अन्यायी, ढोंगी जमींदार जो अभी-अभी होरी के आगे नीति और धर्म की बातें कर रहा था, एकदम कैसा बदल गया! ये जमींदार जो अपनी झूठी शान रखने के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाते हैं, कभी राष्ट्रवादी बनते हैं और कभी अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजभक्त, जिनका दान-धर्म कोरा पाखण्ड है, गरीबों का खून चूस-चूस कर जो अपने लम्बे-चौड़े परोपजीवी कुन्बे को अन्याय से पालता है, जो पत्र-पत्रिकाओं का मुँह बन्द रखने के लिए पचगुणा चन्दा देता है, हमारी तीव्र घृणा जगाता है। राजा सूर्य प्रतापसिंह भी ऐसे ही धूर्त्त हैं। मेहता उनके बारे में कहता है—"लखनऊ में आप किसी दूकानदार, किसी अहलकार, किसी राहगीर से पूछिये,उनका नाम सुनकर गालियाँ देगा।"

और यह नोखेराम! कारिन्दा है। "वेतन तो दस रुपये से ज्यादा न था, पर एक हजार साल की ऊपर की आमदनी थी; सैकड़ों आदमियों पर हुकूमत, चार-चार प्यादे हाजिर, बेगार में सारा काम हो जाता था।" बेईमान और धूर्त्त! होरी ने लगान का सारा हिसाब चुकता कर दिया। पर यह कारिन्दा दो साल की बाकी निकालकर प्यादा भेज देता है। क्योंकि रसीद तो उसने दी नहीं थी, क्या सबूत है कि लगान चुका दिया? होरी सन्नाटे में आ जाता है। गोबर गर्म होकर नोखेराम के पास गया और सबके सामने पूछा—"यह क्या बात है कारिन्दा साहब, कि आपको दादा ने हाल तक का लगान चुकता कर दिया, और आप अभी दो साल की बाकी निकाल रहे हैं? यह कैसा गोलमाल है?" नोखेराम जब रौब दिखाता है तो वह फटकारता हुआ साफ कह देता है—"···इसी गाँव से एक सौ सहादतें दिलाकर साबित कर दूँगा कि तुम रसीद नहीं देते। सीधे-सादे किसान हैं, कुछ बोलते नहीं, तो तुमने समझ लिया किसान काठ के उल्लू हैं। रायसाहब वहीं रहते हैं जहाँ मैं रहता हूँ।···रत्ती-रत्ती हाल कहूँगा, तुम कैसे मुझसे दोबारा रुपये वसूल कर लेते हो!" नोखेराम सटपटा गये! इन नोखेराम की सीरत के साथ ही लगे हाथ इनकी सूरत भी देख लीजिए –"नोखेराम नाटे-मोटे, खल्वाट, लम्बी नाक और छोटी-छोटी आँखों वाले सांवले आदमी थे। बड़ा-सा पगड़ बाँधते, नीचा कुरता पहनते। उन्हें तेल की मालिश कराने में बड़ा आनन्द आता था, इसलिए उनके कपड़े हमेशा मैले, चीकट रहते थे।" मानों मन का मैल अन्दर न समाकर बाहर पुती जा रही हो!

यह परले दर्जे का दुश्चरित्र है। भोला की पत्नी नोहरी को वह रख ही लेता है! गाँव का पंच बनकर गरीबों को डाँडता है, रिश्वत में दलाली खाता है और महाजनी करता है सो अलग!

महाजनी शोषण का भी बड़ा ही सजीव चित्रण 'गोदान' में मिलता है। महाजनी संस्कृति का विकास हो रहा है। जिसके पास चार पैसे हुए, वही महाजन बन रहा है। गाँव में एक नहीं, कई महाजन हैं – मंगरूशाह, दुलारी सुआइन, पं० दातादीन, बिसेसरशाह, पटेश्वरी पटवारी और नोखेराम सब महाजन बने हुए हैं! शहर के पूंजीपति सेठ का एजेण्ट बना हुआ झिंगुरीसिंह भी गाँव में विद्यमान है। ये लोग किसान को भारी सूद पर कर्ज देते हैं। कर्ज देते वक्त दस के बदले पाँच हाथ पर रखते हैं: कागज, लिखाई, दस्तूरी, नजर सब पहले ही काट लेते हैं। और ब्याज की रकम दिनों-दिन बढ़ती जाती है। बीस के एक सौ साठ हो जाते हैं! पचास के तीन सौ! किसान सब का ऋणी बन जाता है। उसकी ऊख तैयार होती है। "झिंगुरीसिंह के सभी रिनियाँ थे, और सबकी यही इच्छा थी कि झिंगुरीसिंह के हाथ रुपये न पड़ने पायें, नहीं तो वह सब का सब हजम कर जायगा। और जब दूसरे दिन असामी फिर रुपये मांगने जायगा तो नया कागज, नया नज़राना, नयी तहरीर। दूसरे दिन शोभा आकर बोला—"दादा, कोई ऐसा उपाय करो कि झिंगुरीसिंह को हैजा हो जाय। ऐसा गिरे कि फिर न उठे।"

होरी ने मुस्काकर कहा —क्यों, उसके बाल-बच्चे नहीं हैं।

'उसके बाल-बच्चों को देखें कि अपने बाल-बच्चों को देखें। वह तो दो-दो मेहरियों को आराम से रखता है, यहाँ तो एक को रूखी रोटी भी मयस्सर नहीं, सारी जमा ले लेगा। एक पैसा भी घर न आने देगा।...न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं।'

होरी बोला—इस जनम में तो कोई आसा नहीं है, भाई! हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।"

कैसी विषमता है! करुण और बीभत्स रस का कैसा सुन्दर सह-अस्तित्व है! निपट दरिद्र किसान के आलम्बनत्व से करुण-रस और शोषक महाजन से बीभत्स रस का कैसा सुन्दर संचार हो रहा है! इन महाजनों से गला छुड़ाना मुश्किल है। शोभा कहता है—"पैसे वाले उधार न दें, तो सूद कहाँ से पायें। एक हमारे ऊपर दावा करता है, तो दूसरा हमें कुछ कम सूद पर रुपये उधार देकर अपने जाल में फँसा देता है।"

महाजनों ने जो ऊख कटते देखी, तो पेट में चूहे दौड़े। एक तरफ से दुलारी दौड़ी, दूसरी तरफ से मंगरूशाह, तीसरी ओर से दातादीन, पटेश्वरी और झिंगुरी के प्यादे।" मंगरूशाह होरी को डाँट कर कहते हैं—पहले हमारे रुपये दे दो होरी, तब ऊख काटो।...यह न समझना कि तुम मेरे रुपये हजम कर जाओगे, मैं तुम्हारे मुर्दे से भी वसूल कर लूंगा।"

प्रेमचन्द ने इन महाजनों की काली करतूत ही प्रकट नहीं की, इनकी काली-भौंदी

आकृति के भी चित्र दिये हैं, जिनसे इनका घिनौना रूप और भी प्रगट हो जाता है। मंगरूशाह का चित्र है—"काला रंग, तोंद कमर के नीचे लटकती हुई, दो बड़े-बड़े दाँत सामने जैसे काट खाने को निकले हुए, सिर पर टोपी, गले में चादर, उम्र अभी पचास से ज्यादा नहीं, पर लाठी के सहारे चलते थे। गठिया का मरज हो गया था। खाँसी भी आती थी।"

शोभा मंगरूशाह से कहता है—"पचास रुपये के तीन सौ रुपये लेते तुम्हें जरा भी शर्म नहीं आती ?"

किसान की ऊख मिल में पहुँची। "तौल शुरू होते ही झिंगुरीसिंह ने मिल के फाटक पर आसन जमा लिए। हर एक की ऊख तौलते थे, दाम का पुरजा लेते थे, खजाञ्ची से रुपये वसूल करते थे और अपना पावना काटकर असामी को दे देते थे। असामी कितना ही रोये, चीखे, किसी की न सुनते थे।"

"होरी को एक सौ बीस रुपये मिले। उनमें से झिंगुरीसिंह ने अपने पूरे रुपये सूद-समेत काटकर कोई पचास रुपये होरी के हवाले किये।" ये महाजन तो ताक में थे ही, होरी "बाहर निकला कि नोखेराम ने ललकारा। होरी ने जाकर पचासों रुपये उनके हाथ पर रख दिये और बिना कुछ कहे जल्दी से भाग गया। उसका सिर चक्कर खा रहा था। शोभा को भी इतने ही रुपये मिले थे। वह बाहर निकला, तो पटेश्वरी ने घेरा। शोभा ने लाख कहा—"मेरे पास अब जो कुछ बचा है, वह बाल-बच्चों के लिए है।" पर पटेश्वरी को इससे क्या ? धमकी देकर तुरन्त उगलवा लेता है। किसान की सारे साल की मेहनत का उसे यही फल मिला कि उसके पास एक कौड़ी भी नहीं रही। सारा साल फिर इन महाजनों से ऋण लेकर, फिर-फिर कागज के, तहरीर के, कटौती के, नजर-नजराने के रुपये कटवा कर सौ के पचास पल्ले पाओ और तिस पर सवाया सूद दो। यही चक्र हर साल चलता है। गिरधर के शब्द कितने मार्मिक हैं, व्यथा और घृणा से लबालब भरे हुए—"झिंगुरी ने सारे का सारा ले लिया, होरी काका ! चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का ! रोया, गिड़गिड़ाया, पर इस पापी को दया न आई।·· एक इकन्नी मुँह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा साल-भर पसीना गारा है, तो एक दिन ताड़ी तो पी लूँ।···बीस लिए थे, उसके एक सौ साठ भरे, कुछ हद है !" कितनी लूट है ! बिसेसरशाह आने रुपये से कम सूद नहीं लेता।

और यह महाजन दुश्चरित्र भी है। मातादीन भुनिया से मीठी-मीठी बातें करने के लिए किसी-न-किसी बहाने रोज घर आता है। नोखेराम दरपर्दा व्यभिचार करता है। नोहरी को उसने एक तरह अपनी रखैल ही बना लिया है। पटेश्वरी अपनी विधवा कहारिन को रखे हुए है।

दातादीन ने बैल के लिए तीस रुपये होरी को उधार दिये थे। अब दो सौ माँगता है। गोबर कहता है—"मुझे खूब याद है, तुमने बैल के लिए तीस रुपये दिये थे। उसके सौ हुए। और अब सौ के दो सौ हो गए। इसी तरह तुम लोगों ने किसानों को लूट-लूट कर मजूर बना डाला और आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे। तीस के दो सौ !

कुछ हद है !" और जब वह कहता है, एक रुपया सैकड़ा सूद के हिसाब से छाछठ बनते हैं। "उसके सत्तर ले लो। इससे बेसी मैं एक कौड़ी न दूंगा।" तो यह महाजन धर्म की दुहाई देता है, क्योंकि वह भगवान का विशेष कृपा-पात्र है ! वह कहता है—"यह समझ लो, मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे रुपये हजम करके तुम चैन न पाओगे।"

यही नहीं, यह महाजन भी अपने रुपये के बल पर किसान से बेगार लेता है। दातादीन होरी से अपने खेत सेंतमेंत में जुतवाता है। होरी से बड़े रौब से कहता है—"क्या आज भी तुम काम करने न चलोगे होरी ! अब तो तुम अच्छे हो गये।" गोबर ने बीच में ही कहा, "अब यह तुम्हारी मजूरी न करेंगे। हमें अपनी ऊख भी तो बोनी है।"

दातादीन ने सुरती फाँकते हुए कहा—"काम कैसे नहीं करेंगे, साल के बीच में काम नहीं छोड़ सकते।" गोबर ने जम्हाई लेकर कहा—"उन्होंने तुम्हारी गुलामी नहीं लिखी है। जब तक इच्छा थी, काम किया। अब इच्छा नहीं है, नहीं करेंगे। इसमें कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता।"

"तो होरी काम नहीं करेंगे ?"

"ना !"

"तो हमारे रुपए सूद-समेत दे दो···।" गोबर फिर फटकारता हुआ कहता है—"···अच्छी दिल्लगी है। किसी को सौ रुपए उधार दे दिये और उससे सूद में जिन्दगी-भर काम लेते रहो। मूल ज्यों-का-त्यों। यह महाजनी नहीं है, खून चूसना है।"

हास्य-युक्त घृणा का भव्य रूप देखना हो तो होली के अवसर पर गोबर की चौपाल में हुई गिरधर की नकल पढ़िये। महाजन का इससे बढ़िया मजाक और क्या होगा ? ठाकुर झिंगुरीसिंह की नकल हुई, जिसमें ठाकुर ने दस रुपए का दस्तावेज लिखा-कर पांच रुपए दिये, शेष नज़राने और तहरीर और दस्तूरी और ब्याज में काट लिये। किसान खीझ कर व्यंग से कहता है—"अब यह पांच भी मेरी ओर से रख लीजिए।"

"कैसा पागल है ?"

"नहीं सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराईन का नज़राना है, एक रुपया बड़ी ठकुराईन का। एक रुपया छोटी ठकुराईन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराईन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपके क्रिया-करम के लिए।" कैसी बढ़िया नकल है ! अन्तिम शब्दों में घृणा पूर्ण स्फुट हो गई है।

पूंजीवादी शोषण भी बढ़ रहा है। शहर के पूंजीपति खन्ना ने महाजनी कोठी खोल रखी है। उन्हीं का एजेन्ट गाँव में झिंगुरीसिंह है। ये किसान को उधार देते हैं और फसल अपने पास मंगा कर अपने रुपये ब्याज-समेत काट लेते हैं। महाजनी अलग और बेईमानी अलग। खन्ना की मिल में किसान की ऊख तुलती है। वह स्वयं मानता है—आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाट रखे।" यह मिल-मालिक मजदूरों का भी शोषण करता है। आप एक हजार रुपया महीना वेतन लेता है, कमीशन अलग, शेयर का लाभ अलग। पर मजदूरों

की मजदूरी घटा देता है। वह सोचता है कि वह मिल का संचालन भी तो करता है। मजूर केवल हाथ से काम करते हैं। डायरेक्टर अपनी बुद्धि से, विद्या से, प्रतिभा से काम करता है। दोनों शक्तियों का मोल बराबर तो नहीं हो सकता। मजूरों को यह संतोष क्यों नहीं होता कि यह मंदी का समय है, और चारों तरफ बेकारी फैली रहने के कारण आदमी सस्ते हो गए हैं। उन्हें तो एक की जगह पौन भी मिले तो संतुष्ट रहना चाहिए।" शोषक का कैसा तर्क है !

अब ब्रिटिश पुलिस-पद्धति के प्रतिनिधि रिश्वतखोर दारोगा की काली करतूत देखिए। हीरा ने ईर्ष्यावश होरी की गाय को जहर दे दिया और स्वयं भाग निकला। पुलिस दारोगा तो ऐसे अवसरों की तलाश में ही होते हैं, खबर पाते ही आ धमके। उन्हें तहकीकात से क्या गरज, अपना हलुआ-मांदा बनाने से ही मतलब है। दारोगा जी होरी से पैसा ऐंठने के लिए तलाशी लेने की बात चलाते हैं। दब्बू होरी अपनी मरजाद रखना चाहता है। गांव के पंच भी लूट-खसूट में दारोगा के साथ लग जाते हैं। वे होरी को कहते हैं—"निकालो जो कुछ देना है, यों गला न छूटेगा।" पर बेचारा होरी दे तो कहां से, जहर खाने को भी उसके पास एक पैसा नहीं। पंचों में सलाह होती है, और दारोगा को देने के लिए तीस रुपये होरी को उधार दे दिये जाते हैं। इनमें आधा हिस्सा चार पंचों का ठहरा। होरी ने रुपये लिए और अंगोछे के कोर में बाँध, प्रसन्न-मुख दारोगा की ओर चला।

"सहसा धनिया झपटकर आगे आई और अंगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली।···सारे रुपये जमीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुंकार कर बोली—ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है तो सब रुपये लौटा दे, नहीं कह देती हूँ। घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को न मयस्सर हो और अञ्जुली भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने !···दारोगा तलासी ही तो लेगा। ले-ले जहाँ चाहे तलासी। एक तो सौ रुपए की गाय गई, उस पर यह पलेथन ! वाह री तेरी इज्जत !"

"होरी खून का घूंट पीकर रह गया। सारा समूह थर्रा उठा। नेताओं के सिर झुक गये और दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया। अपने जीवन में उसे ऐसी लताड़ न मिली थी।···मगर दारोगा भी इतनी जल्दी हार मानने वाले न थे। खिसियाकर बोले—मुझे ऐसा मालूम देता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फंसाने के लिए खुद गाय को जहर दिया।

"धनिया हाथ मटका कर बोली—" हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ?···तुम्हारी तहकियात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथों में हथकड़ियाँ ! देख लिया तुम्हारा न्याव और अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।"

नेताओं ने रुपये चुनकर उठा लिये थे और दारोगाजी को वहाँ से चलने का इशारा कर रहे थे। धनिया ने एक ठोकर और लगाई—"जिसके रुपये हों, ले जाकर

उसे दे दो। हमें किसी से उधार नहीं लेना है। और जो देना है तो उसीसे लेना। मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अंजुरी-भर रुपये ठनाठन निकाल दे दिये! मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नज़र-नज़राना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो।"

रिश्वतखोर दारोगा और गाँव के बेईमान पंचों की काली करतूतों का कैसा सजीव चित्र है! बीभत्स-रस की यहाँ पूर्ण व्यंजना हुई है। होरी की पत्नी धनिया काव्य-गत आश्रय है, दारोगा और पंच आलम्बन। दारोगा और पंचों की साँठ-गाँठ, दारोगा का धनिया को धमकाना आदि उद्दीपक कार्य हैं। धनिया का झपटना, हाथ मटका कर फटकारना आदि शारीरिक तथा धिक्कारपूर्ण कथन वाचिक अनुभाव हैं। अमर्ष, क्रोध, व्यंग्य, शोक, साहस आदि संचारी भाव भी स्पष्ट हैं।

शहर के हाकिम, जज भी परोक्ष रूप से किसान का शोषण करते हैं। बेदखली, इज़ाफा आदि की जो कार्रवाई जमींदार अपनी असामियों के विरुद्ध करता है, ये हाकिम रिश्वत खाकर, डालियाँ लेकर, झट किसानों के खिलाफ डिग्री दे देते हैं। "कब दावा दायर हुआ, कब डिग्री हुई, उसे (होरी को) बिल्कुल पता न चला। कुर्कअमीन उसकी ऊख नीलाम करने आया, तब उसे मालूम हुआ।" और बात-की-बात में सारे गाँव के देखते ऊख मंगरूशाह की हो गई। धनिया गालियाँ देती रह गई। वह कहती है—जो गाली खाने का काम करेगा, उसे गालियाँ मिलेंगी ही।···मंगरूशाह ने मर-मर कर जेठ की दुपहरी में सिंचाई और गोड़ाई की थी?" रामसेवक ब्रिटिश नौकरशाही का पर्दा-फाश करता हुआ कहता है—"थानेदार और कानिसिटिबल तो जैसे दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धर्म है कि वह उनका आदर-सत्कार करें, नज़र-न्याउ दें, नहीं एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बँध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जंठ, कभी कलक्टर, कभी कमिश्नर, किसान को उनके सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रसद-चारे, अण्डे-मुर्गी, दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिए।···एक न एक हाकिम रोज नये बढ़ते जाते हैं।···न जाने किस-किस महकमे के अफसर हैं, नहर के अलग, जंगल के अलग, ताड़ी-शराब के अलग···।"

गाँव के पंचों की काली करतूत का चित्र ऊपर दिया जा चुका है। बिरादरी का भय और पंच भी होरी का शोषण कर रहे हैं। ये पंच अपनी दलाली खाने के लोभ से जब तब किसान को लुटवाते रहते हैं। "पटेश्वरी ने मंगरू को सुझाया कि अगर इस वक्त होरी पर दावा कर दिया जाय, तो सब रुपये वसूल हो जायें।" और वह स्वयं नालिश करने का जिम्मा ले लेता है। अपनी दलाली के लोभ से उसे भड़का कर, उससे अदालत का खर्चा लेकर नालिश कर देता है। वह असामियों को आपस में लड़ाकर भी रकमें मारता है।

समाज की गली-सड़ी परम्पराओं और मर्यादाओं में जकड़ा हुआ किसान इन समाज वालों के शोषण का शिकार होता है। होरी का पुत्र गोबर अहीर की लड़की झुनिया से प्रेम करता है। वह उसे अपने घर ले आता है। होरी और धनिया झुनिया को आश्रय देते हैं। बस समाज की नाक कट गई, बिरादरी की मौत आ गई। झिंगुरीसिंह पचास साल के हैं, दो-दो जवान पत्नियाँ रखे हुए हैं। पटेश्वरी अपनी विधवा कहारिन को दरपर्दा रखे हुए हैं। दातादीन ने जवानी में ऊधम मचाया था। अब उनका बेटा मातादीन सिलिया चमारिन को फँसाये हुए है। 'झिंगुरी ने ब्राह्मणी रख ली' पर इन्हें कोई कुछ नहीं कहता ! पैसे वाले हैं, पंच हैं ! पर यही पंच होरी पर सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज डाँड लगाते हैं। क्यों उसका बेटा झुनिया विधवा को लाया ? ऐसी कुलच्छनी को क्यों उन्होंने अपने घर में जगह दी ? और पंचों में परमेश्वर मानने वाला और बिरादरी के भूत से डरने वाला होरी टूट जाता है, पर पंचों का फैसला सिर-माथे पर लेता है। धनिया अवश्य अपनी घृणा और क्षोभ व्यक्त करती है—"पंचो, गरीब को सताकर सुख न पाओगे, इतना समझ लेना।···मेरा सराप तुमको भी जरूर-से-जरूर लगेगा।" कैसी तीव्र घृणा फूट निकली है इन समाज-बिरादरी के ठेकेदार धूर्त्त शोषकों के प्रति ! धनिया की गालियाँ, 'सराप', फटकार-धिक्कार स्थान-स्थान पर इन समाज-शोषी शक्तियों, घृणा के भिन्न-भिन्न आलम्बनों के प्रति हमारी तीव्र घृणा को पुष्ट करती है। सारे उपन्यास में आदि से अन्त तक बीभत्स-रस के आश्रय शोषण का मार्मिक चित्रण हुआ है।

गोदान में ह्रासोन्मुख सामन्तवाद

विकासमान् पूंजीवाद—महाजनी संस्कृति

हम पहले भी कह आये हैं कि प्रेमचन्द ने अपने कई उपन्यासों में जमींदारी पद्धति के दोषों को प्रस्तुत करके इस पद्धति को मृत्युदण्ड दिया है। 'प्रेमाश्रम' में उनका उद्देश्य ही यही था। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि अन्य उपन्यासों में भी इस पद्धति के बीभत्स रूप का स्पष्ट उद्घाटन हुआ है। वास्तव में प्रेमचन्द ने सम्पत्ति को ही सब प्रकार की आपत्ति का मूल कारण माना है—यह चाहे सामन्तवादी सम्पत्ति हो या पूंजीवादी। 'गोदान' से पूर्व 'रंगभूमि' में भी प्रेमचन्द पूंजीवाद के उदय की झलक दिखा आये थे, पर वहाँ उसका विस्तृत रूप प्रकट नहीं हुआ था। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने युग-सत्य को पहचान कर एक ओर ह्रासोन्मुख सामन्तवाद का सच्चा चित्र उपस्थित किया है, दूसरी ओर सामन्तवाद के स्थान पर विकासशील पूंजीवाद का व्यापक प्रभाव दिखाते हुए उसके भी समाज-शोषी और मानव-शोषी रूप का विस्तृत चित्रण किया है।

सामन्तवाद या जमींदारी पद्धति की दीवारें हिल चुकी हैं। इस वर्ग में अब कोई जान नहीं रही है, इसके स्तम्भों की नींव डाँवाडोल हो चुकी है, इस वर्ग की आत्मा में बल नहीं रहा है। इनका आचरण दूषित हो गया है। स्थिति बिगड़ गई है। ये सब सत्ता-प्राप्त भी नहीं रहे हैं। इन्हें भी हाकिमों के मुँह ताकने पड़ते हैं, उन्हें डालियाँ देनी पड़ती

हैं। रायसाहब अमरपाल सिंह की स्वीकारोक्ति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। वह होरी से कहता है—"सम्पत्ति और सहृदयता में बैर है। हम दान देते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन जानते हो, क्यों? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए।···हममें से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी की विधवा बहू निकल जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय, या अपने असामियों से पिट जाय, तो उसके और सभी भाई उस पर हँसेंगे, बगलें बजायेंगे।···गरीबों में अगर ईर्ष्या या बैर है तो स्वार्थ के लिए या पेट के लिए।···बड़े आदमियों की ईर्ष्या और बैर केवल आनन्द के लिए है।···वह बड़ा आदमी ही क्या जिसे छोटा रोग हो···और ये रुपये (फिजूलखर्ची के लिए) तुमसे और तुम्हारे भाइयों से वसूल किये जाते हैं, भाले की नोक पर। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता? मगर नहीं, आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। भस्म होने में तो बहुत देर नहीं लगती। वेदना भी थोड़ी ही देर की होती है। हम जौ-जौ, अंगुल-अंगुल और पोर-पोर भस्म हो रहे हैं। उस हाहाकार से बचने के लिए हम पुलिस की, हुक्काम की, अदालत की और वकीलों की शरण लेते हैं···सभी के हाथों का खिलौना बनते हैं। दुनिया समझती है हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ, क्या नहीं हैं, लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो···जो हुक्काम के तलवे चाटता हो···उसे मैं सुखी नहीं कहता।···मुफ्तखोरी ने हमें अपंग बना दिया।··· और यह तो **निश्चय है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा नहीं करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।**···हम परिस्थितियों के शिकार बने हुए हैं। यह परिस्थिति ही हमारा सर्वनाश कर रही है और जब तक सम्पत्ति की यह बेड़ी हमारे पैरों से न निकलेगी,···हम मानवता का पद न पा सकेंगे···।"

इन जमींदारों और ताल्लुकेदारों की आर्थिक हालत भी पतली होती जा रही है। भोग-विलास, दम्भ-अहंकार और झूठी शान-मर्यादा निभाने के लिए ये अपव्यय करते हैं। आमदनी और लूट-खसूट अगर दस हजार रुपये है तो खर्च बीस हजार है। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हें पूँजीपति के आगे हाथ पसारने पड़ते हैं। कोई ताल्लुकेदार ऐसा नहीं जिसकी रियासत कर्ज के बोझ से न दबी हो। रायसाहब की रियासत 20-25 लाख से अधिक की नहीं, और कर्ज भी 10 लाख से कम नहीं है। लड़की की शादी करनी हो या मकान बनाना हो, इलेक्शन लड़ना हो या मुकद्दमा लड़ना हो, उन्हें खर्च के लिए पूँजीपति का कृपा-पात्र बनना पड़ता है।

रायसाहब अपने वर्ग की स्थिति खन्ना से बताता हुआ कहता है—"मेरे बहुत-से ताल्लुकेदार भाई भोग-विलास करते हैं ··वे लोग घर फूंक कर तमाशा देखते हैं। कर्ज का बोझ सिर पर लदा जा रहा है, रोज डिग्रियाँ हो रही हैं, जिससे लेते हैं, उसे देना

नहीं जानते, चारों तरफ बदनाम। मैं तो ऐसी जिंदगी से मर जाना अच्छा समझता हूँ।" ओंकारनाथ से वह अपनी आर्थिक स्थिति बताता हुआ कहता है—"मेरे सिर पर कितना कर्ज है, यह भी आपने कभी पूछा है। अगर सभी महाजन डिग्रियाँ करा लें तो मेरे हाथ की यह अँगूठी तक बिक जायगी।"

इन ताल्लुकेदारों का कोई सम्मान नहीं रहा है। नगरों में तो इन्हें कोई पूछता तक नहीं। बल्कि इनकी काली करतूतों के कारण लोग इनसे घृणा करते हैं। मेहता राजा सूर्यप्रतापसिंह की हकीकत बताता हुआ कहता है—"लखनऊ में आप किसी दूकानदार, किसी अहलकार, किसी राहगीर से पूछिये, उनका नाम सुनकर गालियाँ ही देगा। इसी को आप प्रतिष्ठा कहते हैं?"

पत्रकार ओंकारनाथ को रायसाहब ने सौ ग्राहकों के चन्दे का वचन दिया। इस पर ओंकारनाथ की पत्नी गोमती कहती है—"मैंने किसी ताल्लुकेदार को वायदे का पक्का देखा नहीं। दादा एक ताल्लुकेदार के नौकर थे। साल-साल भर तलब नहीं मिलती थी। उसे छोड़ कर दूसरे की नौकरी की। उसने दो साल तक एक पाई न दी। एक बार दादा गरम पड़े, तो मार कर भगा दिया। इनके वायदों का कोई करार नहीं।···जितने वायदे करते हैं अगर सब पूरा करने लगें, तो भीख माँगने की नौबत आ जाय। मेरे गाँव के ठाकुर साहब तो दो-दो, तीन-तीन साल तक बनियों का हिसाब न करते थे। नौकरों का वेतन तो नाम के लिए देते थे। साल-भर काम लिया, जब नौकर ने वेतन माँगा, मार कर निकाल दिया। कई बार इसी नादिहेन्दगी में स्कूल से उनके लड़कों के नाम कट गये।···एक बार रेल का टिकट उधार माँगा था। यह रायसाहब भी तो उन्हीं के भाई-बन्द हैं।"

ये राजे और ताल्लुकेदार सब पूँजीपति के द्वार पर नाक रगड़ते हैं। खन्ना कहता है—कौन राजा या ताल्लुकेदार है, जो मुझे दण्डवत् नहीं करता। सैकड़ों को उल्लू बना-कर छोड़ दिया।" राजा सूर्यप्रतापसिंह को भी जब पैसे की जरूरत पड़ती है, पूँजीपति का ही दरवाजा खटखटाता है। खन्ना ने उसे अपने बैंक से सात रुपये सैकड़े पर कर्ज दिलाया और उसकी जायदाद लिखा ली। राजा साहब के सिर "चालीस लाख रुपये का बोझ है, फिर भी वही दम-खम है वही अकल्ले-तकल्ले खर्च हैं। पैसे को तो कुछ समझते ही नहीं। नौकरों का वेतन छः-छः महीने से बाकी पड़ा हुआ है; मगर हीरा महल बन रहा है।" पचास लाख की कुल रियासत है, चालीस लाख सिर पर चढ़ गया है। गिरने में क्या देर है?

इन ताल्लुकेदारों में रायसाहब अमरपाल की हालत फिर भी अच्छी है, क्योंकि वह स्वयं भोग-विलास नहीं करता, देखकर खर्च करता है, अन्यायकारी भी कम है। पर उसे भी पद्धति का पालन करना पड़ता है। लड़की के विवाह, इलेक्शन और मुकद्दमा लड़ने के लिए उसे जब पैसे की जरूरत पड़ती है, तो वह खन्ना की ही खुशामद करता है। खन्ना रायसाहब को कहता है—"मेरे डायरेक्टरों का इस विषय में जो हुक्म है, वह आप जानते ही हैं।···पिछला वसूल करने के लिए बार-बार ताकीद हो रही है। कोई

नया मामला तो शायद ही हो सके।" इन राजा-ताल्लुकेदारों को खुले रुपये तो मिलते नहीं, जायदाद पर भी अब पैसा कर्ज मिलना मुश्किल हो गया है, क्योंकि पहले ही काफी बोझ सिर पर हो गया है। खन्ना रायसाहब से कहता है—"उस जायदाद (रायसाहब के ससुरालवाली) पर दस लाख से कम का भार नहीं है। उस जायदाद पर तो अब कुछ मिलने से रहा, और आपकी जायदाद पर भी मेरे ख्याल में दस लाख से कम देना नहीं है। और वह जायदाद अब···मुश्किल से पच्चीस लाख की है। इस दशा में कोई बैंक आपको कर्ज नहीं दे सकता। **यों समझ लीजिए कि आप ज्वालामुखी के मुख पर खड़े हैं। एक हल्की सी ठोकर आपको पाताल में पहुँचा सकती है। आपको इस मौके पर बहुत संभल कर चलना चाहिए।**"

खन्ना की बात सुनकर रायसाहब बेदम हो जाते हैं। वह गिड़गिड़ाते हुए कहते हैं—"मैं तुम्हारे द्वार पर सिर पटक कर प्राण दे दूँगा, खन्ना इतना समझ लो। मैंने तुम्हारे ही भरोसे यह सारे प्रोग्राम बांधे हैं। अगर तुमने निराश कर दिया तो शायद मुझे जहर खा लेना पड़े।"

रायसाहब स्वीकार करते हैं कि "हम तो नाम के राजा हैं। असली राजा तो हमारे बैंकर हैं।" वास्तव में ही पूँजी अब ताल्लुकेदारों के हाथ में नहीं रही। पूँजी पर नियन्त्रण अब पूँजीपतियों का हो गया है। बड़े-बड़े मिल मालिक, सेठ-साहूकार, बैंकर कम्पनियों के डायरेक्टर आदि ही अब पैसे के धनी हैं। खन्ना इसी पूँजीवादी का सहारा लेकर देखते-देखते बढ़ गया है। जिस ताल्लुकेदार ने अपना हाथ इन व्यापारिक कम्पनियों में फँसा लिया है, वे ही मजे में रह सकते हैं। खन्ना ने दो शूगर-मिल बना लिये। बीमा कम्पनियों और बैंकों का वह अलग मैनेजर और डायरेक्टर है। मि० मेहता कहता है—"आज संसार का शासन-सूत्र बैंकरों के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना है।" कुछ हवा ही ऐसी बदल गई है कि क्या गाँव और क्या शहर सब जगह महाजनी संस्कृति का विकास हो रहा है। गाँव में छोटे-छोटे महाजन बढ़ रहे हैं, शहरों में बड़े-बड़े उद्योग-पति, पूँजीपति, बैंकर, कम्पनियों के डायरेक्टर आदि अपने व्यापार से फल-फूल रहे हैं। जमींदार या सामन्त नष्ट हो रहे हैं। नई महाजनी सभ्यता का विकास हो रहा है। शहर के बैंकरों के आश्रित बड़े-बड़े जमींदार हैं और गाँव के छोटे-बड़े महाजनों के पाँव-तले उनके असामियों की गर्दन दबी पड़ी है। जमींदारी कैसे बनी रह सकती है?

बाकी चुकाने के लिए रायसाहब के कारकुन ने किसानों पर जरा कड़ाई की कि उनमें खलबली मच गई। "सभी लोग गाँव के महाजनों के पास रुपये के लिए दौड़े। गाँव में मंगरूशाह की आजकल चढ़ी हुई थी। इस साल सन में उसे अच्छा फायदा हुआ था। गेहूँ और अलसी में भी उसने कुछ कम नहीं कमाया था। पंडित दातादीन और दुलारी सहुआइन भी लेन-देन करती थी। सबसे बड़े महाजन थे झिंगुरीसिंह। वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेण्ट थे। उनके नीचे कई आदमी और थे जो आसपास के देहातों में घूम-घूमकर लेन-देन करते थे। इनके उपरान्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे, जो दो आने प्रति रुपये ब्याज पर बिना लिखा-पढ़ी के रुपये देते थे। गाँव वालों को लेन-देन

का कुछ ऐसा शौक था कि जिसके पास दस-बीस रुपये जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता था। एक समय होरी ने भी महाजनी की थी। उसी का यह प्रभाव था कि लोग अभी तक यही समझते थे कि होरी के पास दबे हुए रुपये हैं।··· किसी ने किसी देवता को सीधा किया, किसी ने किसी को। किसी ने आना रुपया ब्याज देना स्वीकार किया, किसी ने दो आना।"

इस प्रकार महाजनों का प्रभाव जम रहा है। गोबर जब शहर में कुछ पैसा कमा लेता है—वह भी मजूरी से नहीं, चाय की दुकान खोलकर—तो उसे भी लेन-देन का चसका पड़ जाता है। "अब वह छोटा-मोटा महाजन है। पड़ोस के इक्के वालों, गाड़ी-वालों और धोबियों को सूद पर रुपया देता है।" उसका प्रभाव जमने लगता है। इसी पैसे के प्रभाव से इक्केवाला उसे स्टेशन पर छोड़ जाता है और एक पैसा भाड़ा नहीं लेता। इस नव-विकसित महाजनी या पूंजीवादी सभ्यता की तूती सब ओर बोलती है। जमींदार टूट रहा है, वह भी पूंजीवादी पद्धति की शरण जाने में अपना भला मानता है, वह जमीन-जायदाद बेचकर कम्पनियों का शेयर-होल्डर बनना चाहता है। इसी में उसका भला है। राजा सूर्यप्रतापसिंह एक बैंक के डायरेक्टर बन गये हैं, रायसाहब खन्ना के मिल आदि के शेयर लेने के बारे में विचार कर रहे हैं। दूसरी ओर किसान टूट कर मजदूर बन रहा है। जमींदार के असामी के स्थान पर वह पूंजीपति के मजदूर-रूप में अधिक लाभ पाता है।

"इस नई सभ्यता का आधार धन है; विद्या, सेवा, कुल और जाति सब धन के सामने हेय हैं।" पैसा ही सभी प्रकार की अच्छाई-बुराई की कसौटी बन गया है। जिसके पास चार पैसे हैं, उसकी सब बुराइयाँ ढक जाती हैं, किन्तु जो धनहीन है, उसे कोई नहीं पूछता। गोबर जब शहर से अपने गाँव में आता है तो अपने माँ-बाप से स्पष्ट शब्दों में कहता है—"हुक्का, पानी सब तो था, बिरादरी में आदर भी था, फिर मेरा ब्याह क्यों नहीं हुआ? बोलो! इसलिये कि घर में रोटी न थी। रुपये हों तो न हुक्का-पानी का काम है, न जाति-बिरादरी का। दुनिया पैसे की है, हुक्का-पानी कोई नहीं पूछता।" और सचमुच ही हम देखते हैं कि जब नोखेराम, दातादीन, पटेश्वरी आदि गाँव के स्तम्भों को मालूम होता है कि गोबर उनसे भी अधिक कमाने लगा है, तो सब अपनी हेकड़ी भूल जाते हैं। "झिंगुरी बहुत नोच-खसोट करके भी पच्चीस-तीस से ज्यादा न कमा पाते थे। और यह गँवार लौंडा सौ रुपये कमाने लगा, उनका मस्तक नीचा हो गया। अब वह किस दावे से उस पर रौब जमा सकते थे। वर्ण में वह जरूर ऊँचे हैं, लेकिन वर्ण कौन देखता है।"

पैसे से सूद कमाकर, पैसे को व्यापार-उद्योग में लगाकर लोग बढ़ रहे हैं। इस पैसे की ही सब महिमा है। आदमी वही, सज्जन वही, बुद्धिमान और प्रतिष्ठित वही है जिसके पास पैसा है गरीब को कोई आदमी ही नहीं समझता। पैसे की ओट में सब अपराध छुप जाते हैं। झिंगुरी, पटेश्वरी, नोखेराम, दातादीन, मातादीन आदि दरपर्दा ही नहीं,

खुल्लमखुल्ला कुकर्म करते हैं, उन्हें कोई नहीं पूछता, उलटा वे होरी-जैसे गरीबों पर डाँड लगा देते हैं।

जब पैसे का इतना प्रभाव है कि इससे चाहे जो काम साध लो—इसके बल पर ओंकारनाथ-जैसे पत्रकारों का मुँह बन्द कर लो, हाकिम-हुक्काम, पुलिस आदि सबको अपने पक्ष में कर लो, इसकी आड़ में जो खेल चाहो खेलो, प्रतिष्ठा पाओ—तो लोग इस पैसे के पीछे क्यों न पड़ें ? प्रेमचन्द ने अपनी मृत्यु से थोड़े दिन पूर्व जो महाजनी सभ्यता पर निबन्ध लिखा था, उस महाजनी सभ्यता या संस्कृति का सजीव कथात्मक रूप वे अपने इस उपन्यास 'गोदान' में पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। पैसा कमाना ही इस सभ्यता का उद्देश्य बन गया है। 'बिजनेस' इसका आधार है।'business is business' अर्थात व्यापार व्यापार है, यह इसका नारा है। "व्यापार एक दूसरा ही क्षेत्र है। यहाँ कोई किसी का दोस्त नहीं, कोई किसी का भाई नहीं।" जब रायसाहब कर्ज पाने के लिये गिड़गिड़ाते हैं तो खन्ना कहता है कि बैंक से आपको रुपया मिलना मुश्किल है, पर "मैं कोशिश करूँगा कि आपके साथ खास रियासत की जाय; 'business is business' यह आप जानते हैं। पर मेरा कमीशन क्या रहेगा ? मुझे आपके लिए खासतौर पर सिफारिश करनी पड़ेगी ···यों समझ लीजिये कि मेरी जिम्मेदारी पर ही यह मामला होगा।" खन्ना रायसाहब के अंतरंग मित्रों में से थे।···और यह उनसे कमीशन की आशा रखते हैं, इतनी बेमुरौवती ?" पर क्या करें यह व्यापारी की बात है। चाहे भाई हो, चाहे दोस्त, अपना लाभ क्यों छोड़ा जाय ! इस महाजनी मनोवृत्ति या व्यापार-बुद्धि का विकास हो रहा है। वास्तव में 'गोदान' में जमींदारी शोषण की अपेक्षा महाजनी और पूँजीवादी शोषण का अधिक प्रसार पाया जाता है। जमींदार एक ही है, पर महाजन कई-कई हैं। जमींदारी टूट रही है, किसान टूट रहा है, महाजन और पूँजीपति बढ़ रहे हैं।

गोदान में धर्म का ढकोसला

घृणा के संचारी-रूप में व्यंग्य का प्रबल शस्त्र-प्रयोग

प्रेमचन्द ने परम्परागत धर्म की अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। इसके लिए उन्होंने व्यंग्य के नश्तर का सहारा लिया है। इस व्यंग्य के मूल में हास्य नहीं, घृणा ही है। हम इन आलम्बनों पर हँसकर नहीं रह जाते, अपितु घृणा से भर जाते हैं। अतः यह सब बीभत्स रस का प्रसंग ही है। प्रेमचन्द के धार्मिक व्यंग्य काफी तीखे होते हैं। अपने 'सेवासदन' में ही उन्होंने धर्म के ढकोसले की खूब धज्जियाँ उड़ाई थीं। महन्त रामदास, जो धर्म का ठेकेदार और बाँकेबिहारीजी का पहरेदार बना हुआ है, कितना दुश्चरित्र है, कितना मुफ्तखोर, कितना अन्यायी ! धर्म के नाम पर वह जमींदारी चलाता है, बाँकेबिहारीजी के नाम पर असामियों से चन्दा-बेगार-लगान वसूल करता है। कितने ही मुसटंडे साधु-भक्त उसने अपने अखाड़े में इकट्ठे कर रखे हैं ! धर्म का कैसा बीभत्स रूप है ! मन्दिरों में वेश्याओं का नृत्यगान होता है !

भगवान् भी वेश्याओं के बिना नहीं रीझते ! और ये दाढ़ी वाले मौलवी, तिलक-छापे वाले पण्डित सब रँगे-सियार हैं। दरपर्दा ऐब करते हैं, वेश्यागामी हैं, ऊपर से भक्त और उपासक बने हुए हैं। धर्म की ओट में सब होता है। बेचारा गजाधरप्रसाद नौकरी करके तो गुजारा भी नहीं चला सका, स्वामी गजानन्द बनते ही हजारों रुपया जमा कर लेता है। धर्म की कैसी महिमा है ! 'प्रेमाश्रम' में भी गायत्री, श्रद्धा आदि पात्रों के अन्ध-विश्वासों और ढोंगी धर्म-भावों की खूब खिल्ली उड़ाई है। 'रंगभूमि' में जॉनसेवक की पत्नी और पिता के धार्मिक ढोंग को प्रकट किया गया है।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्दजी ने धार्मिक साम्प्रदायिकता को आड़े हाथों लिया है। धर्म के ढोंग पर कैसी फबती कसी गई है ! हिन्दुओं और मुसलमानों में मामूली-मामूली बातों पर झगड़े होने लगे हैं। इन झगड़ों को हवा देने के लिए धर्म के अखाड़े किस प्रकार तैयार होते हैं, देखिए—"दोनों के देवताओं के भाग्य जगे। जहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहाँ पुजारीजी की भंग घुटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे। मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल कर दिया। जहाँ साँड जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हंडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने महावीर का दल बनाया। मुसलमानों ने अली-गोल सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी। मसजिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया—जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाये, उसे एक हज़ार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।" कैसी तिलमिला देने वाली चोट है !

'कर्मभूमि' में भी महन्त रामदास के भाई महन्त आशारामगिरि विराजमान् है—विलासी, अन्यायी और दम्भी। सोने की कुर्सी और मखमल के गद्दे पर वह विराजता है। राजसी ठाठ हैं। उसके भंडार विलास और ऐश्वर्य की सामग्री से भरे पड़े थे। अमरकान्त सब-कुछ देख लेने पर विचारने लगा, 'ठाकुरजी के नाम पर धन का कितना अपव्यय होता है !' ठाकुरद्वारे में अछूतों के लिए जगह नहीं। आरती के समय या कथा में बेचारे मंगी-चमार सबसे पीछे अलग बैठ जाते हैं। पुजारियों और भक्तों को कब गवारा होता ! डंडे लेकर पीछे पड़ जाते हैं। इन अछूतों की दृष्टि पड़ने से भगवान् अपवित्र न हो जायँगे ! छाया पड़ने से लोग भ्रष्ट हो जाते हैं और प्रसाद झूठा और अपवित्र हो जाता है !

'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने धार्मिक पाखंड की गिन-गिनकर कड़ियाँ तोड़ी हैं। इस रचना तक आते-आते ईश्वर और तथाकथित धर्म के प्रति उनका मन अविश्वासी हो गया था—यह हम आरम्भ में ही बता चुके हैं। यही कारण है कि उन्होंने ईश्वर के परंपरागत रूप और धार्मिक ढोंग को यहाँ खूब आड़े हाथों लिया। मेहता के शब्दों में प्रेमचन्द ही कहते हैं—"और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है, और

जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है।" जिस ईश्वर का रुद्र रूप बेचारे किसान को शोषण की चक्की में पीसता है, जो भगवान गरीब को भाग्यवादी बनाये रखता है, उसे और उसके भक्तों को उन्होंने हर स्थान पर अपने व्यंग-बाणों से बींधा है, आरम्भ में ही वह स्पष्ट कहते हैं कि ईश्वर का रुद्र रूप किसान को सदा डराता रहता है। इसी के भय से वे महाजन की कौड़ी तक नहीं रखते। दातादीन-जैसे ब्राह्मण तो इस ईश्वर के प्रतिनिधि ही हैं। इनका रुपया वह कैसे हजम कर सकता है। ये चाहे आने रुपये का ब्याज लें, चाहे बेगार अलग कराये किन्तु इनका पैसा कौन रख सकता है? होरी कहता है—"हमने जिस ब्याज पर रुपये लिये, वह तो देने ही पड़ेंगे। फिर ब्राह्मन ठहरे। इनका पैसा हमें पचेगा?" "भगवान न करे कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरे। वंश में कोई चिल्लू भर पानी देने वाला, घर में दिया जलाने वाला भी नहीं रहता। उसका धर्म-भीरु मन त्रस्त हो उठा।" होरी का विश्वास है कि भगवान ने ही उन्हें गुलाम बनाया है, किसी के बस की क्या बात!

और इन बड़े आदमियों का दान-धर्म कोरा पाखंड है, रायसाहब को 'संपत्ति के साथ-साथ राम की भक्ति भी अपने पिता से मिली थी। वह धनुष-यज्ञ रचाता है और धर्म के नाम पर असामियों से चन्दा लेता है। सैंकड़ों व्यक्ति उसके नाती रिश्तेदार बने हुए उसकी रियासत पर मुफ्तखोरी करते हैं। इन मुफ्तखोरों की भक्ति और धर्म का मजाक उड़ाते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—"एक चचा साहब राधा के अनन्य उपासक थे और बराबर वृन्दावन में रहते थे। भक्ति-रस के कितने ही कवित्त रच डाले थे और समय-समय पर उन्हें छपवाकर दोस्तों की भेंट कर देते थे। एक दूसरे चाचा थे, जो राम के परम भक्त थे और फारसी भाषा में रामायण का अनुवाद कर रहे थे। रियासत से सबसे वसीके बँधे हुए थे। किसी को कोई काम करने की जरूरत न थी।"

जब होरी गोबर से कहता है कि मालिक चार घंटे रोज भगवान का भजन करते हैं, भगवान की उनपर दया क्यों न हो? तो गोबर व्यंग्य करता हुआ कहता है—"यह पाप का धन पचे कैसे? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है।···भूखे-नंगे रहकर भगवान का भजन करें, तो हम भी देखें। हमें कोई दोनों जून खाने को दे तो हम आठों पहर भगवान का जाप करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जायें।"

इन छापा-तिलक-धारियों की काली करतूत का विस्तृत चित्र झुनिया प्रस्तुत करती है। वह एक पंडितजी की दुश्चरित्रता का किस्सा सुनाती हुई कहती है—बरसों से दूध लेकर बाजार जाती हूँ। एक-से-एक बाबू, महाजन, ठाकुर, वकील, अमले अफसर अपना रसियापन दिखाकर मुझे फँसा लेना चाहते हैं।···एक पंडितजी बहुत तिलक-मुद्रा लगाते हैं। आधा सेर दूध लेते हैं। एक दिन उनकी घरवाली कहीं नेवते में गई थी। मुझे क्या मालूम। और दिनों की तरह दूध लिए भीतर चली गई। वहाँ पुकारती हूँ, बहूजी, बहूजी!···इतने में देखती हूँ तो पंडितजी बाहर के किवाड़ बन्द किये चले आ रहे हैं। मैं समझ गई, इसकी नीयत खराब है। मैंने डाँटकर पूछा—तुम ने किवाड़ क्यों

बन्द कर लिये ? क्या बहूजी कहीं गई हैं क्या ?···वह मेरी ओर दो पग और बढ़ गया। मैंने कहा —'तुम्हें दूध लेना हो तो लो, नहीं तो जाती हूँ। बोला—आज तो तुम यहाँ से न जाने पाओगी भूना रानी, रोज-रोज कलेजे पर छुरी चलाकर भाग जाती हो···।' तुमसे सच कहती हूँ गोबर, मेरे रोएँ खड़े हो गये।···मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। यह कुछ बदमाशी कर बैठे, तो क्या करूँगी। कोई चिल्लाना तो न सुनेगा, लेकिन मन में यह निश्चय कर लिया था कि मेरी देह छुई तो दूध की भरी हाँडी उसके मुँह पर पटक दूंगी। बला से चार-पाँच सेर दूध जायेगा,···। कलेजा मजबूत करके बोली—इस फेर में न रहना पंडितजी ! मैं अहीर की लड़की हूँ। मूँछ का एक-एक बाल चुनवा लूंगी। यही **लिखा है तुम्हारे पोथी-पत्रे में कि दूसरों की बहू-बेटी को अपने घर बन्द करके बेइज्जती करो। इसीलिए तिलक-मुद्रा का जाल बिछाये बैठे हो ?**'···मैंने नोट जमीन पर गिरा दिये और द्वार की ओर चली, तो उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं तो पहले से ही तैयार थी। हाँडी उसके मुँह पर दे मारी। सिर से पाँव तक सराबोर हो गया। चोट खूब लगी। सिर पकड़ कर बैठ गया···मैंने···पीठ में दो लातें जमा दीं और किवाड़ खोलकर भागी।"

गोबर ठट्ठा मार कर बोला—बहुत अच्छा किया तुमने। दूध से नहा गया होगा। **तिलक-मुद्रा भी धुल गई होगी**। मूँछें भी क्यों न उखाड़ लीं ?"

"दूसरे दिन मैं फिर उसके घर गई। उसकी घरवाली आ गई थी।···मैंने कहा—कहो तो कल की तुम्हारी करतूत खोल दूँ पंडित !" लगा हाथ जोड़ने। मैंने कहा—अच्छा थूककर चाटो, तो छोड़ दूँ।" सिर जमीन पर रगड़ कर कहने लगा—अब मेरी इज्जत तुम्हारे हाथ है भूना···मुझे भी उस पर दया आ गई।"

गोबर को उसकी दया बुरी लगी—"यह तुमने क्या किया ?···**ऐसे पाखंडियों पर दया न करनी चाहिये**। तुम मुझे कल उसकी सूरत दिखा दो। फिर देखना कैसी मरम्मत करता हूँ।"

इस प्रसंग में बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। दुश्चरित्र, लम्पट पंडित आलम्बन है। उसका जबरदस्ती करने का प्रयत्न, रुपये देना, याचना करना, हाथ पकड़ना आदि कृत्य उद्दीपन-विभाव हैं। झुनिया और गोबर के वाचिक अनुभाव बहुत स्पष्ट हैं। झुनिया द्वारा दूध की मटकी मारना, लात मारना, नाक रगड़वाना, आदि शारीरिक अनुभाव हैं तथा रोमांच, कम्प, धड़कन आदि सात्विक अनुभाव हैं। आशंका, क्रोध, भय, मति, धृति, साहस, विनय, पश्चात्ताप, व्यंग्य और हास्य आदि कितने ही संचारी भाव रस को परमपुष्ट कर रहे हैं। धर्म के पाखंड पर व्यंग्य भी स्पष्ट है।

परम्परागत ब्राह्मण धर्म की प्रेमचन्द ने खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। यह धर्म भी विचित्र ढकोसला है ! "हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।" कैसी बढ़िया फबती है ब्राह्मण दातादीन और उनके बेटे मातादीन के पाखंडी धर्म पर ! "मातादीन एक चमारिन से फँसा हुआ था। इसे सारा गाँव जानता था, पर वह

तिलक लगाता था, पोथी-पत्रे बाँचता था, कथा-भागवत कहता था, धर्म-संस्कार कराता था। उसकी प्रतिष्ठा में जरा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लेता था।" जब चमारों ने देखा कि यह ब्राह्मण हमारी लड़की को भ्रष्ट करके आप मजे से नेमी-धर्मी बना हुआ है, तो उन्होंने मातादीन के मुँह में हड्डी छुआ दी। बस फिर क्या था, मातादीन का धर्म भ्रष्ट हो गया! वह अब पंडिताई कैसे कर सकता है? कथा-वार्ता, भजन-पूजन कैसे करे? वह पतित हो गया! काशी के पंडित जब बड़ा भारी प्रायश्चित्त कराते हैं, दान-भोजन उड़ाते हैं और मातादीन को 'गाय का गोबर और शुद्ध मूत्र खिलाते-पिलाते हैं, तब जाकर उसका धर्म कुछ ठिकाने पर आता है। कैसा धर्म है यह! प्रेमचन्द का मार्मिक व्यंग्य देखिए—**"उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज उस धर्म की जड़ कट गई।** अब वह लाख प्रायश्चित्त करे, लाख गोबर खाये और गंगाजल पिये, लाख दान-पुण्य और तीर्थ-व्रत करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता। अगर अकेले की बात होती, तो छिपा ली जाती; यहाँ तो सबके सामने उसका धर्म लुटा।"

प्रायश्चित्त के ढोंग ने मातादीन को भी सजग कर दिया। वह इस ढोंगी धर्म को तिलांजलि देकर अपनी प्रेम की देवी के मंदिर का पुजारी बन जाता है। प्रेमचन्द का मार्मिक व्यंग्य देखिये—"मातादीन को शुद्ध गोबर और गो-मूत्र खाना-पीना पड़ा। गोबर से उसका मन पवित्र हो गया। मूत्र से उसकी आत्मा में अशुचिता के कीटाणु मर गये। लेकिन एक तरह से इस प्रायश्चित्त ने उसे सचमुच पवित्र कर दिया। हवन के प्रचंड अग्नि-कुंड में उसकी मानवता निखर गई, और हवन की ज्वाला के प्रकाश में उसने धर्म-स्तम्भों को अच्छी तरह परख लिया। उस दिन से उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो गई। उसने जनेऊ उतार फेंका और पुरोहिती को गंगा में डुबो दिया।" व्यंग्यपूर्ण वचन-वक्रता का कैसा बढ़िया उदाहरण है!

बगुला-भक्त नोखेराम "प्रातःकाल पूजा पर बैठ जाते थे और दस बजे तक बैठे राम-नाम लिखा करते थे, मगर भगवान के सामने से उठते ही उसकी मानवता विकृत होकर उनके मन, वचन और कर्म सभी को विषाक्त कर देती थी।" "लाला पटेश्वरी गाँव में पुण्यात्मा मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य सत्यनारायण की कथा सुनते थे; पर पटवारी होने के नाते खेत बेगार में जुतवाते थे, सिंचाई बेगार में करवाते थे और असामियों को एक-दूसरे से लड़ाकर रकमें मारते थे।" इन झूठे नेमी-धर्मियों की प्रेमचन्द ने खूब खबर ली है। इनकी काली करतूतों का कच्चा चिट्ठा दिखा कर स्पष्ट किया गया है कि यह धर्म कितनी कच्ची रेत की दीवार पर टिका हुआ है। कबीर आदि प्राचीन सन्तों से भी अधिक सजीव रूप में प्रेमचन्द ने ब्राह्मणी धर्म के किले की ईंट-से-ईंट बजाई है। अन्त में भी धर्म और समाज पर जबरदस्त व्यंग्य किया गया है। जो किसान सारी उम्र भूखा-नंगा रहा, एक गाय को घर रखने की जिसकी साध कभी पूरी नहीं हुई, उसीसे मरते समय गो-दान की आशा की जाती है। होरी के प्राण-पखेरू उड़ रहे हैं। कई आवाजें

आई––हाँ, गोदान करा दो, यही समय है।" और बेचारी धनिया घर में जो बीस आने सुतली बेचकर उसने बनाये थे, उन्हें दातादीन को दे देती है—महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" कैसी विडम्बना है! मरते समय भी धर्म-शोषक उपस्थित हैं!

प्रेमचन्द के गोदान तथा अन्य उन्पयासों में वैवाहिक पद्धति के दोष

अनमेल विवाह के भिन्न-भिन्न रूप

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में परम्परागत भारतीय वैवाहिक पद्धति की खूब खबर ली है। इसके दोषों को उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में स्थान-स्थान पर दिखाया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में बेमेल विवाह के अनेक चित्र पाये जाते हैं। उन्होंने हमारी परम्परागत वैवाहिक पद्धति की खूब खिल्ली उड़ाई है।

प्रेमचन्द अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वयं इस पद्धति के शिकार बने रहे हैं। उनके पिता ने बुढ़ापे में दूसरी शादी की थी। उनका अपना विवाह बेमेल था, यह हम पहले कह आये हैं। इस व्यक्तिगत विषमता को समाज में सर्वत्र पाकर—और अनेक प्रकार से अनेक रूपों में पाकर, प्रेमचन्द को विशेष उत्तेजना मिली। उनके प्राय: प्रत्येक उपन्यास में कोई-न-कोई वैवाहिक विषमता का चित्र अवश्य पाया जाता है।

कहीं विवाह वय की दृष्टि से अनमेल है, और उसके भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न कारण हैं। कहीं दहेज की समस्या के कारण फूल-सी कन्या को अधेड़ या वृद्ध आदमी से बाँध देने का दोष है या अधेड़ दुहाजू से ब्याह देने की विषम परिस्थिति है, तो कहीं अशिक्षा और अन्ध-परम्परा से बाल-विवाह की कुरीति है। कहीं वृद्ध-विवाह की लालसा है, तो कहीं माँ-बाप पैसा लेकर लड़की को बूढ़े के हवाले कर देते हैं।

कहीं पति-पत्नी के स्वभाव और विचारधारा की विषमता बेमेल विवाह का स्वरूप बनी है। ब्याह-शादी में लड़के-लड़की की प्रकृति-रीति का मिलान करने की बजाय जब रुपये-पैसे की माप-जोख से ब्याह होगा तो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी ही। हमारे समाज में विवाह एक ढकोसला बन गया है। रुपये-पैसे की दृष्टि से रिश्ते-नाते होते हैं या जन्मकुण्डलियाँ मिलाई जाती हैं। माता-पिता द्वारा की गई ऐसी शादियों के दुष्परिणामों को प्रेमचन्द ने अनेक स्थानों पर प्रकट किया है।

कहीं अर्थ के अनर्थ से एक और दूषण उत्पन्न हुआ है। अमीर की लड़की गरीब से कैसे ब्याही जा सकती है? चाहे दोनों का स्वाभाविक प्रेम 'लरिकाई को प्रेम' बनकर विकसित हुआ हो: माँ-बाप अपनी मर्जी से ही शादी करते हैं। जिनकी शादी होनी है, उनकी इच्छा-अनिच्छा की कोई परवाह नहीं की जाती। भावनाएँ कुचल दी जाती हैं। 'वरदान' में यही हुआ है।

अपने आरम्भिक उपन्यास में ही प्रेमचन्द ने नारी की विषमता का चित्रण आरम्भ कर दिया था। 'रूठी रानी' में सामन्तवादी दूषित वैवाहिक पद्धति है, जिसमें नारी की मूक आत्मा छटपटाती रहती है। 'वरदान' में अर्थ के अनर्थ से वैवाहिक दूषण

उत्पन्न हुआ है। बिरजन अमीर माता-पिता की लड़की है, प्रताप निर्धन है। दोनों का बालपन का स्वाभाविक विकसित प्रेम समाज की ऊँच-नीच की दीवार से टकरा कर रह जाता है। अमीर पिता गरीब लड़के से अपनी लड़की की शादी कैसे कर सकता है! अतः बिरजन के पिता अपनी ही हैसियत के डिप्टी श्यामचरण के लड़के कमलाचरण को योग्य वर मान कर बिरजन की शादी उससे कर देते हैं। बिरजन और प्रताप दोनों मन मसोस कर रह जाते हैं। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि हमारी वैवाहिक पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इसे अत्यधिक परम्परागत सामाजिक रूप प्राप्त है। झूठी सामाजिक मर्यादाओं के पालन को महत्त्व दिया जाता है। विवाह का कोई व्यक्तिगत पहलू भी है और उसका भी बड़ा महत्त्व है, यह दृष्टि नहीं थी। लड़की को एक गौ की तरह, जहाँ माता-पिता की इच्छा होती थी, दे डालते थे। लड़के-लड़की की इच्छा-अनिच्छा की कोई परवाह नहीं की जाती थी। यह बिरजन और प्रताप की ट्रेजेडी है।

प्रतिज्ञा में पति-पत्नी में स्वभाव और विचारों की विषमता से पारिवारिक जीवन में उत्पन्न होने वाले दोष दिखाए गये हैं। कमलाप्रसाद और सुमित्रा के वैवाहिक जीवन में यही विषमता है। यह विषमता इसीलिए उत्पन्न होती है क्योंकि लड़के-लड़की की जन्म-कुण्डलियाँ ही माँ-बाप मिलाते हैं। दोनों की प्रकृति, शिक्षा-संस्कार के मिलान करने की उन्हें दृष्टि ही नहीं मिली है। वे अपनी हैसियत मिलाते हैं और रुपये-पैसे पर रिश्ते-नाते होते हैं। कमलाप्रसाद और सुमित्रा के वैवाहिक जीवन के दो-चार महीने ही चैन से गुजरे होंगे। "ज्यों-ज्यों दोनों की प्रकृति का विरोध प्रकट होने लगा, दोनों एक-दूसरे से खिचने लगे।···सुमित्रा में नम्रता, विनय और दया थी; कमला में घमण्ड, उच्छृंखलता और स्वार्थ। एक वृक्ष का जीव था, दूसरा पृथ्वी पर रेंगने वाला। उनमें मेल कैसे होता।" लोलुप कमलाप्रसाद विधवा पूर्णा को फँसाना चाहता है। पुरुष की यह लोलुपता पत्नी कैसे बर्दाश्त कर सकती है? 'प्रतिज्ञा' में हमारी वैवाहिक पद्धति का एक अभावात्मक दोष यह प्रकट हुआ है कि समाज में बेचारी विधवा का जीवन अभिशाप बना हुआ है। विधवा-विवाह-निषेध तथा विधवा नारी के संरक्षण और जीवन-निर्वाह की व्यवस्था का अभाव उसके जीवन की विडम्बना बन जाते हैं।

पति-पत्नी में विचारों और स्वभाव की विषमता तो फिर भी परिस्थितियों से समझौता कर लेती है : स्वभाव बदल जाते हैं या एक पक्ष झुक जाता है, तो काम चल जाता है। कमला-सुमित्रा के अतिरिक्त 'गोदान' के खन्ना और गोविन्दी के जीवन में यही हुआ। पर वय और आकृति के अनमेल से जो विषमता उत्पन्न होती है, वह समझौते के लिए भी गुंजाइश नहीं छोड़ती। 'सेवासदन' और 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि भारतीय नारी विषम परिस्थिति में समझौता करना चाहती है, पर यह विषमता ही ऐसी है—यह गाँठ ही ऐसी है कि सम्बन्ध-सूत्र को तोड़ डालती है। 'सेवासदन' और 'निर्मला' दोनों में वय की विषमता का मूल कारण दहेज की प्रथा है। दहेज की कुप्रथा के कारण ही सुमन के मामा उमानाथ और निर्मला की माता अपनी-अपनी कन्या के लिए योग्य युवक वर प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। जहाँ-कहीं किसी खाते-पीते नवयुवक को ढूँढ़ा

जाता है, वहीं दहेज की लम्बी-चौड़ी माँग हो जाती है।

निर्मला का विवाह उसके पिता ने बाबू भालचन्द्र सिन्हा के युवक पुत्र भुवन-मोहन सिन्हा से तय कर रखा था। परन्तु दुर्भाग्यवश बाबू उदयभानु की मृत्यु हो गई। निर्मला के पिता की मृत्यु के पश्चात् लोलुप बाप-बेटों ने, दहेज पूरा न मिलने की आशंका से बात तोड़ डाली और निर्मला से शादी करने से इन्कार कर दिया।

भुवनमोहन 'निर्मला' का एक विचित्र नवयुवक है। उसकी धन-लोलुपता एक और विचित्रता प्रकट करती है। वह निर्मला से शादी करने से इन्कार करता हुआ अपने पिता से कहता है—"कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रुपया मिले। और न सही एक लाख का डौल तो हो।" वह इसके लिए यहाँ तक तैयार है कि औरत कैसी ही हो—"घन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियाँ भी सुनाये तो चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है!" प्रेमचन्द का व्यंग्य कितना मार्मिक है!

विवश होकर, दहेजखोरों का मुँह न भर सकने के कारण, निर्मला की माता अपनी पन्द्रह वर्षीया फूल-सी कन्या का विवाह 40 से भी ऊपर के एक दुहाजू सम्पन्न वकील तोताराम से करती है। निर्मला की ट्रेजेडी केवल वय की विषमता की ट्रेजेडी ही नहीं है। वह लाला तोताराम के घर में तीन बच्चों के लिए विमाता, अधेड़ अथच बूढ़े पति के लिए नव-विकसित कलिका और अतृप्त-लालसा पत्नी, एक वृद्धा ननद के लिए खटकने वाली गृह-स्वामिनी बहू, ननद के झूठे लांछनों का शिकार बनी विमाता, तथा नवयुवक पुत्र और नवयुवती पत्नी के बीच अनुचित सम्बन्ध का भ्रम करने वाले संशयालु पति की पत्नी बन जाती है। वह बच्चों से सात्विक स्नेह रखने पर भी कलंकित की जाती है। बड़े लड़के मनसा के प्रति स्नेह को पति सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। पति उसे पिता-तुल्य लगता है, अतः वह उसकी अंकशायिनी होते झिझकती है। पति का सन्देह बढ़ता है। यह संशय बड़े बेटे मनसा को पीड़ित करता है। सारा घर तबाह हो जाता है। बेटे मर जाते हैं। तोताराम की सम्पति नष्ट हो जाती है। शान्ति छिन जाती है। वह भी ऊबकर घर से चले जाते हैं। निर्मला घुल-घुल कर मर जाती है। मरते समय वह अपनी ननद से जो शब्द कहती है, वे अत्यन्त मार्मिक हैं—"दीदीजी, बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे तो अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी। केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ। **"चाहे वह क्वारी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा। इतनी ही आपसे मेरी विनय है।"**

'सेवासदन' में भी सुमन का विवाह अधेड़ अवस्था के एक कुरूप एवं निर्धन व्यक्ति गजाधरप्रसाद से होता है। कहाँ तो लाड़-प्यार में पली फूल-सी सुन्दर कली सुमन और कहाँ गजाधरप्रसाद! यह विषमता ऐसा विष-वृक्ष बोती है, जिसका जहर समाज को भी चढ़ जाता है। दुहाजू पति सहज ही संशयालु हो जाता है। सुमन के जीवन की विषम परिस्थितियाँ कैसे उसे वेश्या बना डालती हैं, यह हम 'सेवासदन' के प्रकरण में अच्छी तरह दिखा आए हैं।

'सेवासदन' में हमारी वैवाहिक पद्धति के और भी कई प्रकार के दोष बताये गए हैं, जैसे ब्याह-शादियों में अत्यधिक खर्च करना, वेश्याओं के नृत्य आदि कराना, तथा सबसे बढ़कर वह झूठी मर्यादा की दुहाई जिसके कारण सुमन के कलंक से उसकी बहन दण्डित की जाती है। सदन का पिता तुरन्त बारात वापस लौटा ले जाता है और तूफान मचा डालता है, जब उसे मालूम होता है कि शान्ता की बहन सुमन बनारस में वेश्या बनी हुई है। वह ऐसे घर में अपने लड़के की शादी कैसे कर सकता है ?

'निर्मला' में प्रेमचन्द ने नारी-जीवन की एक और विषमता का चित्र भी प्रस्तुत किया है। वह है सुधा का जीवन। उसके जीवन की ट्रेजेडी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रेमचन्द ने स्पष्ट कर दिया है कि वय की विषमता तो विषमता है ही, वय की समता में भी कई कारणों से विषमता रहती है। हमारी विवाह-संस्था एक ढकोसला ही है। स्वभाव और मन के मेल का यहाँ ख्याल ही नहीं रखा जाता। रुपयों की थैलियों से विवाह के सौदे होते हैं। सुधा और डॉक्टर सिन्हा का प्रेम बालू की भीत पर ही स्थित था। डॉ० सिन्हा को अपने लालच का फल भुगतना पड़ता है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर और श्रद्धा में विचित्र वैषम्य है। श्रद्धा एक पति-परायणा परम्परा-पंथी नारी है। उसका पति प्रेमशंकर विदेश हो आया है, उसे यही बात मर्यादा के विरुद्ध लगती है और पति से खिंची रहती है। निश्चय ही यह शिक्षा और विचार-वैषम्य भी हमारी दूषित वैवाहिक पद्धति के कारण उत्पन्न होता है। ज्ञानशंकर और विद्या में विषमता का दूसरा रूप है। विद्या एक सती-साध्वी सच्चरित्रा नारी है। उसे अन्याय, शोषण और लोलुपता से घृणा है। पति के कुकृत्यों से वह खिन्न रहती हे। ज्ञान-शंकर शोषक, अन्यायी, अत्याचारी और लोलुप व्यक्ति है। पत्नी को ऐसे पति की पतित मनोवृत्ति की बलि चढ़ना पड़ता है।

'गबन' में रतन का विवाह उसके मामा एक बूढ़े सम्पन्न वकील साहेब से कर देते हैं। यद्यपि युवती रतन अपने पति के धन से खेलकर ही अपने को संतुष्ट रखती है, पर उसकी विषम जीवन-परिस्थिति का करुण-परिणाम प्रेमचन्द ने बहुत अच्छी तरह दिखाया है। ऊपर से वह सन्तुष्ट दिखाई देती है पर जीवन में इसी विषमता के कारण उसका मातृत्व रिक्त रहता है। उसका अभाव-ग्रस्त मातृत्व हरदम चीत्कार करता है। दूसरे, बूढ़े पति से शादी का परिणाम यह होता है कि रोगी बूढ़ा पति शीघ्र ही चल बसता है। हजार प्रयत्न करने पर भी रतन उसे नहीं बचा सकती। और फिर वैधव्य का वही कारुणिक चित्र प्रकट होता है जो हर हिन्दू विधवा के भाग्य में बदा है। रतन असहाय हो जाती है। उसकी धन-सम्पत्ति वकील साहब के भतीजे-द्वारा लूट ली जाती है। रतन बेसहारा, निर्धन, कंगाल बना दी जाती है। मणिभूषण (इन्दुभूषण वकील का भतीजा) रतन से साफ कहता है कि सम्मिलित परिवार में एक विधवा का कोई अधिकार नहीं।

"रतन—मैं अपनी मर्यादा की रक्षा आप कर सकती हूँ। तुम्हारी मदद की जरूरत नहीं। मेरी मर्जी के बगैर तुम यहाँ की कोई चीज नहीं बेच सकते।"

"मणिभूषण ने वज्र-सा मारा—आपका इस घर पर और चाचाजी की संपत्ति

पर कोई अधिकार नहीं। वह मेरी सम्पत्ति है। आप मुझसे केवल गुजारे का सवाल कर सकती हैं—सम्मिलित परिवार में विधवा का अपने पुरुष की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।"

और बेचारी रतन वैधव्य का अभिशाप अनुभव करने के बाद कहती है—"न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था कि स्त्री का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसीके सामने उस पापी से पूछूँगी—क्या तेरे घर में माँ-बहिनें न थीं ? तुम्हें उनका अपमान करते लज्जा न आई ? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती तो मैं सब स्त्रियों से कहती, "बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और करना हो तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना।" क्या यह आवाज हिन्दू कोड बिल के निर्माण की भूमिका नहीं है ? वैवाहिक जीवन की विषमता के और भी कई संकेत प्रेमचन्द ने दिये हैं। धन से ही नारी का वैवाहिक जीवन सुखी नहीं होता। जालपा की एक सहेली का पति विद्वान भी है और धनी भी, पर है वेश्यागामी। दूसरी सखी का पति बहुत पढ़ा-लिखा है, एम० ए० पास है, पर सदा रोगी रहता है। रोगी पति से स्त्री कैसे प्रसन्न रह सकती है ? अतः धन या शिक्षा ही वैवाहिक जीवन की सुख-शान्ति के कारण नहीं है। वय और सच्चरित्रता तथा स्वास्थ्य आदि बातों की समता भी आवश्यक है।

'रंगभूमि' में राजा महेन्द्रकुमारसिंह और उनकी पत्नी इन्दु में विचारों और स्वभाव की विषमता है। भँवरों और सुभागी का जोड़ा भी विषम है। इस रचना में प्रेमचन्द ने विनय और सोफिया के रोमांस को प्रस्तुत किया है। हिन्दू और ईसाई का रोमांस है, बीच में धर्म की बाधा है। सोफिया के माता-पिता दुहाई मचाते हैं। विनय की माता का हिन्दू धर्म अड़ जाता है। परन्तु फिर भी प्रेमचन्द चाहते तो दोनों को मिला सकते थे, क्योंकि दोनों स्वतन्त्र विचारों के दृढ़ प्राणी हैं, पर शायद प्रेमचन्द ने भी धर्म के भय से ऐसा नहीं किया है। दोनों भाग्य की डोरी पर झकोरे खाते रहते हैं और आत्म-बलिदान के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। धर्म की इस दीवार को तोड़कर भी प्रेमचन्द स्तम्भित से निश्चेष्ट रह गये।

'कायाकल्प' में विषमता का एक रूप—'रूठी रानी' वाला सामन्तीय रूप उभर आया है। राजा विशालसिंह के लिए शादी विलास का एक साधन है। वह चार-चार शादियाँ करता है और प्रत्येक नारी को सूँघे हुए फूल की तरह फेंक देता है। नारी-जीवन की कैसी करुण परिस्थिति है ! कैसी विवशता है ! रोहिणी की दुखी आत्मा राजा से कहती है—"आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं।·· स्त्री कभी पुरुष का खिलौना है, कभी उनके पाँव की जूती।"

अहल्या और चक्रधर का विवाहित जीवन इसलिए सुखी नहीं हो सका, क्योंकि अहल्या अपने पति के स्वभाव के विपरीत, ऐश्वर्य-सुख-भोग और विलास में ही जीवन का सुख मानती थी।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने विषम दाम्पत्य जीवन के कई चित्र प्रस्तुत किये हैं। "खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती।" प्रेमचन्द व्यंग्य करते हैं—"क्यों नहीं पटती, यह बताना कठिन है। ज्योतिष के हिसाब से उनके ग्रहों में कोई विरोध हैं, हालांकि विवाह के समय ग्रह और नक्षत्र खूब मिला लिए गए थे।" पटे कैसे ? विवाह जन्म-पत्री मिलाने से होता है, स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलाई जाती, या फिर धन के आधार पर होता है। दोनों में स्वभाव की विषमता है। खन्ना धन-दौलत का मतवाला, ऐश्वर्य-गर्व में चूर, लम्पट, रसिक, विलासप्रिय, धन को ही सब कुछ समझने वाला, आडम्बर-प्रिय व्यक्ति है। वह स्वच्छन्द विहार करता है। पर गोविन्दी सरल हृदय की भारतीय नारी है। "यह अपार सम्पत्ति जैसे उसकी आत्मा को कुचलती रहती है।" आडम्बरों और पाखण्डों से उसे घृणा है। नारी और सब-कुछ सह सकती है, पर पुरुष की पर-स्त्री-लम्पटता नहीं सह सकती। खन्ना मालती के पीछे दीवाना बना फिरता है, फिर पटे कैसे? यह वैवाहिक पद्धति का दोष है, यह पुरुष-प्रधान सामाजिक व्यवस्था की त्रुटि है।

ऐसा ही एक और चित्र देखिए। रायसाहब अमरपालसिंह की पुत्री मीनाक्षी का विवाह के कुछ दिन बाद ही पति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। "साधारण हिन्दू बालिकाओं की तरह मीनाक्षी भी बेजबान थी। बाप ने जिसके साथ ब्याह कर दिया, उसके साथ चली गई; लेकिन स्त्री-पुरुष में प्रेम न था। दिग्विजयसिंह ऐय्याश भी थे, शराबी भी। मीनाक्षी भीतर-ही-भीतर कुढ़ती रहती थी। पुस्तकों और पत्रिकाओं से मन बहलाया करती थी। दिग्विजयसिंह बड़ा मगरूर, अपनी कुल-प्रतिष्ठा की डींग मारने वाला, स्वभाव का निर्दयी और कृपण। गांव की नीच जाति की बहू-बेटियों पर डोरे डाला करता था। सोहबत भी नीचों की थी, जिनकी खुशामद ने उसे और भी खुशामद-पसन्द बना दिया था। मीनाक्षी ऐसे व्यक्ति का सम्मान दिल से न कर सकती थी।" मीनाक्षी गुजारे का दावा कर देती है, दिग्विजयसिंह ने उस पर उल्टा बदचलनी का आक्षेप लगाया।

"एक दिन वह क्रोध में आकर हण्टर लिए दिग्विजयसिंह के बंगले पर पहुँची। शोहदे जमा थे और वेश्या का नाच हो रहा था। उसने रणचन्डी की भांति पिशाचों की इस चाण्डाल चौकड़ी में पहुँच कर तहलका मचा दिया। हण्टर खा-खा कर लोग इधर-उधर भागने लगे।···इतना मारा कि कुंवर साहब बेदम हो गए। वेश्या अभी तक कोने में दबकी खड़ी थी। अब उसका नम्बर आया। मीनाक्षी हण्टर तान कर जमाना ही चाहती थी कि वेश्या उसके पैरों पर गिर पड़ी···मीनाक्षी ने उसकी ओर घृणा से देखकर कहा—"हाँ तू निरपराध है। जानती है न, मैं कौन हूँ ? चली जा। अब कभी यहाँ न आना। स्त्रियां भोग-विलास की चीजें हैं ही, तेरा कोई दोष नहीं।" पुरुष की विलास-वृत्ति का कैसा घिनौना रूप है ? मीनाक्षी का प्रत्येक कृत्य पाठक के हृदय के घृणा भाव को तुष्ट एवं पुष्ट करता है। उसकी घृणा से हमारा तादात्म्य हो जाता है। क्रोध-मिश्रित घृणा का यहाँ कैसा सुन्दर चित्र है !

यही रायसाहब अमरपालसिंह बेटे रुद्रपाल का विवाह भी अपनी प्रतिष्ठा और

मर्यादा की दुहाई देकर राजा सूर्यप्रतापसिंह की लड़की से अपनी मर्जी के मुताबिक करना चाहते हैं, पर वह तो लड़का था—निडर, स्वच्छन्द विचारों का। इसी से बाप के झांसे में न आया।

शहरों में यह विषमता पुरुष की लम्पटता और स्वभाव की उद्दण्डता के कारण उत्पन्न होती है, जिसके मूल में है धन-सम्पत्ति का दोष। गांव में विषमता का कारण है विवशता। होरी की दशा दिन-दिन गिरती जा रही थी। मकान गया, बैल गए, खेती नहीं रही, अब जमीन से भी बेदखल होने वाला था। इसी समय धूर्त्त दातादीन आपत्काल का धर्म बताता हुआ कहता है—"आपत्काल में श्रीरामचन्द्र जी ने सबरी के झूठे फल खाये थे, बालि का छिपकर वध किया था। जब संकट में बड़े-बड़ों की मर्यादा टूट जाती है, तो हमारी-तुम्हारी कौन बात है। रामसेवक महतो को जानते हो न ?···यह बड़ा अच्छा ओसर है। लड़की का ब्याह भी हो जाएगा, और तुम्हारे खेत भी बच जायेंगे। सारे खरच-बरच से बचे जाते हो।"

"रामसेवक होरी से दो-ही-चार साल छोटा था। ऐसे आदमी से रूपा के ब्याह करने का प्रस्ताव ही अपमानजनक था। कहाँ फूल-सी रूपा और कहाँ वह बूढ़ा ठूँठ!" पर्याप्त मानसिक द्वन्द्व के बाद होरी-धनिया बूढ़े रामसेवक से कन्या का विवाह कर देते हैं। यह एक तरह से लड़की बेचना ही हुआ। दातादीन ने चुपके-से सौ-सौ के दो नोट होरी के हाथ में दिये। होरी ने रुपये लिए तो उसका हाथ कांप रहा था। उसका सिर ऊपर न उठ सका, मुँह से एक शब्द भी न निकला···आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है। वह चिल्ला चिल्ला कर कह रहा है, भाइयों, मैं दया का पात्र हूँ···"

गांव का दूसरा चित्र है भोला और नोहरी का। भोला अपने बुढ़ापे में दूसरी सगाई ले आता है। औरत के बिना उसका जीवन नीरस था। संयोग से एक जवान विधवा मिल गई। भोला की लार टपक पड़ी। झटपट शिकार मार लाये। पर परिवार में स्वयं शिकार बन गये। लड़कों, बहुओं से झगड़ा रहने लगता है। "नई स्त्री लाकर बेटे से आदर पाने का अब उसे कोई हक न रहा था। कामता ने भोला को पीट कर घर से निकाल दिया।" नोखेराम ने उसे और उसकी पत्नी नोहरी को अपने यहाँ शरण दी—नोहरी को विशेष रूप से। "नोहरी के विषय में कनबतियाँ होती रहीं—नोहरी ने आज गुलाबी साड़ी पहनी है। अब क्या पूछना है, चाहे रोज एक साड़ी पहने। सैयां भये कोतवाल अब डर काहे का ? भोला की आंखें फूट गई हैं क्या ?" यह परिणाम है इस बेमेल विवाह का। भोला नोहरी के इशारे पर नाचने लगा, उसकी आँखों का पानी मर गया। घर से अलग हुआ, निकम्मा और गुलाम बन गया, कोई जात भी नहीं पूछता था। वह लड़कों के पास रहना चाहता है, पर अब नोहरी उसे जाने नहीं देती। जूतों से पीट देती है।

गांवों में पैसे के प्रभाव से प्राय: बेमेल विवाह करते हैं। झिंगुरीसिंह दो-दो जवान

मेहरियां रखे हुए हैं। यद्यपि वह उन्हें पर्दे में रखता है। पर न जाने पर्दे की ओट में क्या क्या होता है ! इस प्रकार की वय-विषमता का परिणाम नैतिक पतन ही हो सकता है।

गांवों में जात-पांत की बीमारी भी सम और स्वाभाविक प्रेम-विवाह में बाधक है। गोबर और झुनिया प्रेम-पाश में बंध जाते हैं। झुनिया विधवा है और अहीर की लड़की है। गोबर उसे अपने घर ले आता है, पर बिरादरी और पंच लाठी लेकर पीछे पड़ जाते हैं। होरी को सैंकड़ों रुपये का डाँड भरना पड़ता है। सिलिया को लम्पट मातादीन ने फुसला लिया। वह बेचारी मातादीन से अटूट प्रेम करने लगती है, आत्म-समर्पण कर देती है। पर बाम्हन और चमारिन का क्या मेल ? मातादीन आरम्भ में तो उसे खिलौना ही समझता है, पर बाद में उसकी मानवता जाग जाती है और वह तपस्या की देवी, सच्ची प्रेमिका सिलिया को अपना लेता है।

इस प्रकार 'गोदान' में भी हमें पुरुष की लम्पटता, आर्थिक विवशता, मां-बाप द्वारा पैसे का लोभ, मां-बाप-द्वारा अपनी मर्जी चलाना आदि कई कारणों से वैवाहिक विषमता के कई प्रकार के चित्र मिलते हैं। वय की विषमता के अतिरिक्त स्वभाव और चरित्र की विषमता से वैवाहिक जीवन अभिशाप बन जाता है। कई प्रकार की नैतिक और सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। हमें अपनी इस वैवाहिक पद्धति को भी बदलना होगा। धन के आधार को मिटाना होगा। पुरुष की लम्पटता और अत्याचार को समाप्त करना होगा। माँ-बाप अपनी झूठी प्रतिष्ठा और पैसे के लोभ से जो अविचार करते हैं, उसे रुद्रपाल की तरह अस्वीकार करना होगा। तभी हमारी वैवाहिक पद्धति के दोष दूर हो सकते हैं, तभी हमारा विवाहित जीवन सुखमय हो सकता है।

अन्य बुराइयाँ—'गोदान' में कुछ अन्य सामाजिक बुराइयाँ भी पाई जाती हैं। नगरों में पाश्चात्य प्रभाव से नर-नारियों में स्वच्छन्द विहार और फैशन-परस्ती बढ़ रही है। नारी भी पढ़-लिखकर फैशन की पुतली बनी स्वच्छन्द विहार करने लगी है। मालती का आरम्भिक तितली-रूप ऐसा ही है। इसका और बीभत्स रूप काश्मीरी गपड़ू की लड़कियों के प्रसंग में प्रकट हुआ है। झुनिया गोबर को बताती है—"आजकल बड़े घरों की विचित्र लीला है। जिस मुहल्ले में मेरी ससुराल है उसी में गपड़ू-गपड़ू नाम के कासमीरी रहते थे। उनकी तीन लड़कियाँ थीं। कोई बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस वर्ष की होंगी। एक-से-एक सुन्दर।···सितार वह बजावें, हरमुनियां वह सब बजावें, नाचें वह, लेकिन ब्याह कोई नहीं करती थी।···एक बार मैंने बड़ी बीबी से पूछा, तो हंस कर बोली—"हम लोग यह रोग नहीं पालते"; मगर भीतर ही भीतर खूब गुलछर्रे उड़ाती थीं। जब देखूँ तो दो-चार लौंडे उनको घेरे हुए हैं।···सारे शहर में उनकी लीला मशहूर थीं। गपड़ू बाबू सिर नीचा किये, जैसे मुँह में कालिख-सी लगाये रहते थे। लड़कियों को डाँटते थे, समझाते थे, मगर सबकी सब खुल्लम-खुल्ला कहती थीं—तुमको हमारे बीच बोलने का कुछ मजाल नहीं है। हम अपने मन की रानी हैं।"

आधुनिका की यह स्वच्छन्दता बुरी हद तक पहुँच गई है, तो पुरुष की लम्पटता और नैतिक पतन भी कुछ कम नहीं है। वास्तव में तो पुरुष ने ही जो नारी को युग-युग

से अपना खिलौना बनाया हुआ था, यह उपर्युक्त अति स्वच्छन्दता उसकी ही अति प्रतिक्रिया है। खन्ना-जैसे अभागे पुरुष, जो गोविन्दी-जैसा हीरा पत्नी पाकर भी भूले हैं, और नारी पर अत्याचार करते हैं, पुरुष-प्रधान समाज की बुराइयों के ही आगार हैं। पुरुष की लम्पटता और नैतिक पतन का दूसरा चित्र कुँवर दिग्विजयसिंह के जीवन से मिलता है। यही बिलासप्रियता और नैतिक पतन वेश्यागामिता आदि बुराइयों को जन्म देते हैं। गांवों में इस लम्पटता और नैतिक पतन के प्रतिनिधि हैं नोखेराम, मातादीन आदि बड़े-बड़े ग्राम-स्तम्भ।

स्वार्थी और दुर्बल प्रकृति के ओंकारनाथ जैसे पत्रकार भी समाज की वर्गगत बुराई के रूप में विकसित हो रहे हैं। ऐसे पत्रकारों का ऊँचा आदर्श कोरा पाखण्ड होता है। ये बातें तो बहुत ऊँची आदर्शवादी करते हैं, पर व्यवहार के बहुत कच्चे हैं। ओंकार-नाथ स्वदेशी का हामी है, पर अपने पत्र में विदेशी वस्तुओं के विज्ञापन छापता है। कुछ रुपयों के लोभ से वह अपनी सत्य वाणी को मौन कर लेता है, पैसों पर उसका आदर्श और सिद्धान्त बिक जाता है। अपनी और अपने पत्र की प्रतिष्ठा के लिये वह मजदूरों को भड़काता है, पर त्याग और संकट के समय पीछे भाग जाता है। इस प्रकार के ढोंगी पत्र-कार भी हमारी घृणा के आलम्बन बनते हैं।

आज के भौतिक-स्वार्थी युग में वणिक-वृत्ति के ही प्रभाव से तंखा जैसे कोरम-कोर स्वार्थी, चालबाज, ढोंगी, खुशामदी व्यक्ति भी अपना निर्लज्ज अस्तित्व रखते हैं। चन्द्रप्रकाश तंखा विचित्र प्राणी है। वह चालबाजी और मक्कारी से रुपया बनाना जानता है। वकालत तो चला नहीं पाया, दलाली का धन्धा करता है। वह ऐसे ही मौकों की तलाश में रहता है, जिससे दूसरों को उल्लू बनाकर रुपया सीधा किया जाए। इलेक्शन के समय वह एक प्रभावशाली व्यक्ति को दूसरे प्रभावशाली उम्मीदवार के विरुद्ध खड़ा कर देता है। बाद में सौदा पटाकर एक को बिठलाने की कोशिश करता है। आप दलाली खा जाता है। जिधर से पैसा अधिक मिलने की आशा होती है उधर का ही पक्ष लेने लगता है। मतलब के लिये वह गधे को बाप बना लेता है। वह झूठी कम्पनियाँ खोलता है। उसका बीभत्स रूप रायसाहब और राजा सूर्यप्रतापसिंह के इलेक्शन-द्वन्द्व में स्पष्ट और सजीव हो जाता है। वह राजा सूर्यप्रतापसिंह के विरुद्ध रायसाहब अमरपाल-सिंह को यह लालच दिलाकर खड़ा कर देता है कि राजा साहब से बीस-तीस हजार दिला दूंगा, तब बैठ जाना। किन्तु जब रायसाहब से उसे विशेष दलाली मिलने की आशा नहीं होती, तो वह राजा सूर्यप्रतापसिंह की ओर हो जाता है और उसकी सहायता का ढोंग रचकर दस-बीस हजार पर हाथ मारना चाहता है। जब रायसाहब जीत जाते हैं और मिनिस्टर बन जाते हैं, तो उनकी चिरौरी करने के लिए 'हजूर' 'हजूर' कहता रायसाहब के पास आ उपस्थित होता है। उसका कोई ईमान नहीं, कोई धर्म नहीं। स्वार्थ के सिवा उसे कुछ सूझता नहीं।

शहरी जीवन की इन विकृतियों के विपरीत, गाँवों में अशिक्षा के कारण बेचारे किसानों में अंधविश्वास, छुआ-छूत, जात-पाँत, विधवा की विडम्बना, पारिवारिक सास-

बहू, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भावज, देवरानी-जेठानी के झगड़े और अलगौझे आदि बुराइयाँ पाई जाती हैं। इन बुराइयों के मूल में अज्ञान, अशिक्षा और आर्थिक विवशता होने के कारण ये बुराइयाँ घृणा को अधिक तीव्र रूप में उत्पन्न नहीं करतीं। फिर भी हैं ये बुराइयाँ ही।

इस प्रकार 'गोदान' में घृणा-भाव या बीभत्स रस के आश्रय समाज की अनेकानेक बुराइयाँ प्रकट हुई हैं। निश्चय ही प्रेमचन्द का उद्देश्य इन सब बुराइयों के प्रति हमारी घृणा जगाकर, समाज के इस कुरूप को बदलने की प्रेरणा देना है। उदात्त बीभत्सरस का अनेकमुखी प्रसार 'गोदान' की एक बड़ी औपन्यासिक शक्ति है। इसके बिना यह उपन्यास उच्चकोटि की साहित्यिक रचना बन ही नहीं सकता था। इस व्यापक रस-शक्ति की अवहेलना कोई कैसे कर सकता है ?

करुण रस की प्रधानता

'गोदान' कृषक-जीवन की करुण कहानी है, ट्रेजेडी है। उसका आरम्भ भी इसी करुण झाँकी से होता है और अन्त भी घनीभूत करुणा में होता है। मध्य का सारा कार्य-व्यापार भी यही करुण कहानी कहता है। इसीसे यह करुणरस-प्रधान रचना है। कुछ लोग होरी को कर्मवीर मानकर 'गोदान' में वीर-रस की प्रधानता बताते हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि ऋण से मुक्ति पाने, अपनी 'मरजाद' बनाये रखने, अपने परिवार को रूखा-सूखा भोजन प्राप्त कराने, अपनी डगमगाती नौका को डूबने न देने के लिए वह घोर परिश्रम करता है। परिश्रम ही उसके जीवन का क्रम बन जाता है। वह लुटता है, पिटता है, गिरता है, परन्तु फिर धूल झाड़कर खड़ा हो जाता है और सतत कर्म में लगा रहता है। मजदूर बनकर भी ताकत से ज्यादा मेहनत करता है और सतत् विश्रामहीन परिश्रम के यज्ञ में वह अपने जीवन की आहुति चढ़ा देता है। इसमें भी संदेह नहीं कि दो-चार स्थानों पर होरी और धनिया के साहसिक कार्य उन्हें कर्मवीर बनाते हैं; जैसे सिलिया चमारिन के प्रसंग में, झुनिया को घर में रखने तथा धनिया के अन्य ओजस्वी कथनों में। परन्तु ऐसे प्रसंग बहुत ही कम हैं जिनमें उनका साहस वीररस का विषय कहा जा सके। अधिकांश स्थल ऐसे ही हैं जिनमें होरी की दयनीय दशा का ही वर्णन है। अधिकांश स्थानों पर होरी की धर्म-भीरुता, बिरादरी का भय, उसकी विवशता और उस पर होने वाले अत्याचार हमारे मन में शोक या करुणा का ही संचार करते हैं और उसे करुणा का पात्र बनाते हैं। वह महाजनों और शोषकों के अत्याचार सहने पर भी, लुटता-पिटता रहने पर भी, विवशता के कारण ही कर्म में लगा रहता है। परन्तु पाठक का साधारणीकरण उसके कर्म से नहीं होता। पाठक के सामने उसकी विवशता ही आती है। उसकी अज्ञानता, मूर्खता और रूढ़िवादिता से हमारे मन में खीझ ही उत्पन्न होती है। हम उसके कार्यों, उसके दबते रहने, लुटते रहने और यहाँ तक कि उसके इस प्रकार परिश्रम करने से सहमत नहीं होते। मन में यही आता है कि वह क्यों इस प्रकार अपना शरीर गला रहा है, क्यों शोषण की चक्की में पिस रहा है ? उसे नहीं करना चाहिए यह सब-कुछ, नहीं

सहना चाहिए शोषण और अन्याय। उसका कर्म-सौन्दर्य तो हम तब निखरा समझते जब वह समाज की इन शोषक शक्तियों के विरुद्ध कर्म में प्रवृत्त होता। वह तो शोषण का शिकार बना हुआ है। शिकार भी कभी कर्मवीर कहा जा सकता है? वह सोलह आने करुणा का आलम्बन है। सारा उपन्यास उसके जीवन की करुण कथा कहता है। अत: 'गोदान' करुण रस-प्रधान रचना ही है। आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र यही रस है। इसी का प्रसार सर्वाधिक है। सच तो यह है कि वीररस की अवस्थिति इस रचना में बीभत्स और शृंगार के भी बाद में ठहरती है। दूसरा प्रमुख रस बीभत्स रस है। करुण और बीभत्स का सह-संचार और प्रसार 'गोदान' की अद्भुत विशेषता है।

कृषक जीवन की करुण कहानी

करुण और बीभत्स के आश्रय वर्ग-विषमता, वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष

करुण रस और वीभत्स रस का सह-संचार कृषक-जीवन की दयनीय दशा तथा उच्च वर्ग की बीभत्सतापूर्ण उच्च दशा के वैषम्य-रूप में हुआ है। कृषक करुण रस का आलम्बन है और जमींदार, कारिन्दा, महाजन, पूंजीपति आदि बीभत्स रस के आलम्बन हैं। यह वर्ग-भेद गोदान में आद्योपान्त पाया जाता है, इसी के साथ वर्ग-चेतना भी खूब उभरी हुई है, किन्तु वर्ग-संघर्ष का विशेष विकास 'गोदान' में नहीं पाया जाता। गोबर आदि कुछ पात्रों का विद्रोह और संघर्ष व्यक्तिगत प्रयास ही है। सामूहिक रूप में वर्ग-संघर्ष 'गोदान' में कम है। एक-दो स्थानों पर ही उसके स्वरूप का आभास मिलता है। मिल के मजदूर जब मिलकर संघर्ष करते हैं, हड़ताल कर देते हैं और मिल-मालिकों के शोषण का विरोध करते हैं, तब इस प्रसंग में वर्ग-संघर्ष का कुछ परिचय मिलता है। या रामसेवक जब जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध अपने गाँव के किसानों को बेसी लगान न देने को तैयार करता है, तब उसके शब्दों में वर्ग-संघर्ष का कुछ आभास मिलता है। वह कहता है—"महाराज! संसार में गऊ बनने से काम नहीं चलता। जितना दबो, उतना ही लोग दबाते हैं। थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत, सब हैं हमारी रक्षा के लिए; लेकिन रक्षा कोई नहीं करता। चारों तरफ लूट है। जो गरीब है, बेबस है उसकी गरदन काटने के लिए सभी तैयार रहते हैं। भगवान् न करे, कोई बेईमानी करे। यह बड़ा पाप है। लेकिन अपने हक और न्याय के लिए न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है। तुम्हीं सोचो, आदमी कहाँ तक दबे? यहाँ तो जो किसान है, वह सबका नरम चारा है। पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दे, तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिन्दों का पेट न भरे, तो निबाह न हो। थानेदार और कानिसिटिबिल तो जैसे दामाद हैं।···कभी कानोगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी···उनके लिए रसद-चारे, अण्डे-मुर्गी, दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिए।···एक न एक हाकिम रोज नये बढ़ते जाते हैं। ··अभी जमींदार ने गाँव पर हल पीछे दो-दो रुपये चन्दा लगाया। किसी बड़े अफसर की दावत की थी। किसानों ने देने से इन्कार कर दिया। बस, उसने सारे गाँव पर जाफा कर दिया। हाकिम भी जमींदार ही का पच्छ करते हैं।···और यह हमारे दब्बूपन का फल है। मैंने

गाँव-भर में डोंडी पिटवा दी, कि कोई बेसी लगान न दे और न खेत छोड़ो। गाँव वालों ने मेरी बात मान ली और सबने जाफा देने से इन्कार कर दिया। जमींदार ने देखा, सारा गाँव एक हो गया, तो लाचार हो गया, खेत बेदखल भी कर दे, तो जोते कौन! इस जमाने में जब तक कड़े न पड़ो, कोई नहीं सुनता,...।" (गोदान, दसवाँ संस्करण, पृ० 476-78)

प्रेमचन्दजी ने रामसेवक का यह वर्ग-संघर्ष भी घटित रूप में न दिखाकर कथित-रूप में ही प्रस्तुत किया है। सच तो यह है कि यह भी होरी की लड़की रूपा की रामसेवक के साथ शादी तय होने की भूमिका में प्रकट हुआ है। रामसेवक होरी और धनिया को प्रभावित करने के लिए ही यह कहकर अपनी शान जमाता है। वास्तव में वर्ग-संघर्ष को खुले रूप में प्रकट करना प्रेमचन्द का उद्देश्य ही यहाँ प्रतीत नहीं होता। अपने युग की यथार्थ स्थिति की रक्षा के कारण ही ऐसा किया गया है। उस युग में किसानों में वर्ग-विषमता का ज्ञान और वर्ग-चेतना तो पूरी तरह उत्पन्न हो गई थी, पर वर्ग-संघर्ष विरल ही था। शहरों में मिलों को हड़तालों के रूप में मजदूरों का संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक तीव्र और व्यापक था। इसी से प्रेमचन्द ने मजदूरों के संघर्ष का स्पष्ट चित्रण किया है।

वर्ग-विषमता—कृषक-जीवन की विषमता को प्रेमचन्द ने आरम्भ से अन्त तक अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। कृषक की गरदन दूसरों के पाँवों तले दबी हुई है और वह उन पाँवों को सहलाने में ही अपनी कुशल समझता है। होरी कहता है—"इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने असामी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई? किस पर कुड़की नहीं आई?"

धनिया को "अपने विवाहित जीवन के बीस बरसों में अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी लो, दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।" उसकी छः सन्तानों में अब केवल तीन जिन्दा हैं। "तीन लड़के बचपन ही में मर गये। उसका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवा-दारू होती तो वे बच जाते; पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी।"

कैसी विषमता है! इन गरीबों को पेट-भर मोटा-झोटा भोजन भी नहीं मिलता; घी-दूध अञ्जन लगाने तक को नहीं मिलता; छत्तीस ही वर्ष की आयु में धनिया के सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं और सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था; उसके बच्चे मामूली दवा-दारू के अभाव में चल बसे थे। उधर इन गरीबों के ही परिश्रम की कमाई पर पलने वाले जमींदार और पूँजीपति तथा महाजन गुलछर्रे उड़ाते हैं, राग-रंग का जीवन बिताते हैं। स्वयं रायसाहब अपने वर्ग की इस धींग-मस्ती की पोल खोलता हुआ होरी से कहता है—"बड़े आदमियों के रोग भी बड़े होते हैं।...मामूली ज्वर भी आ जाय, तो हमें सरसाम की दवा दी जाती है, मामूली फुन्सी भी निकल आये तो वह जहर-बाद बन जाती है। अब छोटे सर्जन और मँझोले सर्जन और बड़े सर्जन तार से बुलाये

जा रहे हैं। मसीहुलमुल्क को लाने के लिए दिल्ली आदमी भेजा जा रहा है, भिषजाचार्य को लाने के लिए कलकत्ता। उधर देवालय में दुर्गापाठ हो रहा है और ज्योतिषाचार्य कुण्डली का विचार कर रहे हैं और तन्त्र के आचार्य अपने अनुष्ठान में लगे हुए हैं। राजा साहब को यमराज के मुँह से निकालने के लिए दौड़ लगी है। वैद्य और डाक्टर इस ताक में रहते हैं कि कब इनके सिर में दर्द हो और कब उनके घर में सोने की वर्षा हो। और ये रुपये तुमसे और तुम्हारे भाइयों से वसूल किये जाते हैं, भाले की नोक पर।"

ये मुफ्तखोर भोग-विलास में मग्न रहते हैं। इनका दान-धर्म कोरा अहंकार है। गरीबों के सिर पर ही यह सब चलता है। गरीब किसान सारा साल गर्मी-सर्दी-बरसात में अपना खून-पसीना एक करके खेती करता है, पर उसे खाने को एक जून भी पेट-भर नहीं मिलता। उसका अनाज तो सबका सब खलिहान में ही तुल जाता है। जमींदार, उसका कारिन्दा, तीन-तीन महाजन, धर्म-गुरु पण्डित सब अपना-अपना ले जाते हैं। किसान ताकता रहता है। एक गाय की लालसा उसकी अतृप्त लालसा बनी रहती है। ऋण के भार से वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी दबता जाता है। मूल का दुगना-तिगुना सूद भरने पर भी मूल ज्यों-का-त्यों सिर पर सवार रहता है। जमींदार, जमींदार का कारिन्दा, तीन-तीन महाजन, ब्राह्मण, पटवारी, थानेदार सब मगरमच्छ बने उसकी छोटी-सी डगमगाती जीवन-डांगी को निकालने पर उतारू रहते हैं। पौर-पौर और जौ-जौ घुन की तरह खाते रहते हैं, एक-एक बूंद रक्त चूसते हैं, और बेचारा किसान किसी तरह जीवित रहना चाहता है, पर नहीं रह पाता। समाज-शोषी शक्तियाँ उसे छोड़ती ही नहीं। वह टूट जाता है। मरते समय भी धार्मिक शोषण उसका पिण्ड नहीं छोड़ता। कैसी विचित्र विडम्बना है कि जो व्यक्ति सारी उमर एक गाय घर में नहीं जुटा सका, उससे ही मरते समय गोदान की आशा की जाती है। सारी करुण परिस्थितियाँ घनीभूत होकर होरी के अन्तिम समय पाठक को आठ-आठ आँसू बहाने पर विवश कर देती हैं। होरी अपनी स्त्री धनिया से कहता है—"मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-करम में ही काम आयेंगे। रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी? सब दुर्दशा तो हो गई। अब मरने दे।"

होरी की दुर्दशा का एक-एक प्रसंग रुलाने वाला है। उसकी गाय के मरने, पंचों और बिरादरी-द्वारा लगाये गये डाँड को भरने, सारी फसल खलिहान में ही बँट जाने, ऊख की बिक्री के रुपयों में से एक कौड़ी भी हाथ में न रहने, दाने-दाने के लिए तरसने, कई दिनों तक मोटा चबेना भी मयस्सर न होने, बच्ची रूपा के भूख से बिलखने आदि के दृश्य और उसका शक्ति से बाहर काम करना, सरदी में ठिठुरना, भोला-द्वारा बैलों को भी ले जाना, निर्दयी दातादीन की मजदूरी करना, झुलसती हुई गर्मी में ठेकेदार की मिट्टी खोदना और टूटकर गिर जाना आदि प्रसंग हमारी तीव्र करुणा जगाते हैं। एक प्रसंग देखिए, होरी के बैल भोला हाँक ले गया और अनाज सब डाँड तथा साहूकारों की नजर हो गया। घर में न फूटी कौड़ी है, न अनाज का एक दाना। "बैलों के बिना खेती

कैसे हो ? गाँव में बोआई शुरू हो गई।···होरी के खेत किसी अनाथ अबला के घर की भाँति सूने पड़े थे।···दिन भर इधर-उधर मारा-मारा फिरता था। कहीं इसके खेत में जा, कहीं उसकी बोआई करा देता। इस तरह कुछ अनाज मिल जाता। धनिया, रूपा, सोना सभी दूसरों को बोआई में लगी रहती थीं। जब तक बोआई रही, पेट की रोटियाँ मिलती गयीं,···यहाँ तक कि कातिक का महीना बीत गया और गाँव में मजूरी मिलनी भी कठिन हो गयी।···रात का समय था। सर्दी खूब पड़ रही थी। होरी के घर में आज कुछ खाने को न था। दिन को तो थोड़ा-सा भुना हुआ मटर मिल गया था; पर इस वक्त चूल्हा जलाने का कोई डौल न था और रूपा भूख के मारे व्याकुल थी और द्वार पर कौड़े के सामने बैठी रो रही थी। घर में जब अनाज का एक दाना भी नहीं है तो क्या माँगे और क्या कहे।" कैसी करुणापूर्ण विषम स्थिति है !

असन्तोष, विद्रोह और वर्ग-चेतना : 'गोदान' में वर्ग-विषमता के साथ-साथ प्रेमचन्द ने गरीबों के असन्तोष, विद्रोह और वर्ग-भावना का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। धनिया, गोबर, गिरधर, शोभा आदि पात्र स्थान-स्थान पर विद्रोह और असन्तोष की भावना प्रकट करते हैं, जिससे बीभत्स-रस का पूर्ण संचार होता है। उनकी आत्मा का असन्तोष शोषक-शक्तियों के प्रति हमारी घृणा पुष्ट करता है। आरम्भिक पृष्ठ पर ही धनिया के विद्रोही मन का परिचय मिलता है। "जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ? इस परिस्थिति (शोषकों की खुशामद-चिरौरी करने की) से उसका मन बराबर विद्रोह किया करता था।"···गोबर तो असन्तोष और विद्रोह की मूर्ति ही है। "साँवला, लम्बा, एकहरा युवक···प्रसन्नता की जगह मुख पर असन्तोष और विद्रोह था।" जब होरी रायसाहब से मिलकर आता है तो गोबर कहता है---यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो ? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है। नजर-नजराना सब तो हम से भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो ?" प्रेमचन्द ने इस प्रसंग में दो पीढ़ियों के मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण किया है ! "इस समय यही भाव होरी के मन में भी आ रहे थे। लेकिन लड़के के इस विद्रोह-भाव को दबाना जरूरी था।" स्पष्ट है कि होरी की पीढ़ी दब्बू है, भाग्यवाद पर विश्वास करने वाली है। समझती है कि अकड़ने से निबाह नहीं हो सकता। यह बात नहीं कि वर्ग-भेद और वर्ग-चेतना होरी में नहीं है, वह सब-कुछ है, असन्तोष भी है, विरोध के विचार भी मन में उठते हैं, पर अपनी दब्बू भाग्यवादी मनोवृत्ति से वह सब भाव दबा लेता है। होरी की वर्ग-भावना का एक उदाहरण देखिए। जब सोना और रूपा दोनों बहनें झगड़ने लगती हैं, और सोना अपने को सोना और रूपा अपने को चाँदी कहकर अपनी बड़ाई मारती है और रूपा को चिढ़ाती है, तो होरी रूपा का पक्ष लेता हुआ कहता है—"सोना बड़े आदमियों के लिए है। हम गरीबों के लिए तो रूपा ही है। जैसे जौ को राजा कहते हैं, गेहूँ को चमार : इस-लिए न कि गेहूँ बड़े आदमी खाते हैं; जौ हम लोग खाते हैं।" होरी की युक्ति पाकर रूपा ने उँगली मटकाकर कहना शुरू कर दिया—ए राम, सोना चमार—रूपा राजा,

सोना चमार।" वर्ग-भेद का कैसा स्वाभाविक संस्कारगत रूप है !

जब होरी गोबर और धनिया को अपनी रायसाहब से भेंट की बात बताते हुए कहता है कि बड़े आदमियों को हजार चिन्ताएँ घेरे रहती हैं, तो गोबर ने तुरन्त व्यंग्य किया—"तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते ? हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला ? यह सब धूर्त्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुख होता है, वह दर्जनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता, और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं; उस पर दुखी हैं !" जब होरी रायसाहब की वकालत-सी करता हुआ कहता है कि अपनी-अपनी मरजाद सबको पालनी पड़ती है, जमींदार की जान को भी सैंकड़ों रोग लगे रहते हैं, तब फिर गोबर प्रतिवाद करता है। होरी कहता है—तुम्हारी समझ में हम और वह बराबर हैं ?"

"भगवान् ने तो सबको बराबर ही बनाया है।"

"यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किये थे, उनका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं सञ्चा तो भोगें क्या ?" गोबर कहता है, यह सब मन के समझाने की बातें हैं। स्पष्ट है कि 'गोदान' में होरी की पीढ़ी प्रबल है। अभी नई पीढ़ी ने—गोबर ने—संघर्ष आरंभ नहीं किया है। होरी की पुरानी पीढ़ी चाहे विद्रोह न कर सकती हो, पर वर्ग-भावना उसमें भी पूरी तरह पाई जाती है। रायसाहब की वकालत करने वाला होरी भी मन में सोचता है—"नीच कहने ही को नीच है, जो ऊँचे हैं, उनका मन तो और भी नीचा है।" जब रात को खेत का पहरा देते हुए उसे कुछ आहट सुनाई देती है, तो वह अनुमान लगाता है, "पटवारी की लड़की होगी, चाहे पण्डित की घरवाली हो। मटर उखाड़ने आई होगी। न जाने क्यों इन लोगों की नीयत इतनी खोटी है।" एक और स्थान पर जब शोभा होरी से कहता है, "न-जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं," तो होरी कहता है—"इस जनम में तो कोई आशा नहीं है भाई ! हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता"। पर यह सब जानते हुए भी वह शोभा को विद्रोह करने की बजाय यही सलाह देता है—"कुशल इसी में है कि झिंगुरीसिंह के हाथ-पाँव जोड़ो। हम जाल में फँसे हुए हैं। जितना ही फड़फड़ाओगे, उतना ही और जकड़ते जाओगे।" परन्तु शोभा उसकी बात को अस्वीकार करता है—"तुम तो दादा, बूढ़ों की-सी बातें कर रहे हो। कठघरे में फँसे बैठे रहना तो कायरता है। फन्दा और जकड़ा जाय, बला से, पर गला छुड़ाने के लिए ज़ोर तो लगाना ही पड़ेगा। यही तो होगा कि झिंगुरी घर-द्वार नीलाम करा लेंगे। करा लें नीलाम ! मैं तो चाहता हूँ कि हमें कोई रुपये न दे, हमें भूखों मरने दे, लातें खाने दे, एक पैसा भी उधार न दे, लेकिन पैसे वाले उधार न दें तो सूद कहाँ से पायें।"

'गोदान' में होरी की अपेक्षा धनिया, गोबर, शोभा, गिरधर आदि में असन्तोष

और विद्रोह की भावना प्रचण्ड है। पर ये सब सामूहिक विद्रोह के लिए तैयार नहीं होते, संगठित नहीं होते। इनका असन्तोष और विद्रोह व्यक्तिगत निष्क्रिय विद्रोह ही बना रहता है। दारोगा की धाँधली पर धनिया का विरोध, नोखेराम की बेईमानी पर गोबर की फटकार आदि कुछ प्रयास अपवाद ही हैं। गोबर जब शहर से कुछ कमा कर गाँव में आता है तो गाँव के शोषकों की खूब भद्द उड़ाता है। जब दातादीन पूछता है, 'अब तो रहोगे कुछ दिन ?' तो गोबर तमाचा-सा लगाता हुआ कहता है—"हाँ, अभी तो रहूँगा कुछ दिन। उन पंचों पर दावा करना है, जिन्होंने डाँड के बहाने मेरे डेढ़-सौ रुपये हजम किये हैं। देखूँ, कौन मेरा हुक्का-पानी बन्द करता है और कौन बिरादरी मुझे जात-बाहर करती है।" गोबर के युवक साथी भी गोबर से कहते हैं—'कर दो नालिस गोबर भैया ! बुड्ढा काला साँप है—जिसके काटे का मन्तर नहीं। तुमने अच्छी डाँट बताई। पटवारी के कान भी गरमा दो। बड़ा मुतफन्नी है दादा ?" और गोबर की शह पाकर होली का प्रोग्राम बनने लगा।"...और रंगों के साथ कालिख भी बने और मुखियों के मुँह पर कालिख ही पोती जाए। फिर स्वाँग निकले और पंचों की भद्द उड़ाई जाय।" वे सब इन शोषकों को खूब 'भिगो-भिगो कर' लगाते हैं। होली की रात इन महाजनों, शोषकों और मुखियों की खूब नकलें हुईं। "रात-भर मँडैती होती रही और **सताए हुए दिल, कल्पना में प्रतिशोध पाकर प्रसन्न होते रहे।**" गोबर दातादीन को मनमाना सूद देने से जवाब दे देता है। वह बेईमानी से दोबारा लगान की वसूली चाहने वाले नोखेराम की खबर लेता है। वह होरी को जाता हुआ साफ कहता है—"मैं कल चला जाऊँगा; लेकिन इतना कहे देता हूँ कि किसी से एक पैसा उधार मत लेना और किसी को कुछ मत देना। मँगरू, दुलारी, दातादीन सभी से एक रुपया सैंकड़े सूद कराना होगा।" पर होरी का धर्म-भीरु मन इसे "नीति हाथ से छोड़ना" ही समझता है।

भोला भी अपना सन्तोष होरी की ही मनःस्थिति के रूप में प्रकट करता है — "कौन कहता है कि हम-तुम आदमी हैं। हममें आदमियत है कहाँ ? आदमी वे हैं जिनके पास धन है, अख्तियार है, इलम है ; हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं।" होरी दूसरों का खून चूस-चूसकर मोटा होने को बेहयाई कहता है। गो-हत्यारा हीरा अपने किये पर पछताता और क्षमा-याचना करता हुआ जब होरी से मिलता है, "तुम भी तो बहुत दुबले हो गये दादा !" तो होरी जवाब देता है—"तो क्या यह मेरे मोटे होने के दिन हैं ? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन का सोच होता है न इज्जत का। इस जमाने में **मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन से क्या सुख** ? सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।"

अब अछूत कहे जाने वाले नीच वर्ण के लोगों का वर्ग-संघर्ष उदाहृत करके इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। मातादीन ब्राह्मण ने गरीब चमारिन युवती सिलिया को फंसा लिया। सिलिया दिल-जान से उसे प्यार करने लगी। पर स्वार्थी, लम्पट मातादीन अपने धर्म की रक्षा के बहाने उसे खिलौना बनाकर ही रखता है। चमारों ने देखा कि हमारी लड़की को भ्रष्ट करके भी यह नेमी-धर्मी बना हुआ है, क्रोध करके मातादीन के सिर चढ़

आते हैं। वे उसे घेर लेते हैं। सिलिया का बाप हरखू स्पष्ट कहता है —"···हम आज या तो मातादीन को चमार बनाके छोड़ेंगे या उनका और अपना रकत एक कर देंगे। सिलिया कन्या-जात है, किसी-न-किसी के घर तो जायगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है, मगर इसे जो कोई भी रखे हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मन बना दो, हमारी सारी बिरादरी रखने को तैयार है। जब यह सामरथ नहीं हैं, तो फिर तुम ही चमार बनो, हमारे साथ खाओ-पीओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धर्म हमें दो।"

दातादीन ने लाठी फटकार कर कहा—"मुँह सँभाल कर बातें कर हरखुआ! तेरी बिटिया वह खड़ी है, ले जा जहाँ चाहे। हमने उसे बाँध नहीं रखा है···।"

सिलिया की माँ उँगली चमकाकर बोली—"वाह-वाह पंडित, खूब नियाव कहते हो! तुम्हारी लड़की किसी चमार के साथ निकल गयी होती और तुम इस तरह की बातें करते, तो देखती। हम चमार हैं, इसलिए हमारी कोई इज्जत नहीं! हम सिलिया को अकेली न ले जाएँगे, उसके साथ मातादीन को भी ले जाएँगे; जिसने उसकी इज्जत बिगाड़ी है। तुम बड़े नेमी-धर्मी हो। उसके साथ सोओगे; लेकिन उसके हाथ का पानी न पीओगे! बड़ी चुड़ैल है कि यह सब सहती है। मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती।"

हरखू ने अपने आदमियों को ललकारा—सुन ली इन लोगों की बात कि नहीं? अब क्या खड़े ताकते हो?

इतना सुनना था कि दो चमारों ने लपककर मातादीन के हाथ पकड़ लिये। तीसरे ने झपटकर उसका तनेऊ तोड़ डाला और दो चमारों ने मातादीन के मुँह में एक बड़ी-सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया।"

निश्चय ही 'गोदान' में चमारों का यह संघर्ष वर्ग-संघर्ष का उत्तम उदाहरण है। कृषक-वर्ग के संघर्ष का समूची रचना में एक भी उदाहरण इतना सजीव नहीं है। आश्चर्य ही है कि प्रेमचन्द ने मजदूरों और चमारों का प्रासांगिक वर्ग-संघर्ष तो इतना खुला, स्पष्ट और सजीव दिखाया है, पर कृषकों के सामूहिक संघर्ष का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। कृषकों के जीवन की विषमता और वर्ग-चेतना प्रस्तुत करना ही उनका उद्देश्य बना रहा।

कृषक-जीवन की उपर्युक्त करुणा के अतिरिक्त 'गोदान' में सिलिया, झुनिया और गोविन्दी के तीन और करुण नारी-चित्र मिलते हैं। तीनों की करुणा पुरुष के अत्याचारों का परिणाम है। लम्पट मातादीन ने बेचारी सिलिया चमारिन को फाँस लिया। सिलिया ने अपना तन-मन सब उसके प्रेम में अर्पित कर दिया। पर वह धूर्त उसे खिलौना ही समझता रहता है। सिलिया उसकी खेती का सारा काम करती है। तीन-तीन आदमियों का काम अकेली करती है। पर लम्पट मातादीन "उसका तन-मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ न देना चाहता था। सिलिया दो पैसे का रंग दुलारी सहु-आइन की दुकान से लाई थी। यह उधार चुकाने के लिए वह मुट्ठी-भर अनाज खलियान

में से दुलारी को दे देती है। मातादीन उसे डाँटकर कहता है—तूने अनाज क्यों दे दिया ? किससे पूछकर दिया ? तू कौन होती है मेरा अनाज देने वाली ?" सिलिया हक्का-बक्का होकर मातदीन का मुँह देखने लगी। ऐसा जान पड़ा, जिस डाल पर वह निश्चिन्त बैठी हुई थी, वह टूट गई है और अब वह निराधार नीचे जा रही है।···सिलिया ने उस पक्षी की भाँति जिसे मालिक ने पर काटकर पिंजरे से निकाल दिया हो, मातादीन की ओर देखा। **उस चितवन में वेदना अधिक थी या भर्त्सना यह कहना कठिन है।** पर उसी पक्षी की भाँति उसका मन फड़फड़ा रहा था · उसे वह दिन याद आये···जब यही मातादीन उसके तलवे सहलाता था, जब उसने जनेऊ हाथ में लेकर कहा था – सिलिया ! जब तक दम में दम है, तुझे ब्याहता की तरह रखूंगा।''

बेचारी सिलिया को माँ-बाप और भाई खूब मारते हैं और घर से निकाल देते हैं। वह निराश्रित हो जाती है। वह मजूरी करके अपना पेट भरती है, प्रसव-वेदना सहती है और मातादीन के बच्चे को जन्म देती है। भूखी मरती है पर मातादीन के नाम पर बैठी है। यह है सिलिया की करुणा। अब झुनिया का चित्र देखिए !

झुनिया को शहर में लाकर गोबर पक्का स्वार्थी और लम्पट बन जाता है। वह झुनिया को केवल भोग की वस्तु समझने लगता है। बेचारी झुनिया गर्भ का भार ढो रही है, किन्तु गोबर अपनी पशुता से बाज नहीं आता। उसका दो साल का बच्चा मर जाता है। गोबर को कोई परवाह ही नहीं। गोबर अब रात को बारह-एक बजे घर आता। परदेश में अकेली झुनिया को प्रसव की चिन्ता हुई। गोबर कोई व्यवस्था नहीं करता। वह निढाल पड़ी रहती है, गोबर की उपेक्षा का शिकार होती है। वह शिशु को जन्म देती है, "शिशु रो-रोकर गला फाड़े लेता था, क्योंकि ऊपर का दूध उसे पचता न था, झुनिया के स्तनों में दूध न था। उसकी देह में खून ही न था, दूध कहाँ से आये।"

गोविन्दी अपने पति खन्ना की उपेक्षा से दुखी है। उसका पति उसे जरा भी खातिर में नहीं लाता, उल्टा लड़ता-झगड़ता है। पुरुष की लम्पटता से बेचारी नारी दुखी हो जाती है। वह इस मानसिक सन्ताप में घर से निकल कर चली जाती है। ऐसे जीवन से तो मृत्यु अच्छी !

इस प्रकार 'गोदान' में करुण परिस्थितियाँ खूब पाई जाती हैं। सच तो यह है कि करुणा और बीभत्स रस का सह-संचार इस उपन्यास में आद्योपान्त पाया जाता है और यही इसकी शक्ति का रहस्य है। "वेदना और भर्त्सना" का ऐसा सुन्दर सुयोग बहुत कम रचनाओं में होता है। 'गोदान' की सारी प्रभाव-शक्ति, आकर्षण, रोचकता, जीवन-दर्शन और जीवन-आलोचन-अवलोकन सब इन दो भाव-संवेदनाओं के आश्रय ही मुख्य रूप से प्रस्तुत हुए हैं।

शृंगार-रस—प्रेम के विविध रूप

'गोदान' में शृंगार रस का भी पर्याप्त प्रसार पाया जाता है। प्रणय मानव की शाश्वत सहज प्रवृत्ति है। दाम्पत्य प्रेम, प्रेम का अत्यन्त उज्जवल और उदात्त तथा गहन

रूप होता है। जीवन की अनेक परिस्थितियों में यह प्रेम पलता और खेलता है। 'गोदान' में इस प्रेम के कई रूप-चित्र पाये जाते हैं। एक ओर होरी और धनिया का प्रौढ़ प्रेम है, जो जीवन की कठोरताओं, मुसीबतों और संकटों में भी दृढ़ रहता है। जिसमें एक दूसरे के प्रति रीझ-खीझ, अनुरोध-विरोध, हास्य कटुता आदि का जबरदस्त द्वन्द्व होते हुए भी अटूट विश्वास और दृढ़ निश्चलता है। इसमें रीतिकाल की शारीरिक उत्तेजना नहीं, आन्तरिक तीव्रता है, उदात्तता है। 'गोदान' का आरम्भ ही होरी-धनिया के इस प्रगाढ़ प्रेम से हुआ है :

"होरीराम ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा—गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूं। जरा मेरी लाठी दे दे।"

धनिया···बोली—अरे, कुछ रस-पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है ?

परन्तु होरी को जाने की जल्दी है ; कहीं देर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी। वह रस-पानी की बात ठुकरा देता है। धनिया का विद्रोही मन कहता है कि जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ? वह खीझकर होरी की लाठी, मिरजई, पगड़ी, जूते और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक देती है।

"होरी ने उसकी ओर आँखें तिरेर कर कहा—"क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोशाक लायी है ? ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं बैठी है, जिसे जाकर दिखाऊँ ?"

"होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक आई। धनिया ने लजाते हुए कहा—ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी।"

"तो क्या तू समझती है कि मैं बूढ़ा हो गया ? अभी तो चालीस वर्ष भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।"

"जाकर शीशे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अञ्जन तक को तो मिलता ही नहीं, पाठे होंगे। तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान, यह बुढ़ापा कैसे कटेगा ? किसके द्वार पर भीख माँगेंगे ?"

"होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गई। लकड़ी सँभालता हुआ बोला—साठे तक पहुँचने की नौबत ही न आने पायेगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे।"

"धनिया ने तिरस्कार किया—अच्छा रहने दो। मत अशुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी करे, तो लगते हो कोसने।"

"होरी लाठी कंधे पर रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आंतकमय कंपन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में

सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी।"

यह प्रौढ़ प्रेम विचित्र है। मार-फटकार, गाली-दुत्कार आदि की कटुताओं में भी यह दृढ़ रहता है। एक मधुर मुस्कान या विनोद में सारी खीझ, सारा क्रोध शान्त हो जाता है! होरी और धनिया में बात-बात पर तकरार होती है। गोबर-माँ-बाप से झगड़कर झुनिया को साथ ले शहर चला जाता है। होरी और धनिया दोनों दुखी हो उठते हैं। वे एक-दूसरे पर दोष मढ़ने लगते हैं। धनिया झुनिया को कोसती है और होरी गोबर को दोष देता है। होरी ने चिढ़कर कहा—जब देखो तब तू झुनिया को ही दोष देती है। यह नहीं समझती कि अपना सोना खोटा तो सोनार का क्या दोष?"

धनिया गरज उठी—अच्छा चुप रहो। तुम्हीं ने राँड़ को मुँह पर चढ़ा रखा था, नहीं मैंने पहले ही दिन झाड़ू मारकर निकाल दिया होता।"

होरी अब गोबर का ही पक्ष लेता है—"मान ले, बहू ने गोबर को फोड़ ही लिया तो तू इतनी कुढ़ती क्यों है? जो सारा जमाना करता है, वही गोबर ने किया।"··· धनिया चिढ़कर बोली—तुम्हीं उपद्रव की जड़ हो।"

"तो मुझे ही निकाल दे। ले जा बैलों को, अनाज माँड। मैं हुक्का पीता हूँ।"

"तुम चलकर चक्की पीसो, मैं अनाज माँडूगी।"

विनोद में दुःख उड़ गया। पति-पत्नी में दुगना अनुराग उमड़ आया!

हीरा अपनी पत्नी पुनिया को मारता है। होरी उसे हटाने जाता है। धनिया होरी पर खीझ कर कहती है—कोई तुम्हारी सुनता भी है कि यों ही सिच्छा दे रहे हो? उस दिन इसी बहू ने तुम्हें घूँघट की आड़ में दाढ़ीजार कहा था, भूल गये?"

होरी द्वार पर आकर नटखटपन के साथ बोला--और जो मैं इसी तरह तुझे मारूँ?"

"क्या कभी मारा नहीं है, जो मारने की साध बनी हुई है?"

"इतनी बेदर्दी से मारता, तो तू घर छोड़कर भाग जाती। पुनिया बड़ी गमखोर है।"

"ओ हो! ऐसे ही तो बड़े दरद वाले हो। अभी तक मार का दाग बना हुआ है। हीरा मारता है तो दुलारता भी है। तुमने खाली मारना सीखा, दुलार करना सीखा ही नहीं···।"

"अच्छा, रहने दे, बहुत अपना बखान न कर। तू ही रूठ-रूठ कर नैहर भागती थी। जब महीनों खुशामद करता था, तब जाकर आती थी।"

"जब अपनी गरज सताती थी, तब मनाने जाते थे लाला! मेरे दुलार से नहीं जाते थे।"

"इसी से तो मैं सबसे तेरा बखान करता हूँ।"

होरी और धनिया के इस प्रौढ़ प्रेम के अतिरिक्त 'गोदान' में झुनिया और गोबर का अल्हड़ प्रेम और सिलिया का एकनिष्ठ प्रेम भी मार्मिक है। गोबर और झुनिया का प्रथम मिलन बहुत मनोरंजक है। गोबर और होरी दोनों, भोला के साथ भूसे के खाँचे

छोड़ने, भोला के घर गये। भोला की लड़की झुनिया रस-पानी बनाने के लिए रस्सी और कलसा लेकर पानी भरने चली। गोबर ने उसके हाथ से कलसा लेने के लिए हाथ बढ़ाकर झेंपते हुए कहा—तुम रहने दो, मैं भरे लाता हूँ।

झुनिया ने कलसा न दिया। कुएँ की जगत पर जाकर मुस्कराते हुए बोली—तुम हमारे मेहमान हो। कहोगे, एक लोटा पानी भी किसी ने नहीं दिया।

"मेहमान काहे से हो गया। तुम्हारा पड़ोसी ही तो हूँ।"

"पड़ोसी सालभर में भी सूरत न दिखाये, तो मेहमान ही है।"

"रोज-रोज आने से मरजाद भी तो नहीं रहती।"

झुनिया हँसकर तिरछी नजरों से देखती हुई बोली—वही मरजाद तो दे रही हूँ। महीने में एक बेर आओगे, ठण्डा पानी दूँगी। पन्द्रहवें दिन आओगे, चिलम पाओगे, सातवें दिन आओगे, खाली बैठने को माची दूँगी। रोज-रोज पाओगे, कुछ न साओगे।

"दरसन तो दोगी?"

"दरसन के लिए पूजा करनी पड़ेगी।"

और बात की बात में दोनों एक दूसरे के हो गये! अगले दिन गोबर जब गाय लेने जाता है तो सारा दिन दोनों का मधुर मिलन रहता है। झुनिया आधे से भी अधिक रास्ते तक गोबर को छोड़ने आती है। उनके मधुर आलाप का एक चित्र देखिए। रास्ता चलते झुनिया ने गोबर को मर्म-भरी आँखों से देखकर कहा—"अब तुम काहे को यहाँ कभी आओगे!"

"भिच्छुक को भीख मिलने की आशा हो, तो वह दिन भर और रात भर दाता के द्वार पर खड़ा रहे।"

"भिच्छुक जब तक दस द्वारे न जाय, उसका पेट कैसे भरेगा। मैं ऐसे भिच्छुकों को मुँह नहीं लगाती। ऐसे तो गली-गली में फिरते हैं। फिर भिच्छुक देता क्या है, असीस? असीसों से तो किसी का पेट नहीं भरता।"

"भिच्छुक को एक ही द्वार पर भर-पेट मिल जाये, तो क्यों द्वार-द्वार घूमे?"

झुनिया ने सदय भाव से उसकी ओर ताका। कितना भोला है, कुछ समझता ही नहीं।

"भिच्छुक को एक द्वार पर भर-पेट कहाँ मिलता है। उसे तो चुटकी ही मिलेगी सर्वस तो तभी पाओगे, जब अपना सर्वस दोगे।"

गोबर झुनिया को घर छोड़कर लखनऊ चला जाता है और जब शहर में कमाकर साल बाद घर आता है, तब झुनिया का मानिनी रूप बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यक्त हुआ है। गोबर आया तो घर में उछाह छा गया। सोना-रूपा गोबर के लाये हुए सामान को देखने लगीं। "लेकिन झुनिया दूर खड़ी थी। उसके मुख पर आज मान का शोख रंग झलक रहा था। गोबर ने उसके साथ जो व्यवहार किया है, आज वह उसका बदला लेगी।···बच्चा उन चीजों की ओर लपक रहा था···पर झुनिया उसे गोद से उतरने न देती थी।

सोना बोली—भैया तुम्हारे लिये आईना-कंघी लाये हैं भाभी !

झुनिया ने उपेक्षा-भाव से कहा—मुझे ऐना-कंघी न चाहिए। अपने पास रखे रहें।

रूपा ने बच्चे की चमकीली टोपी निकाली—ओ हो ! यह चुन्नी टोपी है। और उसे बच्चे के सिर पर रख दिया।

झुनिया ने टोपी उतारकर फेंक दी। और सहसा गोबर को अन्दर आते देखकर वह बालक को लिए अपनी कोठरी में चली गई।"

मान का कैसा सुन्दर अभिनय है ! जब गोबर को शहर में हड़ताल के संघर्ष में चोट लग जाती है तो झुनिया जिस एकनिष्ठता से उसकी सेवा करती है, वह नारी के पति प्रेम का अत्यन्त मार्मिक पक्ष है।

सिलिया के प्रेम में अद्‌भुत विचित्रता है। वह चमारिन है। लम्पट मातादीन उसे अपने जाल में फँसा लेता है। वह भी उसके प्रेम में दीवानी होकर अपना तन-मन अर्पित कर देती है। पर लम्पट मातादीन अपने धर्म की रक्षा की दुहाई देकर सिलिया की उपेक्षा करता है। वह फिर भी मातादीन के नाम पर बैठी रहती है। एक बार जिसे पति बना लिया, फिर उसके सिवा और ठौर कौन सा हो सकता है ! उसके माता-पिता-भाई उसे घर से निकाल देते हैं। वह निराश्रित हो जाती है। पर फिर भी स्वयं मजूरी करके अपना पेट भरती है, भूखी रहती है। पूरा गर्भ लेकर भी वह मजूरी करती रही। किन्तु अपने प्रेम की टेक नहीं छोड़ती। मातादीन उससे प्रेम नहीं करता; न करे, उसे कोई परवा नहीं। वह स्वयं मातादीन के प्रति एकनिष्ठ रहती है। वह स्पष्ट कहती है, 'एक बार जिसने बाँह पकड़ ली, उसी की रहूँगी।' जब प्रायश्चित्त के ढोंग और बीमारी के बाद मातादीन की बुद्धि ठिकाने आती है और वह सिलिया के प्रति अपने अत्याचारों से पछताता हुआ सिलिया के पास दो रुपये भेजता है, तो सिलिया "जैसे अपनी तपस्या का वरदान पा गयी।···किसे यह खुशखबरी सुनाये ?···उसके पेट में चूहे दौड़ रहे थे, सोना उसकी सहेली थी। सिलिया उससे मिलने के लिए आतुर हो गई। रात-भर कैसे सब्र करे ? मन में एक आँधी-सी उठ रही थी। अब वह अनाथ नहीं है। मातादीन ने उसकी बाँह फिर पकड़ ली। जीवन-पथ में उसके सामने अब अंधेरी विकराल मुख वाली खाई नहीं है, लहलहाता हुआ हरा-भरा मैदान है, जिसमें झरने गा रहे हैं और हिरन कुलेलें कर रहे हैं। उसका रूठा हुआ स्नेह आज उन्मत्त हो गया है।" वह अँधेरे में ही नदी पार करके सोना को मिलने जाती है। कितना उछाह भर गया है उसमें ! आखिर इस प्रेम की देवी के मन्दिर में मातादीन को अपना सर्वस्व चढ़ाना पड़ता है। वह अपने ढोंगी धर्म का चोला उतार कर सच्चा धर्म अपनाता है। वह खुल्लमखुल्ला सिलिया की झोंपड़ी के द्वार पर आकर कहता है—यही हमारा घर है।

सिलिया ने अविश्वास, क्षमा, व्यंग और दुख-भरे स्वर में कहा—"यह तो सिलिया चमारिन का घर है।" मातादीन ने द्वार की टाटी खोलते हुए कहा—"यह मेरी देवी का मन्दिर है।" और वह स्पष्ट कहता है—मैं बाह्मन नहीं, चमार ही रहना

चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मन है, जो धर्म से मुँह मोड़े, वही चमार है।"

सिलिया ने उसके गले में बाँहें डाल दीं।"

प्रेमचन्द ने प्रेम के इस प्रगाढ़-चित्रण से एक अद्‌भुत क्रांतिकारी कार्य किया है। इस प्रकार का अन्तःजातीय मिलन और सम्बन्ध प्रेमचन्द-युग में एक कपोल-कल्पना ही था। निश्चय ही प्रेमचन्द इस प्रेम-चित्रण में अपने युग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। जहाँ पहले उपन्यासों में वे विजातीय और अन्तःजातीय सम्बन्ध कराते डरते थे, वहाँ 'गोदान' में उनका प्रगतिशील मन बिल्कुल निर्भय हो गया है। जहाँ 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया तथा 'कर्मभूमि' में सकीना और अमरकान्त की कहानी अधूरी ही रही, वहाँ 'गोदान' में प्रेमचन्द ने धर्म के परम्परागत किले को तोड़कर रख दिया और मानव-प्रेम की शाश्वत कहानी को पूर्ण रूप दिया।

'गोदान' में सोना का प्रचण्ड पातिव्रत्य भी उदात्त है। 'सोना की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप किसी पुरुष का पर-स्त्री और स्त्री का पर-पुरुष की ओर ताकना था।...प्रेम के लिये दाम्पत्य के बाहर उसकी दृष्टि में कोई स्थान न था।' जब वह मथुरा और सिलिया को अँधेरे में मिलते देखती है, तो संदेह के कारण आग-बबूला हो उठती है। वह आरम्भ में दहेज लेने-देने का भी विरोध करती है। वह अपने भावी पति मथुरा को कहला भेजती है कि अगर उन्हें सोना चाहिए तो सोना-चाँदी (दहेज) का लोभ छोड़ना होगा। वह एक सबल भारतीय नारी प्रतीत होती है, जो अपने सच्चे प्रेम को निभाती है, और अपने पति की जरा-सी कुचल भी नहीं सहती।

मेहता और मालती का पूर्वराग (courtship) भी रोचक विषय है। मालती मेहता के रूप-गुण पर आकर्षित है। वह अपना प्रेमपूर्ण हृदय मेहता की ओर बढ़ाती है। पर मेहता उसे परीक्षक की दृष्टि से ही देखते रहे। क्योंकि 'केवल रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर न कर सकता था।' जब मालती अपने प्रेम को अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत रूप देती है, वह सेवा और त्याग की मूर्ति बन जाती है, तब मेहता उसे पाने के लिये अधीर हो उठते हैं। "तब मालती प्यासी थी, अब मेहता प्यास से विकल है।" जब मालती वात्सल्य से भरकर रात को झुनिया के बच्चे मंगल का उपचार करती है, उसे अपनी गोद में बहलाती है, तो "मालती का यह अटूट वात्सल्य, यह अदम्य मातृ-भाव देखकर उनकी (मेहता की) आँखें सजल हो गईं। मन में ऐसा पुलक उठा कि अन्दर जाकर मालती के चरणों को हृदय से लगा लें। अन्तस्थल से अनुराग में डूबे हुए शब्दों का एक समूह मचल पड़ा—प्रिय, मेरे स्वर्ग की देवी, मेरी रानी, डार्लिंग...।

और उसी प्रेमोन्माद में उन्होंने पुकारा—मालती, जरा द्वार खोल दो।

मालती ने आकर द्वार खोल दिया और उनकी ओर जिज्ञासा की आँखों से देखा।

"क्या मुझे कुछ याचना करने की अनुमति न दोगी?"

मालती ने आर्द्र होकर कहा—"तुम जानते हो तुमसे ज्यादा निकट संसार में मेरा कोई दूसरा नहीं है। मैंने बहुत दिन हुए, अपने को तुम्हारे चरणों पर समर्पित कर

दिया। तुम मेरे पथ-प्रदर्शक हो, मेरे देवता हो, मेरे गुरु हो। तुम्हें मुझसे कुछ भी याचना करने की जरूरत नहीं, मुझे केवल संकेत कर देने की जरूरत है।···तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर अब मेरे लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है।···यह मेरी पूर्णता है। यह कहते-कहते मालती के मन में ऐसा अनुराग उठा कि मेहता के सीने से लिपट जाय। भीतर की भावनाएँ बाहर आकर मानो सत्य हो गई थीं। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा।"

और इस प्रेम की चरम परिणति अत्यन्त पवित्र भावना में होती है। मालती गम्भीर होकर कहती है—"····मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो,···मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम पर विश्वास करती हूँ, और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूं।···हमारी पूर्णता के लिए हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिये? अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजड़े में बन्द करके अपने दुःख-सुख को अपने ही तक रखकर, क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं?···तुम्हारे जैसे विचारवान् प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार (गृहस्थ) में बन्द नहीं करना चाहती···।"

मेहता सिर झुकाये सुनते रहे।···उन्होंने मालती के चरण दोनों हाथों से पकड़ लिये और काँपते हुए बोले—तुम्हारा आदेश स्वीकार है मालती!

और दोनों एकान्त होकर प्रगाढ़ आलिंगन में बँध गये। दोनों की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी।" दोनों पवित्र प्रेम-पाश में बँध गए—नर-नारी के ऐसे प्रेम में, जहाँ शरीर के स्थान पर आत्मा, स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ, सांसारिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता और संकुचित गृहस्थ-धर्म के स्थान पर विश्व-मानव धर्म की पवित्र भावनाएँ प्रमुख रहती हैं।

'गोदान' में स्वच्छन्द प्रेम का दूसरा उदाहरण है रुद्रपाल और सरोज के प्रेम का। यद्यपि इन दोनों का प्रेम घटित-रूप में प्रकट नहीं हुआ है, कथित-मात्र है, तथापि रुद्रपाल द्वारा पिता के प्रलोभन को ठुकराना, उसके सरोज के प्रति प्रेम की प्रगाढ़ता को व्यंजित करता है। धन, प्रतिष्ठा, जाति-गोत्र आदि से परम्परागत दृष्टिकोण और माता-पिता की अपनी मर्जी से शादी करने की परिपाटी को इस प्रेम-चित्र द्वारा अच्छा धक्का पहुँचाया गया है।

इस प्रकार 'गोदान' में प्रेम के कई रूप-चित्र पाये जाते हैं। दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त वात्सल्य-स्नेह, भ्रातृ-स्नेह, उदात्त मानवीय प्रेम आदि—प्रेम की अनेक प्रवृत्तियों का प्रकाशन 'गोदान' में हुआ है। होरी और धनिया के वात्सल्य-पूर्ण हृदय की कई झाँकियाँ पाई जाती हैं। धनिया का रोम-रोम सन्तान-प्रेम से भरा हुआ है। सन्तान के लालन-पालन-हेतु ही होरी और धनिया घोर परिश्रम करते हैं। उन्हें दुख है कि अपने बच्चों को वे घी-दूध नाम मात्र को भी नहीं दे पाते, घर में एक गाय भी बच्चों के लिए नहीं बाँध सकते। होरी गाय लाने की सोचता है, "गोबर दूध के लिए तरस-तरस कर

रह जाता है। इस उमर में न खाया-पिया, तो फिर कब खायेगा ?" वह रूपा को गोदी में उठाता है, अपनी थाली में साथ खिलाता है और सोना-रूपा के वाद-विवाद में आनन्द लेता है।

होरी ने स्वयं धनिया को बताया कि हीरा ने गाय को कुछ खिला दिया है, पर जब धनिया सारे गाँव में ढिंढोरा पीटने लगती है तो भाई को बचाने के लिये होरी गोबर के सिर पर हाथ रखकर झूठी कसम खा जाता है कि मैंने हीरा को नहीं देखा। धनिया का रोम-रोम जल उठता है। वह कहती है—थुड़ी है ! अगर मेरे बेटे का बाल भी बाँका हुआ, तो घर में आग लगा दूँगी। सारी गृहस्थी में आग लगा दूँगी।" मातृ-हृदय का कैसा सुन्दर क्षोभ है ?

एक और मनोवैज्ञानिक चित्र देखिए। झुनिया को गोबर घर ला छोड़ता है। धनिया पहले तो झुनिया को कोसती है—कुलटा, कलंकिनी और कलमुँही आदि कहकर उसे बाहर ढकेल देने की बात सोचती है, पर जब होरी वाकई उसे धक्का देकर बाहर निकालना चाहता है, तो सहसा धनिया ने होरी के गले में हाथ डाल कर कहा—देखो, तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। कालिख जो लगनी थी, वह तो अब लग चुकी। मुदा इतनी रात गये इस अँधेरे सन्नाटे में जायेगी कहाँ ? पाँव भारी है !" आखिर उसी के पुत्र का अंश तो वह लिये हुए है !

"होरी की आँखें आर्द्र हो गईं। धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उनकी चिन्ता-जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा। दोनों ही के हृदय में जैसे अतीत-यौवन सचेत हो उठा।···उस आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था, जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और सारी मूलबद्ध परम्पराओं को अपने अन्दर समेट लेता था।"

बिरादरी की रत्ती-भर परवा न करके धनिया पोते के जन्म पर अकेली मंगल गाती है। जब गोबर साल बाद घर लौटता है तब तो धनिया के उछाह का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। गोबर आया। "धनिया ने उसे आशीर्वाद दिया और उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मानो अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गई।··· धनिया के मन में कभी अमंगल की शंका न हुई थी। उसका मन कहता था, गोबर कुशल से है और प्रसन्न है। आज उसे आँखों देखकर मानो उसके जीवन के धूल-धक्कड़ में गुम हुआ रत्न मिल गया।" झुनिया, गोविन्दी और मालती के वात्सल्यपूर्ण हृदय की सुन्दर झाँकी भी कई स्थानों पर मिलती है। रायसाहब का क्षुब्ध वात्सल्य भी कम आकर्षक नहीं है। रुद्रपाल का जवाब उन्हें रुला डालता है। मातादीन अपने अवैध पुत्र को देखने चोरी-चोरी आता है। उसका वात्सल्य-स्नेह भी कम उदात्त नहीं है। इस प्रकार वात्सल्य के भी अनेक मार्मिक चित्र 'गोदान' में मिलते हैं। होरी का भ्रातृ-प्रेम, निराश्रिता सिलिया को स्थान देने में धनिया होरी का उदात्त मानव-प्रेम आदि भी भाव-शिल्पी प्रेमचन्द की तूलिका के अमिट भाव-चित्र हैं।

प्रकृति-प्रेम के भी दो-एक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। मेहता प्रकृति के सच्चे

पुजारी हैं। सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में वह चहकने लगते हैं। बेलारी गाँव में "नदी के किनारे चाँदी का फर्श बिछा हुआ था और नदी रत्न-जटित आभूषण पहने मीठे स्वरों में गाती चाँद को और तारों को और सिर झुकाये नींद में सोते वृक्षों को अपना नृत्य दिखा रही थी। मेहता प्रकृति की उस मादक शोभा से जैसे मस्त हो गये। जैसे उनका बालपन अपनी सारी क्रीड़ाओं के साथ लौट आया हो। बालू पर कई कुलाटें मारीं।फिर दौड़े हुए नदी में जाकर घुटने तक पानी में खड़े हो गये।" अपने लॉन में मेहता ने तरह-तरह के फूल और पेड़-पौधे उगा रखे थे। वह घण्टों प्रकृति-दर्शन में खो जाते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं—"प्रकृति से स्पर्श होते ही जैसे मुझमें एक-एक पक्षी, एक-एक पशु जैसे मुझे आनंद का निमन्त्रण देता हुआ जान पड़ता है, ··यह आनन्द मुझे और कहीं नहीं मिलता, मालती, संगीत के रुलाने वाले स्वरों में भी नहीं, दर्शन की ऊँची उड़ानों में भी नहीं।"

बसन्त की निराली छटा जीवन की चक्की में पिसते हुए दरिद्र किसान होरी के हृदय में भी मस्ती का संचार कर देती है।"रसिक वसन्त, सुगन्ध, प्रमोद और जीवन की विभूति लुटा रहा था—दोनों हाथों से दिल खोलकर। कोयल आम की डालियों में छिपी अपनी रसीली, मधुर, आत्मस्पर्शी कूक से आशाओं को जगाती फिरती थी। महुए की डालियों पर मैनों की बारात-सी लगी बैठी थी। नीम, सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा-सा घोल देते थे। होरी आमों के बागों में पहुँचा, तो वृक्षों के नीचे तारों-से खिले थे। उसका व्यथित, निराश मन भी इस व्यापक शोभा और स्फूर्ति में आकर गाने लगा—

हिया जरत रहत दिन रैन।
आम की डरिया कोयल बोले तनिक न आवत चैन।"

और दुलारी सहुआइन को गुलाबी साड़ी में जाते देखकर उसका मस्त हृदय और मचल उठा!

'गोदान' में कर्मोत्साह और साहस के भी कुछ प्रसंग दिखाई देते हैं। होरी का कर्मोत्साह दो-चार स्थानों पर उसके कर्मवीर रूप को अवश्य प्रकट करता है। भोला को भूसा देने में, डाँड भरने के बाद उत्साहपूर्वक मजूरी करने में, लुट-पिट कर, हारकर भी धूल झाड़कर कर्म-क्षेत्र में खड़ा हो जाने में उसका कर्मोत्साह प्रकट हुआ है। होरी-धनिया ने जिस साहस से झुनिया को अपनाया, जिस निडरता और उदारता से सिलिया चमारिन को आश्रय दिया, वह तो उनके सच्चे वीर रूप को ही प्रकट करता है। दारोगा के प्रसंग में धनिया का साहस उसे भवानी का अवतार ही बना देता है।

इस प्रकार 'गोदान' में मानवीय भाव-संवेदनाओं को अत्यन्त उदात्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का इतना विस्तृत प्रसार ही 'गोदान' को साहित्य की श्रेष्ठ रचना सिद्ध करता है। इस रस-भाव तत्त्व के बिना 'गोदान' का मूल्यांकन—उसकी शक्ति की विवेचना असम्भव ही है।

विचार तत्त्व : उद्देश्य-सन्देश, समस्याएँ

प्रेमचन्द के उपन्यासों का सामाजिक उद्देश्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। हमारे समाज की विकृतियों को दर्शाकर उन्होंने राष्ट्र के नव-निर्माण का सन्देश दिया है। सभी उपन्यासों में सामाजिक उद्देश्य स्पष्ट है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं द्वारा एक नई सांस्कृतिक चेतना को जगाया। नव-भारत के निर्माण में उनका महत्त्व किसी भी राजनैतिक या सामाजिक नेता से कम नहीं है। उनके प्राय: सब उपन्यासों का उद्देश्य परम्परागत सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक परम्पराओं और पद्धतियों के विकारों को दर्शाकर पाठक के मन में उन सब बुराइयों को दूर करने और मानवता के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणा जगाना है। उन्होंने पाठक की सेवा, त्याग, न्याय-कर्त्तव्य-पालन, सत्य, अहिंसा आदि उच्च मानवीय प्रवृत्तियों को जगाया है। उनके उपन्यासों से हम न्याय और सत्य की रक्षा में अन्याय और असत्य से जूझने की शक्ति पाते हैं। जीवन में जहाँ भी, जिस रूप में उन्होंने अन्याय, बुराई या अनीति को देखा, वहीं उसका विरोध किया है। दुखी मानवता का इतना क्रन्दन, असहाय और शोषित की ऐसी मार्मिक विवशता और कहाँ मिल सकती है ?

'गोदान' में प्रेमचन्द का सामजिक उद्देश्य उनके सभी उपन्यासों से बढ़ा-चढ़ा है। यह रचना भारत की 80 प्रतिशत कृषक जनता की मूक वाणी का चीत्कार है। निर्धन, दरिद्र भारत की झांकी इससे बढ़िया अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ? कृषक-जीवन की समस्याओं का इतना व्यापक चित्रण शायद ही किसी अन्य रचना में मिले। प्रेमचन्द ने इसमें, अर्थ या पैसे को सारी खराबियों का मूल माना है। पैसे का सर्वथा अभाव भी मानव-जीवन को अभिशाप बना देता है। कृषक-जीवन की यह ट्रेजेडी है। वे दाने-दाने को तरसते रहते हैं। कौड़ी-कौड़ी को महाजन के आगे हाथ पसारते रहते हैं। उनकी अशिक्षा, दरिद्रता, अन्धविश्वास आदि सभी दुर्दशा पैसे के अभाव से है। पैसा हो तो वे भी अपना जीवन सुखी बना सकते हैं। इस अभावात्मक खराबी के विपरीत, प्रेमचन्द ने अर्थ के अनर्थ का भावात्मक रूप भी प्रकट किया है। जिसके पास बहुत धन है या जो पैसे को ही सबसे बड़ा देवता मानकर टकाधर्म-संस्कृति को अपनाये हुए हैं, सामाजिक विकृतियों का सबसे बड़ा दायित्व उनके ऊपर ही आता है। प्रेमचन्द स्पष्ट कहते हैं कि समाज की सभी बुराइयों का कारण यह टकाधर्म-संस्कृति है। जहाँ सब प्रकार की प्रतिष्ठा मान-अपमान, न्याय-अन्याय सब कुछ पैसे पर ही टिका हुआ हो, वहाँ उच्च मानव-मूल्यों को महत्त्व कहाँ मिल सकता है ? जिनके पास फालतू धन होता है, वह नशे, विलास, जूआ आदि व्यसनों में निकलता है; और जो धन के संचय की फिराक में ही रहते हैं, उनको जीवन में पारिवारिक शान्ति नहीं मिलती। खन्ना की मिल जल जाने के बाद गोविन्दी कहती है—तो तुम इतना दिल छोटा क्यों करते हो ? धन के लिए—जो सारे पाप की जड़ है ? उस धन से हमें क्या सुख था ? सबेरे से आधी रात तक एक-न-एक झंझट—आत्मा का सर्वनाश ! लड़के तुमसे बात करने को तरस जाते थे, तुम्हें संबंधियों

को पत्र लिखने तक की फुरसत न मिलती थी। क्या बड़ी इज्जत थी ? हाँ थी ! क्योंकि दुनिया आजकल धन की पूजा करती चली आयी है। उसे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं।" वह कहती है कि धन खोकर यदि हम अपनी मनुष्यता को पा लें तो यह महँगा सौदा नहीं। मेहता भी एक स्थान पर कहते हैं, "जब धन जरूरत से ज्यादा हो जाता है, तो अपने लिए निकास का मार्ग खोजता है। यों न निकल पाएगा, तो जुए में जाएगा, घुड़-दौड़ में जाएगा, ईंट-पत्थर में जाएगा, या ऐयाशी में जायगा।" दौलत और दौलत वालों से प्रेमचन्द कभी समझौता नहीं कर सके। उन्होंने एक पत्र में लिखा, "जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को जो अमीरों-द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है।"

प्रेमचन्द ने इस 'पैसे की दुनिया' की निन्दा की है, जिसमें यह समझा जाता है—"जिसके पास पैसा है, वही बड़ा आदमी है, वही भला आदमी है। पैसे न हों, तो उस पर सभी रौब जमाते हैं।" पैसे के पर्दे में सब कुकर्म छिप जाते हैं। गरीब का सरल कार्य भी अपराध बन जाता है, पैसे वालों को कोई कुछ नहीं कहता। न्याय-धर्म सब पैसे पर आधारित हैं। इस अर्थ-स्वार्थ-प्रधान पद्धति को प्रेमचन्द ने स्थान-स्थान पर दोषी ठहराया है। यह यदि सामन्तवाद या जमींदारी प्रथा के रूप में है तो भी बुरी है, पूँजीवाद या महाजनी-पद्धति के रूप में है तो भी बुरी है, अथवा यदि ब्रिटिश नौकरशाही की लूट-खसूट, रिश्वतखोरी आदि के रूप में है तो भी घिनौनी और विकृत है। इस पद्धति का बड़ा अच्छा चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। सच तो यह है कि 'गोदान' में समाज की किसी एक समस्या पर प्रकाश डालना प्रेमचन्द का उद्देश्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें प्रमुख समस्या किसान की गरीबी और दरिद्रता है, परन्तु प्रेमचन्द उसका भी हल समूचे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तन में मानते हैं। मिर्जा खुर्शेद जब वेश्याओं के हित के लिए एक नाटक-मंडली बनाकर उनकी रोज़ी का ज़रिया बदलना चाहते हैं और इस प्रकार वेश्या-समस्या के हल की बात सोचते हैं तो डॉ० मेहता कहते हैं—"जब तक समाज की व्यवस्था उपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मंडली से कोई फायदा न होगा।...जब तक दुनिया में दौलत वाले रहेंगे, वेश्याएँ भी रहेंगी।...जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं।" निचश्य ही प्रेमचन्द सारी पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं। वे किसी क्षेत्र में अलग-अलग प्रयत्न के विरोधी तो नहीं हैं, क्योंकि मेहता की सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की बात को मानते हुए भी उन्होंने खुर्शेद के माध्यम से कहा है—"समाज की व्यवस्था क्या आसानी से बदल जायगी ? वह तो सदियों का मुआमला है। तब तक क्या अनर्थ होने दिया जाय ?" किंतु पद्धति में इतना व्यापक विकार उत्पन्न हो चुका है कि जब तक इस समूचे का कायाकल्प न किया जाये, बात नहीं बनेगी। जिधर देखो, उधर धाँधली मची हुई है। रायसाहब

कहता है कि मुझे अफसरों को डालियाँ देनी पड़ती हैं, परम्परा का पालन करने के लिए तरह-तरह का आडम्बर रचना पड़ता है। वह सम्पादक ओंकारनाथ से स्पष्ट कहता है—"सात पुश्तों से जिस वातावरण में पला हूँ, उससे अब निकल नहीं सकता।···आपके पास जमीन नहीं, जायदाद नहीं, मर्यादा का झमेला नहीं, आप निर्भीक हो सकते हैं; लेकिन आप भी दुम दबाये बैठे रहते हैं। आपको कुछ खबर है, अदालतों में कितनी रिश्वतें चल रही हैं, कितने गरीबों का खून हो रहा है, कितनी देवियाँ भ्रष्ट हो रही हैं! है बूता लिखने का? सामग्री मैं देता हूँ, प्रमाण सहित।" और वास्तव में ही ओंकारनाथ के पास बल-बूता नहीं, क्योंकि वह भी इस अर्थ-पद्धति का शिकार हो जाता है। राय-साहब से ही सौ ग्राहकों का चन्दा पाकर वह अपना मुँह और आँखें दोनों बन्द कर लेता है। रायसाहब भी खरी सुना देता है—आखिर मैं आपके पत्र का पँचगुना चन्दा क्यों देता हूँ···इसलिए कि आपका मुँह बन्द रहे। जब आप घाटे का रोना रोते हैं···हर मौके पर आपकी कुछ-न-कुछ मदद कर देता हूँ।···साल में पचास बार आपकी दावत करता हूँ। किसलिए?···अपने सभी भाइयों की तरह मैं भी असामियों से जुर्माना लेता हूँ और साल में दस-पाँच हजार रुपये मेरे हाथ लग जाते हैं और अगर आप मुँह से यह कौर छीनना चाहेंगे, तो आप घाटे में रहेंगे···। इससे क्या फायदा कि आप न्याय और कर्त्तव्य का ढोंग रचकर मुझे भी जेरबार करें, खुद भी जेरबार हों?"

इस प्रकार समाज की सारी व्यवस्था—विशेषकर अर्थ-व्यवस्था दूषित है। इसी से अनेक समस्याएँ समाज के सम्मुख मुँह बाये खड़ी हैं। इस दूषित आर्थिक व्यवस्था के कारण समाज में वर्ग-विषमता उत्पन्न हुई है। बेचारे किसान का जीवन अभिशाप बना हुआ है। समाज में इसी से ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का वर्ग-भेद पैदा हो गया है। पैसे के अभाव ने गरीब को तो पतित बना दिया, पैसे की अतिशयता ने भी अमीर को मनुष्य नहीं रहने दिया। "मिर्जा खुर्शेद जब लखपति थे, हजारों मजूरों का शोषण करते थे, यूरोपियन छोकरियों के साथ विहार करते थे, बड़े-बड़े अफसरों के साथ दावतें उड़ाते थे, हजारों रुपये महीने की शराब पी जाते थे।" वेश्या-समस्या भी इसी दूषित अर्थ-व्यवस्था का परिणाम है। वैवाहिक पद्धति में दोष भी इसलिए आये हैं कि हमने उसे अर्थ पर आधारित किया हुआ है। पैसे के लोभ से माँ-बाप अपने बेटा-बेटी से अन्याय करते हैं, दहेज-प्रथा भी पैसे का लोभ ही है, बेमेल विवाह भी पैसे के दम पर ही होते हैं। धन हो तो छूत का भूत भी भाग सकता है। ये अन्धविश्वास, भाग्यवाद, छुआछूत असल में अशिक्षा का परिणाम है। गरीब को यदि उचित शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त हों तो परम्परागत धार्मिक और सामाजिक ढोंग भी समाप्त हो सकते हैं। बिरादरी का भूत भी पैसे के अभाव में ही चिमटता है। इस प्रकार 'गोदान' की मुख्य समस्या आर्थिक विषमता और अर्थ-प्रधान संस्कृति अर्थात् महाजनी सभ्यता के दुष्परिणामों की समस्या है। गरीब पैसे के अभाव में पिस रहा है और पैसे वाले पैसे के बल पर उसे पीस रहे हैं, उसे पीस ही नहीं रहे, पैसे से उन्होंने समाज में अनेक प्रकार की अनीतियाँ और अन्याय उत्पन्न किये हुए हैं। झिंगुरीसिंह दातादीन से कहता है—"कानून और न्याय उसका है, जिसके

पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे, मगर होता क्या है ? रोज ही देखते हो। जमींदार मुसक बँधवा कर पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है। जो किसान पोढ़ा है, उससे न जमींदार बोलता है न महाजन। ऐसे आदमियों से हम लोग मिल जाते हैं और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गर्दन दबाते हैं। तुम्हारे ही ऊपर रायसाहब के पाँच सौ रुपये निकलते हैं; लेकिन नोखेराम में है इतनी हिम्मत कि तुम से कुछ बोले ? ··· कचहरी-अदालत उसी के साथ है, जिसके साथ पैसा है, हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं।"

समाज की इस प्रमुख समस्या के ही आश्रय 'गोदान' में भिन्न-भिन्न समस्याएँ प्रकट हुई हैं। समाज में शोषण की समस्या है, जमींदारी-शोषण अलग है, महाजनी अलग। पूँजीवादी मिल-मालिक और मजदूर की समस्या है, अर्थ-लोलुप पुलिस-कर्मचारी और रिश्वतखोर ब्रिटिश नौकरशाही की समस्या है। परम्परागत ब्राह्मणी-धर्म भी महाजनी-सभ्यता का रूप लिए हुए है, क्योंकि ब्राह्मण भी महाजन बना हुआ है और उसका धर्म भी शोषक है। छुआछूत और जाति-भेद का ढोंग, भाग्यवाद और धर्म का भय सब गरीब को लूटने के लिए ही है। पारिवारिक जीवन में अशांति भी पैसे के अभाव और पैसे के आधिक्य से उत्पन्न होती है। गरीब घरों में सास-बहू, देवरानी-जेठानी, पिता-पुत्रों में जो झगड़े और अलगौझे होते हैं उनके मूल में उनकी निपट दरिद्रता ही तो है। पैसा हो तो ये झगड़े काहे को हों ! उधर खन्ना-जैसे धनपतियों का पारिवारिक जीवन इसलिए अशांत रहता है कि पैसे के आधिक्य से उन्हें विलास सूझता है। धन अधिक कमाने के फिराक में उन्हें परिवार की सुख-शांति का कोई ध्यान नहीं रहता। अर्थ-प्रधान पद्धति ने ही वैवाहिक प्रथा को दूषित किया हुआ है। वेश्या-समस्या भी इसी की उपज है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में नारी-समस्या का अवश्य विस्तृत रूप अपनाया है, जो आर्थिक पहलू के बाहर भी अपना स्वरूप रखती है। आधुनिक नारी-स्वच्छन्दता भी समाज की एक प्रमुख समस्या के रूप में उस समय प्रकट हो रही थी। पुरुष के अत्याचारों से पीड़ित नारी ने अपने समानता के अधिकारों के लिए आवाज बुलन्द की है, यह तो ठीक ! पर स्वच्छन्दता के नाम पर जब हमारी नव-शिक्षिता नारियाँ तितली बनी हुई हास-विलास को ही अपने जीवन का लक्ष्य मान बैठती हैं, तो यह स्थिति समस्या उत्पन्न करने वाली बन जाती है। मालती का आरंभिक रूप नारी की स्वच्छन्दता का ऐसा ही रूप है। बाद का सेवा, त्याग, कर्त्तव्य-पालन वाला उदार उदात्त स्वतंत्र रूप प्रेमचन्द को काम्य है। नारी को पुरुष के समान अधिकार मिलने चाहिएँ और पुरुष-द्वारा युग-युग से प्रताड़ित नारी की मुक्ति आवश्यक है। किन्तु पाश्चात्य प्रभाव से उसका समाज में हाव-भाव प्रदर्शन, फैशन की पुतली बनकर स्वच्छन्द विहार करना, समाज के नैतिक पतन का ही द्योतक होगा, यह प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है। समाज-सेवा का व्रत अपनाकर चलनेवाली मालती, अपने मातृत्व और गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करने वाली गोविन्दी ही हमारी आदर्श नारियाँ कहला सकती हैं।

समाज की इन सभी समस्याओं के मूल में वैयक्तिक या सामूहिक स्वार्थ और आत्मसेवा की प्रवृत्ति है। अत: जहाँ एक ओर प्रेमचन्द का उद्देश्य इन सभी सामाजिक बुराइयों का विरोध करने की प्रेरणा देना है; अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ आदि सभी बुराइयों से जूझना और उनके विनाश-द्वारा समूची सामाजिक-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन लाने का सन्देश देना है, वहां दूसरी ओर मानव की सत्य, सेवा, त्याग, नि:स्वार्थ-भावना, अहिंसा, परोपकार आदि की उच्च मानवीय प्रवृत्तियों को जगाना भी उनका उद्देश्य है। मालती के चरित्र-परिवर्तन तथा मेहता के जीवन-दर्शन के रूप में प्रेमचन्द ने मानवीय उच्च प्रवृत्तियों का सन्देश दिया है। निश्चय ही उनका उद्देश्य महान् है। 'गोदान' युग-युग के चिरंतन मानवीय सत्यों की स्थापना करने वाली महान् रचना है। उनका उद्देश्य सामयिक नहीं कहा जा सकता। भले ही अब या आगे कृषक-जीवन की वे समस्याएँ न रहें, जो 'गोदान' में चित्रित हुई हैं, पर मानवीय संवेदनाओं के जिस रूप में वे प्रकट हुई हैं, वह कभी सामयिक नहीं रह सकता; वह शाश्वत है, चिरन्तन है। प्रेमचन्द ने अपने युग की ही नहीं, आगे के युग की आहट भी सुनी है।

प्रेमचन्द के गोदान तथा अन्य उपन्यासों में कृषक-समस्याएँ

प्रेमचन्द आरम्भ से ही कृषकों की दयनीय दशा के बारे में सजग रहे हैं। उनके प्राय: सब उपन्यासों में कृषक-वर्ग की दयनीयता का चित्रण हुआ है। सच तो यह है कि उन्होंने कृषक-जीवन की समस्याओं का क्रमिक अध्ययन अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। 'गोदान' इस अध्ययन की चरम परिणति है। आरम्भिक 'वरदान' में केवल बिरजन के पत्रों-द्वारा कृषक या ग्राम-जीवन की दयनीय दशा का उल्लेख किया गया था। 'सेवासदन' में आकर प्रेमचन्द ने चित्र में करुणा भर दी। यद्यपि 'सेवासदन' में वेश्या-समस्या प्रमुख दिखाई देती है और उसके आकर्षण में पाठक को अन्य समस्याओं का ध्यान नहीं रहता। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो इस रचना में भी कृषक की दयनीय दशा का करुण चित्र स्पष्ट दिखाई देगा। आरम्भ में ही धार्मिक गुरुघंटाल और जमींदार महन्त रामदास जिस निर्दयता से चेतू किसान को मरवा डालता है, गरीब किसानों से जबरदस्ती बेगार और लगान वसूल करता है, बाँकेबिहारी के नाम पर और अपनी शक्ति के बल पर जबर-दस्ती चन्दा लेता है और हील-हुज्जत करने वाले चेतू को यम का टिकट दिला देता है, पुलिस को भी अपनी पीठ पर कर लेता है आदि, यह सब चित्रण किसान की दयनीय परिस्थिति का ही द्योतक है।

निश्चय ही प्रेमचन्द 'सेवासदन' में किसान की दयनीय स्थिति से मर्माहत हैं। वे यद्यपि यहाँ इसके कारणों, भिन्न-भिन्न पहलुओं की अधिक खोजबीन नहीं करते परन्तु उसके मन में कृषक-वर्ग की इस स्थिति को बदलने की प्रबल आकांक्षा है। तभी तो वह उपन्यास को समाप्त करने से पूर्व सदन के परिवर्तित हृदय की दशा का यों वर्णन करते हैं—"जहाँ पहले सुमन का कोठा था, वहाँ संगीत पाठशाला कायम हो गई है। यहाँ के राष्ट्रीय गीत को सुनकर सदन के हृदय में देशोपकार, जाति-सेवा और राष्ट्रीय गौरव की

पवित्र भावनाएँ गूँजने लगीं।···उसने कल्पना में अपने को दीन कृषकों की सेवा करते हुए देखा। वह जमींदार के कारिन्दे से विनय कर रहा था कि इन दीन जनों पर दया करो। कृषकगण उसके पैरों पर गिरे पड़ते थे, उनकी स्त्रियाँ उसे आशीर्वाद दे रही थीं।" (सेवासदन, दिसम्बर 1960, पृष्ठ 260)

कृषक-समस्या को विशेष विस्तार से चित्रित किये बिना ही भिन्न-भिन्न पात्रों के ये संकल्प और विचार प्रस्तुत करना इसी बात का परिचायक है कि प्रेमचन्द के मन में कृषक-वर्ग की समस्या एक प्रमुख समस्या के रूप से यहाँ भी विद्यमान है, चाहे उन्होंने यहाँ उसका चित्रण न किया हो। कुँवर अनिरुद्धसिंह के बारे में कहा गया है कि "कुँवर अनिरुद्धसिंह एक 'कृषि सहायक सभा' खोलने वाले हैं। सभा का उद्देश्य होगा किसानों को जमींदारों के अत्याचार से बचाना।" (पृ० 227) सुधारक बिट्ठलदास भी अन्त में इस ओर उन्मुख होते हैं—"आज-कल वह (बिट्ठलदास) कृषकों की सहायता के लिए एक कोष स्थापित करने का उद्योग कर रहे हैं, जिससे किसानों को बीज और रुपये नाम-मात्र सूद पर उधार दिए जा सकें। इस सत्कार्य में सदन बाबू बिट्ठलदास का दाहिना हाथ बना हुआ है।" (पृ० 237)

'सेवासदन' के सन् 1916-17 के ये शब्द क्या प्रेमचन्द की भावी रचना 'प्रेमाश्रम' के निर्माण की स्पष्ट सूचना नहीं देते। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सेवासदन' में वेश्या-समस्या को प्रमुखता देने के बाद अब अन्त में प्रेमचन्द कृषक-समस्या को प्रधान मानने लगे हैं। वह किसानों की दयनीय दशा से बहुत खिन्न हैं। वह उनकी भलाई चाहते हैं। सम्भवतः प्रेमशंकर की कल्पना उनके मन में इसी समय हो गई होगी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि 'प्रेमाश्रम' में कृषक-संघर्ष की अवतारणा के लिए प्रेमचन्द गांधीजी के ऋणी नहीं हैं। गांधीजी के प्रभाव से बहुत पहले उनके मन में कृषक-वर्ग के उद्धार की बलवती इच्छा विद्यमान हो चुकी थी। इस समय कृषकों के उद्धार के लिए उनके पास दो ही तरीके दिखाई देते हैं— (1) जमींदारों और कारिन्दों से अपील करना कि वे "इन दीनजनों पर दया करें।" (2) कृषकों की सहायता के लिए सभा-संस्थाएँ खोलना, जिससे वे कम सूद पर बीज आदि के लिए रुपये ले सकें और जमींदारों के अत्याचारों से बच जाएँ।

इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रेमचन्द 'सेवासदन' में बिट्ठलदास, कुँवर अनिरुद्धसिंह, सदन आदि लोक-सेवक पात्रों की कल्पना करते हैं। वह अभी कृषकों और जमींदारों के संघर्ष के पक्ष में नहीं हैं। जिस सदन के मन में कृषकों की सहायता का संकल्प उत्पन्न हुआ था, वही जब थोड़ी देर बाद सुनता है कि कुँवर अनिरुद्धसिंह ने एक 'कृषक सहायक संस्था' बनाई है, तो उसका भाव एकदम बदल जाता है। **"वह जमींदार था और कृषकों पर दया करना चाहता था, पर उसे यह मंजूर न था कि कोई उसे दबाये और भड़का कर जमींदार के विरुद्ध खड़ा कर दे।** उसने मन में कहा, यह लोग जमींदारों के सत्वों को मिटाना चाहते हैं।···तो हम लोगों को भी सतर्क हो जाना चाहिए, हमको अपनी रक्षा करनी चाहिए। मानव-प्रकृति को दबाव से कितनी घृणा है।"

प्रेमचन्द की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। इससे प्रेमचन्द की विचारधारा के दो रूप स्पष्ट होते हैं। एक तो यह कि प्रेमचन्द सन् 1916-17 से ही यह समझ रहे हैं कि जमींदार का हृदय-परिवर्तन हो सकता है। उसके मन में कृषकों के प्रति दया जगाई जा सकती है। और निश्चय ही 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर के हृदय-परिवर्तन का यही रहस्य है। दूसरी बात यह कि प्रेमचन्द वर्ग-संघर्ष के पक्ष में नहीं हैं। वह अहिंसात्मक शांतिपूर्ण तरीकों से इस समस्या को हल करने के पक्ष में हैं। समझौते और हृदय-परिवर्तन की धारणा यहीं बन चुकी है। आगामी रचनाओं में प्रेमशंकर ('प्रेमाश्रम' में), अमरकांत ('कर्मभूमि' में), चक्रधर ('कायाकल्प' में) आदि पात्रों ने प्रेमचन्द के इसी आदर्श का निर्वाह किया है। यह आदर्शवाद प्रेमचन्द ने गांधीजी के प्रभाव से अपनाया हो या टॉल-स्टाय से लिया हो अथवा उनकी अपनी चिन्तन-धारा का परिणाम हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह 'गोदान' से पूर्व की सभी रचनाओं में इसे अपनाये रहे और इसी कारण उनकी गोदान-पूर्व की सभी रचनाओं की अन्तिम परिणति एक ढंग की परिचित-सी हो गई। प्रेमचन्द के उपन्यासों में वर्ग-विषमता, वर्ग-चेतना खूब होते हुए भी वर्ग-संघर्ष का जो प्राय: अभाव है, वह भी इसी कारण।

'प्रेमाश्रम' में कृषक-जीवन की विपत्तियाँ खुलकर प्रकट हुईं। यद्यपि कृषक-आंदोलन का इसमें भी अभाव है, पर उसके संकेत स्पष्ट प्रकट हुए हैं। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द कृषक और जमींदार की समस्याओं को गहराई से देखते नजर आते हैं। यद्यपि इसका इलाज उन्होंने वही समझौता और हृदय-परिवर्तन ही बताया है। पर उनकी रचना साफ पुकार रही है कि जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किये बिना कृषक की समस्याएँ तो सुलझ ही नहीं सकतीं, जमींदार भी राहत नहीं पा सकता। जितनी जल्दी यह पद्धति नष्ट हो जाय, उतना ही अच्छा है। इसमें एक ओर मनोहर और उसके बेटे बलराज की विद्रोही वाणी सुनाई देती है, दूसरी और प्रेमशंकर-जैसे सुधारक जमींदारी का विरोध करते हैं और यहाँ तक कि तीसरी ओर स्वयं जमींदार अपने वर्ग की आलोचना करते पाये जाते हैं। इस रचना में जादू सर चढ़के बोला है। बलराज तो मरने-मारने को ही तैयार हो जाता है और रूस तथा बलगेरिया का उदाहरण देकर काश्तकारों का राज होने की बात करता है। उधर प्रेमशंकर भी स्पष्ट शब्दों में कहता है—"भूमि उसकी है, जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शांति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती ही नहीं हो सकती। **किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।**"

"ज्वालासिंह—महाशय, इन विचारों से तो आप देश में क्रान्ति मचा देंगे। आपके सिद्धान्त के अनुसार हमारे बड़े-बड़े जमींदारों, ताल्लुकेदारों और रईसों का समाज में कोई स्थान नहीं है, सबके सब डाकू हैं।

"प्रेमशंकर—इसमें इनका कोई दोष नहीं, प्रथा का दोष है। इस प्रथा के कारण देश की कितनी आर्थिक और नैतिक अवनति हो रही है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे समाज का यह भाग जो बल-बुद्धि-विद्या में सर्वोपरि है, जो हृदय और

मस्तिष्क के गुणों से अलंकृत है, केवल इसी प्रथा के वश आलस्य, विलास और अविचार में जकड़ा हुआ है।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने जमींदारी प्रथा को ही दोषी ठहराया है। यह प्रथा स्वयं जमींदार के लिए भी अनिष्टकारी है। प्रेमचन्द ने इसे अपने उपन्यासों में मृत्युदंड दिया है। स्वयं रायसाहब कमलानन्द अपनी आलोचना करते हुए कहते हैं—"मैं मानता हूँ कि जमींदार के हाथों किसानों की बड़ी दुर्दशा होती है। मैं स्वयं इस विषय में सर्वथा निर्दोष नहीं हूँ। बेगार लेता हूँ। डाँड़-बाँध भी लेता हूँ। बेदखली या इजाफा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता।···इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है? इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है? मैंने इसे बाहुबल से नहीं लिया···राजविद्रोह के समय पिता जी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की।···यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गए हैं। इसी दलाली के लिए हम एक-दूसरे के खून से अपने हाथ रंगते हैं। इसी दीन-हत्या को हम रौब कहते हैं। इसी कारिन्दगी पर हम फूले नहीं समाते।···तुम कहोगे, यह सब कोरी बकवाद है। रियासत इतनी बुरी चीज है तो उसे छोड़ क्यों नहीं देते। हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया। हम अब किसी काम के नहीं रहे।"

राय कमलानन्द की उपर्युक्त स्वीकारोक्ति 'गोदान' के रायसाहब अमरपाल की स्वीकारोक्ति से अद्‌भुत साम्य रखती है! 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने इस जमींदारी प्रथा का ह्रास दिखाते हुए नव-विकसित पूँजीवाद तथा महाजनी सभ्यता को कृषक-समस्या के लिए जमींदारी प्रथा से भी अधिक उत्तरदायी ठहराया है। 'प्रेमाश्रम' में भी कृषकों की विपत्ति का दूसरा कारण ब्रिटिश शासन-पद्धति बताई गई है। ब्रिटिश नौकरशाही के काले कारनामे प्रेमचन्द की तीव्र आलोचना का विषय बने हैं। दौरे पर निकलने वाले अफसर और उनके अमले, चपरासी, अर्दली आदि किस प्रकार हमारे गाँवों पर टिड्डीदल हमला कर देते हैं, इसका बहुत ही मार्मिक वर्णन 'प्रेमाश्रम' में किया गया है। ये लोग अपने रौब से गाँव वालों को लूटते हैं, मुफ्त का राशन उड़ाते हैं, बेगार लेते हैं। इसके अतिरिक्त पुलिस, हाकिम, जज आदि भी जमींदारों से रिश्वतें उड़ाकर किसानों के विरुद्ध कार्रवाही करते और डिग्रियाँ देते हैं। यही नहीं, इसी शासन-पद्धति ने आपस के प्रेम और सद्‌भाव को नष्ट कर दिया है। प्रेमशंकर किसानों की दरिद्रता के लिए इसे दोषी ठहराते हुए कहते हैं—"उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर (जमींदारों पर) नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और यह परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था (शोषण) का विकास, जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है।···यह शासक इन (पारस्परिक प्रेम) सद्‌भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता।"

इस प्रकार कृषक की विपत्तियों के कारण हैं शोषक जमींदार और विकृत ब्रिटिश शासन। जमींदारी शोषण एक पद्धति बन गया है, जिसे शह मिलती है ब्रिटिश शासन से। जमींदार भी विवश है। उसे अफसरों को डालियाँ देनी पड़ती हैं; यह दलाली का काम

निभाना पड़ता है; अपनी शान बनाकर रखनी पड़ती है। इन दोनों ही संस्थाओं—शोषक और शासन—का अन्त प्रेमचन्द ने चाहा है। पर यह अन्त किसी हिंसात्मक क्रान्ति के रूप में नहीं, हृदय-परिवर्तन के रूप में दिखाया गया है। जमींदार मायाशंकर अपनी रियासत छोड़ देता है और ज्वालासिंह, इर्फानअली आदि सरकारी अफसर किसानों पर किए गए अपने अन्याय पर पछताते हैं। प्रेमचन्द की कल्पना को एक सुखद हल मिल गया, उन्होंने उसकी आकांक्षा की। प्रेमचन्द अपने इस काल्पनिक आदर्शवादी हल—समझौते व हृदय-परिवर्तन—की सम्भावना और आकांक्षा लगभग बीस वर्ष तक करते रहे—सन् 1935 तक प्रतीक्षा करते रहे, देखते रहे। पर सम्भवत: उन्हें मायाशंकर जैसा एक भी जमींदार वस्तु-जगत में दिखाई नहीं दिया, जो अपनी रियासत या जायदाद सहर्ष छोड़ने को तैयार हो गया हो। या उन्होंने शायद अनुभव कर लिया कि यदि एक-आध ऐसा उदाहरण मिल भी जाय तो यह समस्या का कोई हल नहीं। यही कारण है कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने इसका सहारा नहीं लिया।

'प्रेमाश्रम' से यही ध्वनित हुआ था कि जमींदारी का उन्मूलन होना चाहिए, शोषक-शक्तियाँ बहुत दिन तक नहीं टिक सकतीं। मानो प्रेमचन्द ललकार कर कह रहे हों—जमींदारों, अभी भी समय है, बदल जाओ! मायाशंकर बन जाओ, प्रेमशंकर की बातें सुनो, राय कमलानन्द की बातें सुनकर अपने अंदेशे से ही परिवर्तित हो जाओ, इर्फान, ज्वालासिंह का मार्ग पकड़ो, नहीं तो किसान बदल रहा है। वह अपनी चिर मूकता त्याग देगा। नई पीढ़ी त्याग भी रही है। वह मनोहर और बलराज बनकर अपने अधिकार प्राप्त कर लेगा। रूसी क्रान्ति ला देगा। तब भी तुम्हारा अस्तित्व न रहेगा। अन्त में सारा हृदय-परिवर्तन और आदर्श-स्वप्न इसी भूमिका में हुआ है। वह वास्तविक नहीं है, युग का सत्य भी नहीं है—कोरी कल्पना है, आदर्श है। पर प्रेमचन्द की सद्भावना से भरी कल्पना है, एक आशा है—कलाकार की शुभाकांक्षा और गुलाबी आशा—समाज के प्रति, जीवन के प्रति आस्थावादी साहित्यकार की आस्था! प्रेमचन्द ने इसके लिए अपनी कला को ठेस पहुँचाने की परवा भी नहीं की!

'रंगभूमि' में पूंजीवाद भी आकर सम्मिलित हो जाता है। औद्योगीकरण के रूप में यह एक ओर हमारे कृषकों को मजदूर बनाने में लगा है, शायद भूमि का अत्यधिक भार दूर करने की दृष्टि से यह शुभ लक्षण होता; पर दूसरी ओर इससे हमारे ग्रामों की पवित्रता और शान्ति नष्ट होने का भय है, हमारे कृषक-जीवन में यह गन्दगी पैदा कर रहा है। देशी रियासतों में स्थिति और भी खराब है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने देशी रियासतों के निर्मम शोषण का और भी सजीव चित्र उपस्थित किया है। 'कर्मभूमि' में भी समस्या का वही रूप है। प्रेमचन्द ने इन सब रचनाओं में 'प्रेमाश्रम' वाला दृष्टिकोण ही अपनाया है।

'गोदान' में कृषक-जीवन की समस्याओं का अत्यन्त विस्तारपूर्वक चित्रण हुआ है। यह समस्या केवल जमींदारी पद्धति की समस्या नहीं है, जैसाकि पहली रचनाओं में प्रकट हुआ था; यह तो कोरमकोर आर्थिक समस्या है। आर्थिक विषमता के कारण

किसान दरिद्र, दीन-हीन, असभ्य, अपढ़ और शोषित बना हुआ है। समाज में एक जमींदारी ही नहीं, कई प्रकार की शोषक शक्तियाँ उसके अस्तित्व को निगल ही नहीं रहीं, अपितु अपने पोषण का साधन बनाकर उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी दरिद्र अवस्था में रखना चाह रही हैं। जमींदार तो एक ही है, महाजन कई हैं। जमींदार अत्यधिक लगान की वसूली, बेगार, चन्दे तथा दण्ड आदि से; उसका कारिन्दा भी अपनी कारिन्दगी के बतौर बेगार, बेईमानी तथा अन्य प्रकार की लूट-खसूट से; महाजन अत्यधिक सूद वसूल करके; पटवारी अपने नजर-नजराने से; पुलिस के दारोगा रिश्वत उड़ाकर; धर्म के ठेकेदार पण्डित धर्म का भय दिखाकर, दान-दक्षिणा, पण्डिताई वसूल करके; पंच और चौधरी डांड लगाकर; शहर के मिल-मालिक उसकी उपज कम तोलकर, कम भाव लगाकर—सब उसे लूट रहे हैं। सब शोषक जोंक की तरह चारों ओर से उसे चूस रहे हैं। दूसरी ओर वह अपनी अशिक्षा, धर्मभीरुता, झूठी मर्यादा और बुरी रीतियों में जकड़ा हुआ अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ा लगा रहा है। इस सारी स्थिति का कारण है अर्थ-विषमता। प्रेमचन्द पाठक के सामने स्पष्ट करना चाहते हैं कि सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बदलने से ही यह स्थिति सुधर सकती है। जमींदारी पद्धति को समाप्त करना होगा, भूमि का उचित बटवारा करना होगा, औद्योगीकरण-द्वारा भूमि पर से अत्यधिक भार कम करना होगा, आर्थिक विषमता मिटानी होगी, कृषकों को आर्थिक सहायता देकर कृषि का वैज्ञानिक ढंग से सुधार करना होगा, क्योंकि हमारा कृषक अपने श्रम का पूरा फल नहीं पाता, उसे राम-भरोसे रहना पड़ता है; ब्रिटिश नौकरशाही और पुलिस-पद्धति में परिवर्तन करना होगा; महाजनी संस्कृति और पूँजी-वाद का अन्त करना आवश्यक है जिस ने टका ही धर्म बनाया हुआ है; अधिकार और सत्ता में परिवर्तन करना होगा ताकि जनता के सच्चे सेवक ही अधिकारी बनें। अर्थात् सब क्षेत्रों में नव परिवर्तन लाना होगा, सब प्रकार की दूषित प्रवृत्तियों और पद्धतियों को बदलना होगा। धर्म के विकृत रूप को भी तिलांजलि देनी होगी। समाज की अनेक परम्पराओं और गली-सड़ी रीतियों को मृत्युदण्ड देना होगा। वर्ण-भेद, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, दूषित वैवाहिक पद्धति, अशिक्षा आदि सभी बुराइयों को जड़ से उखाड़ना होगा। राष्ट्र के नव-निर्माण की आवश्यकतापूर्ति के लिए सब-कुछ बदलना होगा।

कुछ समीक्षकों का कहना है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में समस्याओं का कोई समाधान नहीं दिया, कोई राह नहीं सुझाई। होरी अपनी विवशता में दम तोड़ देता है, महाजन और जमींदार बने रहते है। प्रेमचन्द समस्याओं के हल की ओर नहीं बढ़ते। जहाँ उन्होंने नागरिक जीवन की नारी-स्वातन्त्र्य तथा नारी के हास-विलास और फैशन-प्रियता तथा मिल-मालिक-मजदूर की समस्याओं के सुझाव प्रस्तुत किये हैं, वहाँ उपन्यास की प्रमुख समस्या—कृषक-समस्या का कोई सुझाव प्रस्तुत नहीं किया।

परन्तु हम समझते हैं कि साहित्य का मर्म न समझने वाला व्यक्ति ही यह सोच सकता है कि 'गोदान' में कृषक-जीवन की समस्या का कोई हल नहीं। साहित्यकार राज-नैतिक पार्टी-लीडर अथवा समाज-सुधारक के नुसखे प्रचारित नहीं करता। वह अपना

कोई 'मेनिफेस्टो' प्रस्तुत नहीं करता। किन्हीं बने-बनाये हलों को बताना उसका काम नहीं है। उसका काम है समस्याओं के रूप प्रस्तुत करना। वह मानवीय संवेदनाओं के रूप में समस्याओं को पूरी तरह रंग देता है, यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है। इससे आगे यदि वह गाँधीवादी या समाजवादी तरीकों को सुझाने लगेगा तो साहित्यकार की अपेक्षा प्रचारक की ओर ही बढ़ेगा। फिर प्रेमचन्द ने तो समस्याओं के संवेदनात्मक रूप ही नहीं दिए, अपितु उनके मूल कारण भी स्पष्ट किये हैं। और हल के संकेत भी दिये हैं। साहित्यकार के सुझाव संकेत-मात्र होते हैं। वह पंचवर्षीय योजनाएँ प्रस्तुत करने नहीं बैठता। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उन्होंने सामाजिक समस्याओं का अत्यन्त संवेदनशील रूप प्रस्तुत किया, जिसके कारण हमें इन समस्याओं को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। यही साहित्यकार की सफलता होती है। प्रेमचन्द ने तो समस्याओं के मूल कारणों को भी उद्घाटित किया है। 'गोदान' में प्रेमचन्द किसी गाँधीवादी या समाजवादी नेता को संघर्ष के बीच नहीं लाये—यही बात बना-बनाया हल ढूँढ़ने वाले कुछ लोगों को अखरती है। किन्तु मेरे विचार में प्रेमचन्द ने होरी का जैसा मार्मिक करुणान्त दिखाया है, वह 'गोदान' की सबसे बड़ी प्रभाव-शक्ति है। वह एकदम मर्माहत कर देने वाला है। उसमें मन में इस स्थिति के प्रति विद्रोह करने की जैसी तीव्र प्रेरणा जगती है वैसी प्रेरणा किसी नेता-द्वारा होरी के त्राण में शायद न जगती। प्रेमचन्द ने समस्याओं के आर्थिक पहलू को कितनी स्पष्टता से प्रस्तुत किया है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। कृषक-जीवन की विडम्बना के कारणों का जैसा स्पष्ट और व्यापक चित्रण 'गोदान' में मिलता है, वह किसी समाज-शास्त्री की पुस्तक या राजनीतिज्ञ के 'मैनिफेस्टो' में नहीं मिल सकता। जब कारणों का पता चल गया तो निदान कठिन नहीं होता। प्रेमचन्द ने तो स्पष्ट शब्दों में संकेत किया है कि सब दिशाओं में परिवर्तन की आवश्यकता है। सारी समाज-व्यवस्था को बदलना होगा। जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं, उन्होंने समाज के उत्थान के लिए कर्त्तव्य कर्मों का पूरा सुझाव दिया है। भले ही यह सुझाव किसी वाद-विशेष का सैद्धान्तिक या राजनीतिक सुझाव न हो, पर है वास्तविक सुझाव। प्रेमचन्द ने गोबर को जो क्रान्तिकारी नहीं बनाया, वह युग-सत्य की रक्षा के लिए ही हुआ है, अन्यथा वह चाहते तो गोबर को क्रान्तिकारी बनाकर वर्ग-संघर्ष का पूर्ण स्वरूप प्रकट कर सकते थे। जब वह शहर से पैसे कमाकर गाँव में आता है तब उसका यह स्वरूप विकसित होता हुआ दिखाई भी देता है। इसी को प्रेमचन्द प्रचण्ड बना सकते थे। पर उन्हें होरी के चित्र में अधिक करुणा भरना ही अधिक मार्मिक, अधिक वास्तविक और अधिक प्रभावकारी प्रतीत हुआ। उन्होंने यही किया। उनकी रचना पुकार-पुकार कर कह रही है कि समाज के इस कुरूप को बदलो। कृषक को भी कह रही है कि तुम्हें अपना भाग्य आप बनाना होगा, किसी नेता के सुधार करने से कुछ न होगा। अब गोबर ने "सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी।" ('गोदान' पृ० 481)। पाठक को 'गोदान' झकझोर कर जगा रहा है कि

बदलो इस समाज-व्यवस्था को; इस अर्थ-तन्त्र और समाज की सभी रूढ़ियों को जड़-मूल से उखाड़ दो, सभी मानव-शोषी पद्धतियों का अन्त करो। पत्तियाँ तोड़ने व सींचने से भी कुछ नहीं होगा। मेहता के शब्दों में स्पष्ट कहा गया है कि जड़ को पकड़ो—सारी समाज-व्यवस्था या अर्थ-व्यवस्था को बदलो। निश्चय ही इस रचना में सुधार के पक्ष-पाती वह नहीं रहे हैं। समझौते और सुधार का पुराना तरीका उन्होंने 'गोदान' में आकर छोड़ दिया है। किसी एक दिशा में सुधार से कुछ न होगा। सब पद्धतियों—जमींदारी, पूँजीवादी, महाजनी, ब्रिटिश नौकरशाही, रूढ़ धार्मिकता आति सब को—बदलना होगा, मृत्यु-दण्ड देना होगा। शान्तिपूर्ण तरीकों से सम्भव हो तो शान्ति से बदलो, नहीं तो क्रान्ति से बदलो, बदलना मुख्य बात है।

व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन

मेहता का जीवन-दर्शन

'गोदान' में प्रेमचन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त स्पष्ट है। जीवन में जो कुछ वह आरम्भ से अन्त तक सोचते-विचारते आये, जिन जीवन-तत्त्वों और सिद्धान्तों को उन्होंने अपनाया, जो उनका जीवन-दर्शन बना, वह सब 'गोदान' में प्रकट हुआ है। 'गोदान' में मेहता प्रेमचन्द का ऐसा आदर्श पात्र है, जो प्रेमचन्द के अपने विचारों का भी प्रतिनिधित्व करता है। उसके माध्यम से प्रेमचन्द ने अपना ही जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द स्वयं सरल निश्छल प्रकृति के मानव थे। दिखावे और बनावट से उन्हें घृणा थी। 'कथनी' और 'करनी' में अन्तर उन्हें न भाता था। मेहता ऐसे ही स्पष्टवादी जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करता है—मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायतें देना चाहते हैं, जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं फिर भी आप जमींदार हैं।···मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा,···।···मैं नकली जिन्दगी का विरोधी हूँ। अगर माँस खाना अच्छा समझते हो, तो खुल कर खाओ। बुरा समझते हो तो मत खाओ, यह तो मेरी ममझ में आता है। लेकिन अच्छा समझना और छिपकर खाना, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं इसे कायरता भी कहता हूँ और धूर्त्तता भी जो वास्तव में एक हैं।"

जमींदारी और पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के प्रेमचन्द विरोधी हैं। रायसाहब जब स्वयं कहता है—"किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटा होने का अधिकार नहीं है। पर-उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणी-मात्र का धर्म है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।···जिन्हें पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस, पाँच-पाँच फटकारें, यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी। इस व्यवस्था ने हम जमींदारों में कितनी विलासिता, कितना दुराचार, कितनी पराधीनता और कितनी निर्लज्जता भर दी है···।" तो मेहता ताली बजाकर रायसाहब का अनुमोदन करते हैं।

पर उन्हें रायसाहब का यह रोना मगरमच्छ के आँसू प्रतीत होता है, कोरी धूर्त्तता लगता है।

सामूहिक हित और समाज-कल्याण के हामी होते हुए भी, प्रेमचन्द व्यक्ति की सत्ता और महत्ता स्वीकार करते थे। समाज-सापेक्ष समझते हुए भी व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना को दबाना वह बुरा समझते थे। समाज व्यक्ति से ही बनता है। गाँधीवाद में भी व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्र चेतना का विकास महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द गाँधीवादी दृष्टिकोण के हामी हैं। मेहता कहता है—समाज व्यक्ति ही से बनता है। और व्यक्ति को भूलकर हम किसी व्यवस्था पर विचार नहीं कर सकते।" यही नहीं, वह व्यक्ति की दृष्टि से समाज में छोटे-बड़े का भेद भी शाश्वत सत्य मानते हैं; "मैं इस सिद्धान्त का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।···बुद्ध, प्लेटो और ईसा सभी समाज में समता के प्रवर्तक थे। यूनान, रोम और सीरिया सभी सभ्यताओं ने उसकी (समाज में समानता के सिद्धान्त की) परीक्षा की, पर अप्राकृतिक होने के कारण कभी वह स्थायी न बन सका।···धन को आप किसी अन्याय से बराबर फला सकते हैं। लेकिन बुद्धि को, चरित्र को, रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से ही तो नहीं होता?···आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा करेगी।"

जो लोग 'गोदान' में प्रेमचन्द को गाँधीवाद की बजाय समाजवाद का समर्थक मानते हैं, उन्हें मेहता की उपर्युक्त बात पर ध्यान देना चाहिए। निश्चय ही ये बातें साम्यवाद के वर्गहीन समाज-निर्माण (classless society) के सिद्धान्त से मेल नहीं खातीं। मेहता का स्पष्ट कथन है कि सबके विकास के लिए समान सुविधाएँ नहीं दी जा सकतीं। "जिन औजारों से लोहार काम करता है, उन्हीं औजारों से सोनार नहीं करता। क्या आप चाहते हैं, आम भी उसी दशा में फलें-फूलें, जैसे बबूल या ताड़? मेरे लिए धन केवल उन सुविधाओं का नाम है, जिनमें मैं अपना जीवन सार्थक कर सकूँ। धन मेरे लिए···केवल साधन है।" व्यक्तिगत स्पर्द्धा और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए मेहता कहता है कि यदि एक मजदूर दूसरे मजदूर की अपेक्षा कम मजदूरी में वही काम कर सकता है 'तो कोई वजह नहीं कि आप पहले मजदूर की खुशामद करें।' किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि मेहता पूँजीवादी शोषण के समर्थक हैं। जब शक्कर मिल में मजदूरों की हड़ताल हो जाती है तो मेहता खन्ना से साफ कहते हैं—"क्या आपका विचार है कि मजदूरों को इतनी मजदूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से मजदूरों को कष्ट न होगा! आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गन्दे बदबूदार बिलों में—जहाँ आप एक मिनट भी रह जाएँ, तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी नहीं पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न

खायेगा।···आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं···।"

सामन्तवादी या पूंजीवादी व्यवस्था के वह विरोधी हैं। अपनी जीवनोपयोगिता से फालतू धन को वह अभिशाप मानते हैं। इस फालतू धन को वह सब बुराइयों का कारण कहते हैं। फालतू धन ही जूए, नशे, विलास आदि में अपना विकास करता है। वह इस अर्थ-व्यवस्था को बदलना चाहते हैं। उनका विचार है कि जब तक दौलत वाले रहेंगे, वेश्याएँ भी रहेंगी। ऐयाशी फालतू पैसे से ही पनपती है।

कृषकों से उन्हें अपार सहानुभूति है। गाँवों में जाकर मेहता किसानों की निरीह दीन-दरिद्र अवस्था देखकर दुखी हो जाते हैं। काश ! "कि ये मनुष्य ज्यादा और देवता कम होते। उनकी निरीहता जड़ता की हद तक पहुँची हुई है।"

गोविन्दी को अपना जीवनादर्श बताता हुआ मेहता कहता है—"मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ। जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुःखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है।···जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब-कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है।" मेहता का जीवन-दर्शन व्यावहारिक आदर्शवादी है। वह जीवन में सद्-प्रवृत्ति को ही श्रेयस्कर समझता है। जीवन को पूर्ण बनाना ही सबसे बड़ी साधना है, यही मोक्ष है। वैराग्य और निवृत्ति को वह पाखण्ड मानता है। वह कहता है—"और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो।"

प्रेमचन्द जीवन के प्रति दृढ़ आस्था रखते थे। इस जीवन को छोड़कर, इस दुनिया से परे किसी ईश्वर और स्वर्ग की कल्पना को वह कभी सत्य नहीं मान पाये थे। मेहता के तत्त्व-चिन्तन को व्यक्त करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—"आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छान-बीन कर लेने पर वह इसी तत्त्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिए असंभव समझते थे; पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्यों में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है।···ईश्वर की कल्पना का एक ही

उद्देश्य उनकी समझ में आता था और वह था मानव-जीवन की एकता। एकात्मवाद या सर्वात्मवाद या अहिंसा तत्त्व को वह आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, भौतिक दृष्टि से ही देखते थे; यद्यपि इन तत्त्वों का इतिहास के किसी काल में भी आधिपत्य नहीं रहा, फिर भी मनुष्य-जाति के सांस्कृतिक विकास में उनका स्थान बड़े महत्त्व का है। मानव-समाज की एकता में मेहता का दृढ़ विश्वास था; मगर इस विश्वास के लिए उन्हें ईश्वर-तत्त्व के मानने की जरूरत न मालूम होती थी।...द्वैत और अद्वैत का व्यावहारिक महत्त्व के सिवा वह और कोई उपयोग न समझते थे और वह व्यावहारिक महत्त्व उनके लिए मानव-जाति को एक-दूसरे के समीप लाना, आपस के भेदभाव को मिटाना और भ्रातृ-भाव को दृढ़ करना ही था।"

"आत्म-सेवा से बड़ा उनकी नजरों में दूसरा अपराध न था।" "वणिक् बुद्धि को वह आवश्यक बुराई ही समझते थे।" मालती भी उनके सेवा और त्याग के आदर्श पर चलने लगी। यही कारण है कि गृहस्थ के संकुचित स्वार्थ-सम्बन्धों में न पड़कर मानवता की व्यापक सेवा और समाज-कल्पना में लगना अधिक उचित मानती है।

विवाह और प्रेम के सम्बन्ध में मेहता के विचार हैं कि विवाह 'एक सामाजिक समझौता' है, जिसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। "समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।" निश्चय ही मेहता के माध्यम से प्रेमचन्द ने तलाक के बिल का विरोध किया है। विवाह को प्रेमचन्द एक पवित्र सामाजिक बन्धन समझते थे। वे वैवाहिक पद्धति के परम्परागत रूप के विरुद्ध थे। जब रायसाहब मेहता के आगे अपने पुत्र रुद्रपाल का रोना रोता है कि मेरे कहने के अनुसार राजा सूर्यप्रतापसिंह की लड़की से शादी करने की बात ठुकरा रहा है, और मालती की बहन सरोज के प्रेम-पाश में बँधा हुआ है, तो मेहता रायसाहब को समझाते हुए कहते हैं—आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आपका लड़का बालिग है और अपना नफा-नुकसान समझता है। कम-से-कम मैं तो शादी-जैसे महत्त्व के मुआमले में प्रतिष्ठा (धन-सम्मान) का कोई स्थान नहीं समझता।"

मेहता समाज की दृष्टि से विवाहित जीवन को श्रेष्ठ मानते हैं और व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन को। विवाह का बन्धन व्यक्ति के विकास में बाधक होता है, यह शायद प्रेमचन्द का भी निजी अनुभव था। 'मुक्त-भोग आत्मा के विकास में बाधक नहीं होता।' मुक्त-भोग से मेहता का अभिप्राय विलास या व्यभिचार नहीं है। दाम्पत्य के बाहर प्रेम की वह कल्पना ही नहीं कर सकते। सच्चा प्रेम दाम्पत्य-जीवन में ही संभव होता है। इसके बाहर नर-नारी का प्रेम या तो वासना है, विलास है या कोरी धूर्त्तता, स्वाँग और धोखा। वह विवाह को आत्मसमर्पण मानते हैं। "प्रेम जब आत्म-समर्पण का रूप लेता है, तभी ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी है।" "जिसे सच्चा प्रेम कह सकते हैं; केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है। इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति-मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं।" मालती प्रेम की

व्याख्या करती हुई कहती है, "मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है।···वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।" मेहता और मालती के इन विचारों में ऊपरी तौर पर अन्तर दिखाई देता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। सच्चे प्रेम को दोनों आत्मसमर्पण मानते हैं। नर-नारी के ऐसे प्रेम को मेहता विवाह के रूप में समर्पण मानते हैं। इस प्रेम का आधार रूप नहीं, गुण है।

प्रेमचन्द की नारी-भावना

मेहता के नारी-सम्बन्धी विचार भी प्रेमचन्द की नारी-भावना के परिचायक हैं। मेहता नारीत्व की पूर्णता मातृत्व में मानते हैं। उनके "ज़हन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी वेज़बानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है।" वह खुर्शेद से कहता है—आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता ? औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है ? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है। वह अपने को मिटायेगा तो शून्य हो जायगा।···वह तेजप्रधान जीव है,···स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शाँति-सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है। ···संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ। मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार ही डालूँ तो प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये। अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ, तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे। ऐसी नारी पाकर मैं उसके चरणों में गिर पड़ूंगा और उस पर अपने को अर्पण कर दूंगा।"

मेहता के ये विचार परम्परागत भारतीय पातिव्रत्य धर्म के ही आदर्श को प्रस्तुत करते हैं, जिनकी आड़ में पुरुष ने नारी का शोषण किया है। इसी एकांगी आदर्श के कारण नारी आज तक पुरुष-द्वारा प्रताड़ित की गई है। परन्तु वास्तव में मेहता नर-नारी के इस आदर्श को एकांगी नहीं चाहते। यह कथन केवल मालती को दृष्टि में रखकर किया गया है। आगे उन्होंने दाम्पत्य प्रेम के उभयपक्षीय रूप को प्रस्तुत किया है। कम-से-कम प्रेमचन्द को पातिव्रत्य और पत्नीव्रत दोनों ही आदर्श मान्य थे। गोविन्दी और सोना—ये दो नारी-पात्र 'गोदान' में प्रेमचन्द के आदर्श नारी-पात्र हैं। गोविन्दी में प्रेम, त्याग और मातृत्व का चरम-विकास है। खन्ना का मालती की ओर लपकना उसे न अखरता हो, सो नहीं। वह मालती से ईर्ष्या भी करती है और पति के इस आचरण का विरोध भी। क्यों न करे ? उसे अधिकार है कि वह अपने प्रेम का प्रतिदान चाहे। सोना तो इस दृष्टि से और भी उग्र है। वह अपने पति मथुरा की कुचाल पर क्षुब्ध होकर सिलिया को कहती है—"तूने उस पापी को लात क्यों नहीं मारी ? दाँत क्यों नहीं काट लिया ?···क्यों तूने उसकी नाक दाँतों से नहीं काट ली ? क्यों नहीं दोनों हाथों से उसका गला दबा दिया ? तब मैं तेरे चरणों पर सिर झुकाती। अब तो तुम मेरी आँखों में हर-जाई हो,···।" यह दोनों-तरफा वफादारी ही प्रेमचन्द को काम्य है। सम्भवतः मेहता भी

यही चाहते हैं, तभी तो उन्होंने आगे मालती को कहा—प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं; खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।" "अगर कोई पुरुष मेरे और मेरी स्त्री के बीच में आने का साहस करे, तो मैं उसे गोली मार दूँगा—इसी तरह अगर मैं किसी स्त्री को अपने और अपनी स्त्री के बीच लाना चाहूँ तो मेरी पत्नी को भी अधिकार है कि वह जो चाहे, करे।"

वीमेंस लीग में जब डॉ० मेहता भाषण देते हैं तो प्रेमचन्द कहते हैं—"डॉ० मेहता अकेले थे फिर भी देवियों (नव-शिक्षिता युवतियाँ जो मेहता को परास्त करना चाहती थीं) के दिल काँप रहे थे। सत्य की एक चिनगारी असत्य के पहाड़ को भस्म कर सकती है।" प्रेमचन्द का यह कथन इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द मेहता के समर्थक हैं; अथवा यों कहें, प्रेमचन्द ने मेहता के माध्यम से अपनी ही नारी-भावना को प्रस्तुत किया है। मेहता अपने भाषण में कहते हैं—"मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ।···उसी तरह जैसे प्रेम, त्याग और श्रद्धा को हिंसा, संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता हूँ। आपके (देवियों के) पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान के लिए क्या है?·· स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में, स्त्री के कर्म करते देखकर।···अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव-क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा।" मेहता नारी का कर्म-क्षेत्र मुख्यतः घर ही मानते हैं। घर के बाहर भी उसका क्षेत्र हो सकता है किन्तु वह होना चाहिए घर-जैसा ही—सेवा, मातृत्व और परोपकार का, जैसा मालती ने बाद में अपनाया। सृष्टि और पालन ही उसका कर्म-क्षेत्र है। वह भी यदि पुरुष की तरह झगड़े-संघर्ष-कलह के अखाड़े में उतरने लगेगी तो इससे समाज का भला न होगा : नारी अपने मूल गुणों को खो बैठेगी और पुरुष के ये गुण आ जाने से वह कुलटा हो जायगी। मेहता पुरुष और नारी की शक्तियों में समानता के हामी नहीं हैं। "मैं नहीं कहता, देवियों को विद्या की जरूरत नहीं है। है, और पुरुषों से अधिक। मैं नहीं कहता, देवियों को शक्ति की जरूरत नहीं है। है, और पुरुषों से अधिक; लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नहीं, जिससे पुरुष ने संसार को हिंसा-क्षेत्र बना डाला है।··· आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है। क्या आप समझती हैं, वोटों से मानव-जाति का उद्धार होगा, या दफ्तरों में और अदालतों में जबान और कलम चलाने से? इन नकली, अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिये हैं?··· हमारा जीवन हमारा घर है। वहीं हमारी सृष्टि होती है, वहीं हमारा पालन होता है, वहीं जीवन के सारे व्यापार होते हैं, अगर वह क्षेत्र परिमित है, तो अपरिमित कौन-सा क्षेत्र है!···संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको मिले हुए हैं। उन अधिकारों के सामने वोट कोई चीज नहीं। मुझे खेद है, हमारी बहिनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से

गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है।··· जब मैं वहाँ (पश्चिम) की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाँहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते हुए देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?"

सन 1934-35 के उस युग में नारी-स्वच्छन्दता की जो आवाज उठ रही थी और स्वयं नारी जो अपने अधिकारों को पाने के लिए संघर्ष में उतर आई थी, उसी की प्रतिक्रिया में प्रेमचन्द ने ये विचार प्रकट किए हैं। पश्चिम के अंधानुकरण के वह विरुद्ध थे। वह नारी के लिए गृहिणी का आदर्श त्यागकर तितलियों का रंग पकड़ना हेय समझते थे। नारी-स्वतन्त्रता की आड़ में फैशन—हाव-भाव-प्रदर्शन और स्वच्छन्द-विहार को वह बुरा मानते थे। सेवा ही वह सीमेंट है जो दाम्पत्य जीवन को सुखी और दम्पति में जीवन-पर्यन्त स्नेह और विश्वासपूर्ण साहचर्य बनाये रखता है। 'जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।'

गोविन्दी मेहता के भाषण से प्रभावित होती हुई भी उसे पुरुष-कर्त्तव्य बताती है—"पहले बात यह है कि भूल जाइये कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा, संयम और कर्त्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है; अगर उसमें इन बातों का अभाव है, तो नारी में भी अभाव रहेगा। नारियों में जो यह विद्रोह है, इसका कारण पुरुष का इन गुणों से शून्य हो जाना है।"

मातृत्व नारी की पूर्णता है। मेहता कहता है—"मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है, और इसके उपरांत वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रममात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है।" मालती ने नारी का यही मातृ-रूप, जिसमें त्याग, सेवा और गृहिणी का सम्पूर्ण आत्म-लय है, गाँवों की नारियों में देखा। इस त्यागमय जीवन के सामने शिक्षित नारी का विलासी जीवन कितना तुच्छ और बनावटी था! मालती सोचती है—"इस भावना (त्याग और सेवा के मातृ-रूप) की रक्षा करते हुए—इसी भावना का क्षेत्र और बढ़ाकर—भावी नारीत्व का आदर्श निर्माण होगा। जाग्रत देवियों में इसकी जगह आत्म सेवन का जो भाव आ बैठा है—सब-कुछ अपने लिए, अपने भोग-विलास के लिए—उससे तो सुषुप्तावस्था ही अच्छी।···उस (माता) ने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया; उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो गया। नहीं, अपने को मिटाने से काम न चलेगा। नारी को समाज के कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी, उसी तरह जैसे इन किसानों को अपनी रक्षा के लिए इस देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।"

प्रेमचन्द समाज-कल्याण के लिए नारी को अग्रसर देखना चाहते थे। नारी का मुख्य क्षेत्र घर होते हुए भी, समाज-कल्याण के लिये वह घर के बाहर भी अपना कर्म-क्षेत्र बना सकती है, पर उसका कार्य बाहर भी वही घर-का-सा सेवा, त्याग और परोपकार का कोमल-स्निग्ध कार्य होना चाहिये। अपने सेवा, त्याग और समाज-कल्याण के कार्य की साधना के लिए उसे अपने अधिकार भी प्राप्त करने होंगे।

इस प्रकार 'गोदान' में प्रेमचन्द ने मेहता के माध्यम से अपने जीवन-दर्शन पर विस्तृत प्रकाश डाला है। 'गोदान' का यह विचार-तत्त्व निश्चित ही मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों से सम्बन्ध रखता है। जीवन की व्यावहारिकता का आदर्श इसकी प्रमुख विशेषता है। चाहे दर्शन की बहुत सूक्ष्म गहराई—ऐसी गहराई जो बुद्धि को ही चमत्कृत करे—इसमें अधिक न हो, तो भी जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण का जो सहज ज्ञान इसमें पाया जाता है, वह प्रेमचन्द की विशेषता है। ये विचार, ये सब धारणाएँ, यह सब जीवन-दृष्टि प्रेमचन्द ने निजी जीवन-अनुभव से प्राप्त की थी, किसी दार्शनिक की पुस्तकों से नहीं। यही सहज अनुभव-गम्यता और सरल व्यावहारिकता इस जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है।

गोदान में कथानक : कथा तत्त्व

कथा

1. सेमरी और बेलारी अवध प्रान्त के दो गाँव हैं। होरी बेलारी में रहता है और उसका जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह सेमरी में। होरी अपने मालिक को मिलने जाता है, क्योंकि मिलते-जुलते रहने का ही तो प्रसाद है कि उस पर बेदखली नहीं आई। उसकी पत्नी धनिया इस खुशामद को व्यर्थ समझती है। जिस गृहस्थी में पेट की रोटियां भी न मिलें, उसके लिये खुशामद क्यों ? जाते हुए रास्ते में भोला नामक ग्वाले से होरी की भेंट होती है। उसकी एक कबरी गाय देखकर होरी की गाय लेने की लालसा तीव्रता से जाग उठती है। होरी भोला से मीठी-मीठी बातें बनाकर और पचास साल के बूढ़े विदुर के लिए एक जवान मेहरिया ठीक करने का झाँसा देकर, उसे उधार में गाय देने को राजी कर लेता है।

2. होरी रायसाहब से मिलता है। रायसाहब धनुषयज्ञ की तैयारी में लगे थे। रायसाहब ने मगरमच्छ के आँसू बहाते हुए अपना रोना होरी के आगे रोया और धनुष यज्ञ में असामियों को शगुन डालने के लिए तैयार करने की बात चलाई। होरी जब घर को वापस चला तो उसके सिर पर यही चिंता सवार थी कि शगुन के रुपये कहाँ से आयेंगे ?

3. होरी घर पहुँचा तो गोबर ने भी अपने पिता की खुशामदी मनोवृत्ति पर असन्तोष प्रकट किया। इतने में भोला कुछ भूसा लेने के लिए आ जाता है। भोला के पास अपने पशुओं के लिए चारा नहीं रहा था। होरी ने उसे संकट में देखकर अपना थोड़ा बचा भूसा देने की हाँ कर दी थी। दोनों बाप-बेटा भूसे के खाँचे सिर पर रखकर भोला

के साथ उसके घर पहुँचाने चले जाते हैं। वहाँ भोला की जवान विधवा लड़क झुनिया का गोबर से साक्षात्कार होता है, हँसी-ठठोली में दोनों के हृदय निकट आने लगते हैं।

4. अगले दिन सुबह-सुबह गोबर भोला के घर से गाय लाने के लिए चल देता है। इधर होरी, धनिया और उनकी दोनों पुत्रियाँ उत्सुकता और हर्ष के साथ गाय के आने की प्रतीक्षा करती हैं। इसी बीच दमड़ी बनसोर होरी के कोठे से बाँस काटने के लिए आ जाता है। होरी अपने दो भाइयों के साझे के बाँसों में मामूली बेईमानी करना चाहता है। होरी के भाई हीरा की बहू पुनिया कम दामों पर बाँस काटने देना नहीं चाहती। वह दमड़ी बनसोर से उलझ पड़ती है। हीरा सुनते ही खेत से भागकर पहुँचता है, और पुन्नी को पीटता है। उसे आदमियों की बात में बोलने का क्या अधिकार है? दमड़ी बनसोर होरी को भी धत्ता बताकर और बेईमानी के फालतू दाम न देकर चला जाता है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद गोबर साँझ को गाय लेकर आता है। होरी के घर में चहल-पहल हो उठती है। धनिया गाय को अन्दर आँगन में बाँधती है। होरी बाहर बाँधना चाहता है—सब देखें होरी महतो के घर कैसी बढ़िया गाय बँधी है! पर धनिया को नजर लगने का डर है। वह होरी की एक चलने नहीं देती। सारा गाँव गाय देखने आया पर जलन के मारे होरी के दोनों भाई हीरा और शोभा नहीं आए। आखिर पहर गए रात को होरी स्वयं हीरा को बुलाने उसके द्वार पर गया। उसने बाहर से ही अपनी चर्चा सुनी। हीरा कह रहा था—'भाइयों के रुपये मारकर कोई फल-फूल नहीं सकता। जब इकट्ठे थे तो एक बकरी भी नहीं आई। अब बढ़िया गाय मोल ले आए। भाइयों का रुपया छिपा रखा है!' होरी सन्नाटे में आ गया। वह दबे पाँव वापस लौट आता है। वह धनिया से बात करता है। धनिया एकदम आग-बबूला होकर हीरा से झगड़ने लगी। दोनों में खूब 'तू-तू मैं-मैं' हुई। सारा गाँव इकट्ठा हो गया। होरी किसी तरह धनिया को वापस घर लाया।

5. उधर गोबर जब भोला अहीर के घर गाय लेने पहुँचा था, तो सारा दिन उसकी झुनिया से बातें हुईं। झुनिया गाय छोड़ने के बहाने उसके साथ सारे रास्ते आई थी। दोनों मन-प्राण से एक-दूसरे के हो गए। झुनिया ने अपने पूर्वजीवन की बहुत सी बातें गोबर को सुनाईं।

6. सेमरी में रायसाहब ने धनुष-यज्ञ का आयोजन किया। लखनऊ से उनके मित्र बन्धु मेहमान बनकर आए। डॉ० मेहता, पत्रकार ओंकारनाथ, मिर्जा खुर्शेद, मिस मालती, मिल-मालिक खन्ना आदि सबकी रायसाहब ने खूब आवभगत की। खूब गुल-गपाड़ा मचा; पार्टी हुई और नाटक देखा गया। मिस मालती ने पत्रकार ओंकारनाथ का उल्लू बनाया।

7. अगले दिन शिकार का प्रोग्राम बना। रायसाहब-खन्ना, मेहता-मालती, खुर्शेद तन्खा अलग-अलग जोड़ी बनाकर शिकार करने निकले। मालती प्रोफेसर मेहता पर रीझी हुई थी। दोनों अविवाहित भी थे। पर मेहता को मालती का तितली-रूप पसन्द न था। वह तो गुणों के ग्राहक थे। मेहता शिकार ढूँढ़ते दूर निकल गए। मालती

भी झल्लाती हुई साथ गई। वह बातें करना चाहती थी, मेहता शिकार में मग्न थे। एक दरिद्र वन्य युवती ने बड़े स्नेह से उन्हें जल-पान कराया। मेहता उसके निश्छल स्नेह से मुग्ध हो गए। पर मालती ईर्ष्या से जल उठी। दूसरी टोली रायसाहब और पूँजीपति खन्ना की थी। दोनों में बिजनेस की बातें हुईं। शिकार का सच्चा आनन्द मिर्जा खुर्शेद ने उठाया। वह मस्त जीव थे। तन्खा ने उनसे स्वार्थ की बातें करना चाहीं। पर फक्कड़ मिर्जा ने तन्खा को खूब उल्लू बनाया। वह एक गाँव में दोपहर बिताकर ग्रामीणों के साथ मस्त रहा।

8. होरी के घर गाय आने से घर की शोभा ही और हो गई। पर केवल गाय बाँधने से क्या होता है! घर में फूटी कौड़ी नहीं, अनाज-चारा भी नहीं रहा। उधर राय साहब के हुक्म से उनके कारिन्दे नोखेराम ने लगान की कड़ी माँग कर दी। बेचारे किसानों ने महाजनों की शरण ली। किसी ने आने रुपये पर कर्ज लिया किसी ने दो आने रुपये ब्याज पर लिया। होरी को मँगरू और दुलारी सहुआइन का पहले ही देना था। अब वह शहर के साहुकार के एजेण्ट झिंगुरीसिंह के पास गया। झिंगुरीसिंह की आँखें होरी की गाय पर गड़ी थीं। झिंगुरी ने होरी को समझाया कि ब्याज पर रुपये लेने में बहुत हानि होगी, अपनी गाय मुझे दे दो। होरी को रुपयों की सख्त जरूरत थी, क्योंकि असाढ़ का पहला बादल बरस चुका था और नोखेराम बिना लगान अदा किए खेतों में फसल बोने नहीं देता था। पर इतनी लालसा से प्राप्त की गई, ऐसी सुन्दर गाय, जिस पर घर के प्राणी जान देते थे, कैसे झिंगुरीसिंह को दे दी जाय! आखिर विवश-भाव से वह मान जाता है और धनिया को भी राजी कर लेता है। पर उसी रात द्वेष से जला हीरा गाय को माहुर खिला देता है। बेचारी गाय तड़प कर प्राण त्याग देती है। होरी के घर में कोहराम मच जाता है। होरी ने हीरा को गाय के पास चुपके खड़े देख लिया था। वह भाई का नाम लेना न चाहता था। पर पेट में बात कैसे पचे! उसने धनिया को कह ही तो दिया! फिर क्या था, धनिया ने शोर मचा दिया! सारे गाँव को पता चल गया कि हीरा ने गाय को जहर दे दिया।

9. बात थाने तक पहुँच गई। हीरा घर से भाग गया। दारोगा साहब आये। उन्होंने आते ही कहा, मैं हीरा के घर की तलाशी लूँगा। होरी को अपनी मर्यादा का विचार हुआ। हीरा के घर तलाशी हुई या होरी के घर हुई, बात एक ही है। भाई तो उसी का है! दारोगा रिश्वत उड़ाने की फिक्र में था ही। पंचों ने मिलकर अपनी दलाली के लोभ से होरी को सुझाया कि दारोगा को कुछ देकर संकट टालो, नहीं तो तलाशी लिए बिना और खराब किये बिना न छोड़ेगा। होरी के पास फूटी कौड़ी भी न थी, देता कहाँ से! आखिर झिंगुरीसिंह होरी को तीस रुपये उधार देता है। होरी दारोगा को भेंट करने जाता है। धनिया को भनक पड़ गई। वह चोट खाई हुई सर्पिणी की तरह फुत्कार कर झपट पड़ी और होरी को डाँटा। रुपये की पोटली खींच ली। दारोगा और पंचों को भी फटकारा। सब सन्नाटे में आ गये। उसने साफ कह दिया, "मैं एक पाई भी नहीं दूंगी। जिसके रुपये हों, उठाकर ले जाय। मैं सब समझती हूँ, सबका हलवा-माँदा

बनना था। यह खरी, एक तो गाय गई, ऊपर से यह पलेथन। लगान चुकाने के लिए किसी ने एक पैसा भी उधार न दिया, अब चट से निकाल कर दे दिए।" दारोगा का मुंह जरा-सा रह गया। पंच उसे अलग ले गये। अब वह पंचों के सिर चढ़ गया और अपना पुजापा उनसे लेकर ही गया।

10. धनिया की दिलेरी का चर्चा कई दिन तक चली। होरी को धनिया का यह व्यवहार अच्छा न लगा। उस दिन से पति-पत्नी में मन-मुटाव हो गया। इसी बीच होरी को ज्वर आने लगा। धनिया ने पति की सेवा की। सारा मानरोष जाता रहा। हीरा का कहीं पता न चला। अब होरी हीरा की गृहस्थी का भी ध्यान रखने लगा। उसकी खेती का भी सारा काम करने लगा। एक रात वह खेत में सर्दी से ठिठुरा पड़ा था कि सहसा धनिया दौड़ी-दौड़ी उसके पास पहुँची और बताया कि झुनिया को गोबर हमारे द्वारे छोड़ गया है। गोबर से उसके चार-पाँच महीने का पेट है। अब क्या करें, गोबर ने और कालिख लगा दी। इस राँड को घर में कैसे रखें? होरी भी उत्तेजित होकर उसे धक्का देकर घर से बाहर करने की ठान लेता है। पर घर पर पहुँचकर धनिया का वात्सल्य जाग्रत हो जाता है और वह होरी को मना कर देती है—"तुम्हें मेरी सौगन्ध जो उससे कुछ कहो। बेचारी आफत की मारी इस अंधेरी रात में कहाँ जायगी? जो होना था, वह तो हो चुका।" आखिर उसी के पुत्र का अंश तो वह लिये हुए है! होरी-धनिया दोनों स्नेहपूर्वक झुनिया को रख लेते हैं।

11. गाँव में इस काण्ड से हलचल मच गई। होरी का बेटा एक विधवा अहीर-कन्या को भगा लाया। और होरी-धनिया ने उसे घर में रख लिया! उधर गोबर शरम के मारे कहीं चला गया। झुनिया के दोनों भाई लठ्ठ लिए गोबर को ढूंढ़ते-फिरते थे। गाँव वालों ने होरी को जाति-बाहर कर दिया। दातादीन गाँव के नारद थे। उन्होंने कहा जाति की नाक कट गई, अब तो प्रायश्चित्त से ही उद्धार हो सकता है। दातादीन, झिंगुरी, नोखेराम आदि शोषक पंचों ने होरी पर सौ रुपये और तीस मन अनाज का डाँड लगा दिया। बेचारे की कमर ही टूट गई। धनिया पंचों को कोसती ही रह गई। ये कहाँ के धर्मात्मा बने फिरते हैं? एक-से-एक छटा हुआ है। पटेश्वरी अपनी कहारिन को दर-पर्दा रखे हुए है, दातादीन ने अपनी जवानी में ऊधम मचाया था: अब उसका बेटा मातादीन सिलिया चमारिन को फँसाये है, झिंगुरी की एक ब्राह्मणी से आशनाई है। पर इन पैसे वालों को कोई नहीं पूछता। होरी ने घर का सारा अनाज ढो कर पंचों को दे दिया। सौ रुपये के बदले अपना मकान रहन रख दिया। अब बिरादरी में उसका हुक्का पानी खुल गया। झुनिया ने तीन-चार महीने बाद पुत्र को जन्म दिया। धनिया ने पौत्र-जन्म की बधाइयाँ गाईं।

12. गोबर झुनिया को घर छोड़कर और यह देखकर कि माँ-बाप ने उसे रख लिया, इधर से निश्चिन्त हो शहर लखनऊ की ओर चला। उसने मन में संकल्प किया कि वह शहर में नौकरी या मजूरी करके खूब कमायेगा, खूब बचायेगा, और फिर कुछ कमा कर ही घर जायगा। रास्ते में एक गाँव के पास उसने एक ग्रामीण युवक को अपनी

पत्नी से झगड़ते देखा। युवक का नाम था कोदई। गोबर ने बीच-बचाव करना चाहा। पहले तो वे दोनों गोबर पर बिगड़ गये। पर बाद में गोबर की बात से प्रभावित होकर दोनों ने गोबर को ठहरने का निमन्त्रण दिया। घर में सास-बहू का झगड़ा रहता था। गोबर ने कोदई की माता को भी समझाया।

13. रात को वहाँ ठहरकर अगले दिन प्रातः ही गोबर शहर को चल दिया। वहाँ जाकर उसने देखा, मजदूरी चाहने वाले बेकार आदमी सैकड़ों की संख्या में जमा थे। वह भी उनमें शामिल हो गया। बड़ी देर तक काम मिलने की प्रतीक्षा में खड़ा रहने के बाद एक सज्जन उन्हें छः आने की मजदूरी पर ले गये। ये हजरत मिर्जा खुर्शेद थे, जिन्हें कोई-न-कोई इल्लत सूझती रहती थी। अमीरों से हथिया कर गरीबों को देने का कोई न कोई प्रोग्राम रखते रहते थे। उन मजदूरों को वह अपने अहाते में ले गये और प्रौढ़ कबड्डी का तमाशा रच डाला, जिसका विज्ञापन उन्होंने पहले ही करा रखा था। शहर के लोग टिकिट ले-लेकर तमाशा देखने के लिए दाखिल होने लगे। मजूरों की दो टोलियाँ बनाकर मिर्जा खुर्शेद ने खेल खिलाया। प्रोफेसर मेहता, मिस मालती, खन्ना आदि भी आए हुए थे। खुर्शेद ने मेहता को भी खींच लिया और उन दोनों की जोट बन गई। खेल खत्म होने पर सब चले गये। गोबर को मिर्जा खुर्शेद ने वहीं नौकर रख लिया: रहने को कोठरी भी दे दी।

14. होरी की सारी फसल डाँड में चली गई थी। अब दाने-दाने की साँसत पड़ गई। कई दिन चूल्हा न चढ़ा। आखिर पुनिया ने दो मन जौ देकर सहायता की। उसके जेठ (होरी) ने ही तो मेहनत करके उसकी फसल बनाई थी। बरखा न होने से ऊख खराब हो गई। गाय तो मर ही गई थी, पर भोला का अस्सी रुपया देना सिर पर था। जब साल तक रुपये न दिये गए तो भोला द्वार पर आकर खड़ा हो गया। झुनिया को रख लेने से वह होरी पर कुढ़ा हुआ भी था। होरी ने बहुत कहा, थोड़ा और ठहर जाओ। पर भोला न माना। कहने लगा, या तो झुनिया को घर से निकाल बाहर करो, या मेरे रुपये दो, नहीं तो मैं तुम्हारी बैलों की जोड़ी लिये जाता हूँ। और सचमुच ही वह बैलों को ले जाता है।

15. मालती बाहर से तितली है, अन्दर से मधुमक्खी। उसके पिता कोई काम-धन्धा नहीं करते। घर का बोझ मालती के ही सर पर है। उसकी दो छोटी बहनें और हैं। सरोज बी० ए० में पढ़ती है। नए विचारों की स्वच्छन्द लड़की है। उसके कॉलेज में डॉ० मेहता ने भाषण दिया। उसे जरा भी पसन्द नहीं आया। मालती ने वीमेन्स लीग में डॉ० मेहता के भाषण का आयोजन रखा। मेहता ने भारतीय नारी की स्वछन्द-प्रियता और फैशन-विलास-प्रियता का विरोध करते हुए सेवा, त्याग और कर्त्तव्य को ही नारी के आभूषण बताया। मातृत्व ही नारी की पूर्णता है। घर ही उसका कर्त्तव्य क्षेत्र है। मेहता के भाषण से मालती विशेष प्रभावित हुई।

16. रायसाहब को जब पता चला कि गाँव के पंचों ने उसके एक असामी से डांड वसूल किया है, उससे पूछा तक नहीं, तो अपने कारिन्दे नोखेराम पर बहुत क्रुद्ध हुए और

कहा कि डाँड के रुपये यदि दो-तीन दिन तक मेरे पास न आए तो सब पंचों को जेल भिजवा दूँगा। नोखेराम आदि सटपटा गए। पटेश्वरी और नोखेराम ने एक गुमनाम पत्र 'बिजली' सम्पादक ओंकारनाथ के पास भेज दिया कि किस तरह रायसाहब अपने असामियों से जुरमाना वसूल करते हैं। सम्पादक ओंकारनाथ तो ऐसे पत्रों की ताक में ही रहते थे। उन्होंने रायसाहब को पत्र लिखकर पूछा कि वह इस मामले में क्या कहना चाहते हैं? यदि उनका जवाब न आया तो 'विजली' सचाई को छापने पर विवश होगा। रायसाहब के पिस्सू पड़ गए। बदनामी का डर था। दौड़े-दौड़े आए और ओंकारनाथ को सौ ग्राहकों के चन्दे का लोभ देकर खबर न छापने के लिए राजी किया।

17. किसान के बैलों का चले जाना, उसके हाथ कटना ही है। बैलों के बिना होरी खेती कैसे करे? उसके खेत परती पड़ गए। अन्न का एक दाना भी घर में नहीं। भूख के मारे बच्चे बिलख-बिलख कर रोते। आखिर पं० मातादीन ने अपने बैलों से बोआई कराई और होरी को आधा साझा देना पड़ा। खेती में साझा होने से लम्पट मातादीन किसी-न-किसी बहाने झुनिया से बात करने होरी के घर आता। शहर में खन्ना का शक्कर मिल खुल जाने से अब किसानों की खड़ी ऊख ही बिक जाती थी। सबने ऊख बेच दी और मिल में ले गए। महाजन इस दिन की ताक में थे ही। वहीं जा पहुँचे। ज्यों ही ऊख तुली, पैसे मिले, त्यों ही महाजनों ने किसानों को घेर लिया। झिंगुरीसिंह ने तो मिल के मुनीम से मिल कर ही अपने रुपये काटकर दिलवाये। होरी की ऊख के सब रुपये झिंगुरी और नोखेराम ने ही उड़ा लिए। एक कौड़ी भी पल्ले न पड़ी। धनिया झल्लाती रह गई। गोई के लिए भी रुपये न रखे जा सके। वह घर में आशा लगाए बैठे बच्चों के लिए भी एक पैसे की चीज न ला सका।

18. खन्ना और उसकी पत्नी गोविन्दी में नहीं पटती। खन्ना अभिमानी लम्पट और विलासी है। गोविन्दी सती-साध्वी, सीधी-सरल नारी है। खन्ना मालती पर लट्टू है, गोविन्दी को यह कैसे भाये? पति-पत्नी में रोज तकरार रहती थी। एक दिन बात बढ़ गई। गोविन्दी ने दुखी होकर घर से चले जाने का निश्चय किया। जिस घर में उसका इतना निरादर है, वहाँ कैसे रहे? वहाँ ताँगा लेकर पार्क में चली जाती है। वहाँ अचानक डॉ० मेहता मिल जाते हैं। मेहता गोविन्दी को आदर्श नारी मानते हैं। वह गोविन्दी को सांत्वना देते हैं और वापस घर छोड़ जाते हैं। अपने मातृत्व का मोह त्यागना गोविन्दी के लिए भी कठिन ही था।

19. मिर्जा खुर्शेद के अहाते में रहते हुए गोबर को साल-भर हो गया था। इस बीच उसने अच्छी-खासी कमाई कर ली थी। नौकरी छोड़कर खोंचा लगाने लगा था और अब चाय की अच्छी दूकान चलाने लगा था। अब वह छोटा-मोटा महाजन बन गया था, जो पास के ताँगे-रेहड़ी वालों को ब्याज पर रुपये उधार देता था। अब उसने अपने गाँव जाने और झुनिया को लाने का निश्चय किया। सबके लिए काफी वस्तुएँ खरीदीं और सैकड़ों रुपये नगद लेकर वह गाँव चला।

20. होरी अब दातादीन का मजूर बन गया। उसका सारा परिवार दातादीन

के खेतों में काम करने लगा। दातादीन बहुत कड़ाई से काम लेता है। वह होरी को हल्का हाथ चलाने के लिये डाँटता है। होरी उसकी डाँट से दुखी होकर बेतहाशा हाथ चलाने लगता। उसके भूखे पेट की सूखी आँखों में अँधेरा छा जाता है। गंडासा हाथ से छूट जाता है और वह अचेत हो भूमि पर गिर पड़ता है। धनिया रोने लगती है। दूध पिलाने और हवा करने से थोड़ी देर में जब होरी को होश आया तो धनिया की जान में जान आई।

इसी समय गोबर घर पहुँचा। घर में उछाह छा गया। धनिया ने पुत्र की बलाइयाँ लीं। गोबर ने माता-पिता के चरण छुए। झुनिया ने अपना शोख मान दिखाया। उलाहने दिये। घर की दशा बताई। डाँड की बात सुनकर गोबर का रक्त खौल उठा। भोला गोईं ले गए, इसका भी गोबर को बहुत दुख हुआ। नहा-धोकर और शहरी ठाठ रचाकर गोबर गाँव की दिग्विजय करने निकला। उसके रंग-ढंग से सभी प्रभावित हुए। गाँव के युवक आदर से उसके साथ लग गए। गोबर ने झिंगुरी, नोखेराम, दातादीन आदि सबको फटकारा। सबके आगे अपनी हेकड़ी जताई। दोपहर बाद गोबर भोला के गाँव पहुँचा। वहाँ भी उसने खूब शान जमाई। भोला के लड़के जंगी को नौकरी दिलाने का झाँसा दिया और भोला को भी शहर चलने का निमंत्रण दिया। भोला उसके रौब में आ गया और गोईं गोबर के हवाले कर दी।

21. होली के दिन गोबर के घर अच्छा जमाव रहा। रात को सताये हुए दिलों ने अपनी भड़ास खूब निकाली। दातादीन, झिंगुरी, नोखेराम, पटेश्वरी आदि सभी महाजनों और शोषकों की खूब भद्द उड़ाई गई, सबकी नकलें की गईं और खूब भिगो-भिगोकर लगाये। गाँव के सभी स्तम्भ होरी-गोबर से और भी चिढ़ गए। नोखेराम ने होरी को बुलाया और लगान अदा करने का हुक्म दिया। होरी ने पाई-पाई लगान चुका दिया था। पर नोखेराम ने रसीद न थी। अब नोखेराम बेईमानी से दोबारा लगान वसूल करना चाहता था। गोबर को पता चला तो वह रोष से भरकर नोखेराम के पास पहुँचा और सबके सामने वह सुनाई कि बच्चा सटपटा गए! अपना रौब जमाता हुआ गोबर गर्व से पिता पर क्रुद्ध हो गया, "तुम्हीं ने सबको चढ़ा रखा है। मैं कहाँ-कहाँ तक भुगतूँ, मेरे भी घर बच्चे हैं।" वह झुनिया को साथ लेकर वापिस जाने को तैयार हो गया। उसने दातादीन को एक रुपये सैकड़े के हिसाब से ब्याज लगाकर रुपये अदा करने चाहे, ब्राह्मण ने धर्म की दुहाई दे दी। होरी का धर्म-भीरु मन काँप उठा। उसने गोबर से कहा कि हमें नीति नहीं छोड़नी चाहिए। गोबर और भी चिढ़ गया। ऐसे धर्मात्मा बने हो तो स्वयं भुगतो! माँ-बेटे और सास-बहू में खूब गरमा-गर्मी हो गई। ताने-मेहने, गाली-गलौच और लड़-झगड़ के संग्राम के उपरान्त गोबर झुनिया और बच्चे को लेकर चला गया। धनिया का मातृत्व रोता रह गया।

22. रायसाहब अमरपालसिंह को तन्खा ने यह झाँसा देकर राजा सूर्यप्रतापसिंह के खिलाफ इलेक्शन लड़ने के लिए खड़ा कर दिया कि राजा साहब से दस-बीस हजार रुपया झाड़कर बैठ जाने की बात करा दी जायगी। पर तन्खा को इस मामले में कुछ

हाथ-पल्ले लगता नजर नहीं आया, तो वह राजा साहब की ओर हो गया। रायसाहब फंस गये। न तो पैसा ही मिलने की आशा रही और न इलेक्शन लड़ने के लिए पैसे का डौल था। बदनामी के डर से वह अब जी-जान से इलेक्शन लड़ना चाहते थे। उधर अपनी कन्या के लिए उन्हें एक 'योग्य और उचित' वर मिल गया। इलेक्शन और कन्या की शादी दोनों समारोहों के लिए उन्होंने खन्ना के बैंक से अपनी जायदाद लिखकर रुपया कर्ज लेने के लिए खन्ना के आगे नाक-सिर रगड़े। इसी बीच वहाँ डॉ० मेहता महिलाओं के लिए एक व्यायामशाला बनाने का प्रस्ताव और उसके लिए चन्दे की माँग लेकर आ उपस्थित हुए। रायसाहब ने राजासाहब से अधिक चन्दा दिया।

23. गोबर-झुनिया के जाने के बाद होरी का घर सूना हो गया। बेचारा होरी खूब परिश्रम करने लगा। एक दिन मातादीन के खेत में सिलिया अनाज उठा रही थी। उसे दुलारी सहुआइन के दो पैसे देने थे। उसने उसके बदले मुट्ठी भर अनाज खलिहान से उठाकर दुलारी को दे दिया। मातादीन ने झपटकर अनाज उलटा गिरा लिया और सिलिया को डाँटने लगा, तुझे क्या अधिकार है मेरा अनाज देने का? सिलिया बेचारी सन्नाटे में आ गई! कहाँ तो यह उसके पीछे चक्कर काटता फिरता था और वचन देता था कि सदा तुम्हें दिल की रानी बनाकर रखूंगा, कहाँ अब यह व्यवहार! इसी समय सिलिया के माँ-बाप, भाई और बिरादरी के लोग वहाँ आ पहुँचे। सिलिया के बाप हरखू ने साफ-साफ कहा कि पण्डित, हमारी बेटी की इज्जत ली है तो हम यों ही नहीं छोड़ेंगे। या तो हमें बाह्मन बनाओ, नहीं तो हमारे साथ रहो, खाओ, बैठो, चमार बनो। दातादीन और मातादीन के अकड़ने पर वे सब मातादीन को पकड़ लेते हैं और एक हड्डी का टुकड़ा उसके मुँह में छुआ देते हैं। बस ब्राह्मण का धर्म भ्रष्ट हो गया! वे जाते हुए सिलिया को भी खूब पीटते हैं। वह भी मार खाती है, पर उनके साथ नहीं जाती। जिसने एक बार बाँह पकड़ी है, उसे छोड़कर कहाँ जाये। मातादीन साफ कह देता है, अब सिलिया से मेरा कोई वास्ता नहीं। बेचारी निराश्रित हो जाती है। होरी-धनिया उसे अपने पास आश्रय देते हैं।

24. होरी को सोना के विवाह की चिन्ता सताने लगी। सौभाग्य से एक अच्छा वर मिल गया। पर दान-दहेज कहाँ से दें। आखिर होरी ने खुशामद-मिन्नत करके दुलारी से सौ रुपये उधार देने की हामी भरा ली। सोना को जब पता चला तो वह बहुत दुखी हुई। उसने सिलिया को मथुरा के पास भेजा और कहलाया कि सोना को चाहते हो तो सोना-चाँदी, दान-दहेज से इन्कार करना होगा। मथुरा ने बड़ी मुश्किल से अपने बाप को राजी करके होरी के पास खत भेजा कि हम दहेज न लेंगे, तुम उसका फिकर न करना। धनिया को वर-पक्ष की भलामनसाहत ने और भी प्रभावित किया। वे कुछ नहीं लेते, तो क्या कन्या को यों ही भेज दिया जायगा? अपनी मरजाद तो निभानी ही पड़ती है।

25. भोला दूसरी सगाई ले आये। एक जवान विधवा मिल गई—नोहरी। अब बेटे-बहुओं से उसका झगड़ा रहने लगा। बेटों ने भोला को मार-पीट कर निकाल दिया।

भोला रोता हुआ नोखेराम के पास गया। नोखेराम ने उसकी सुन्दर जवान मेहरिया देखकर अपने पास शरण दे दी। नोहरी नोखेराम की रखैल बन गई। भोला नौकरों की तरह रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसके बेटे उसे मनाकर घर ले जाने आए। वह जाने को तैयार था, पर नौहरी न मानी। नोहरी के बारे में कनबतियाँ होने लगीं। वह जिधर जाती, लोगों की चर्चा का विषय बनती। एक दिन पटवारी पटेश्वरी ने उससे ठिठोली करना चाही। नोहरी ने नोखेराम से कह दिया। नोखेराम ने पटवारी को ऐसा लताड़ा कि बेदम हो गया।

26. पटेश्वरी ने शह देकर मंगरूशाह से होरी पर रुपयों के लिए दावा कर दिया ; डिगरी ले ली और होरी की खड़ी ऊख नीलाम हो गई। ऊख तो गई ही पर एक और समस्या आ गई। दुलारी ने इसी ऊख पर दो सौ रुपये की हामी भरी थी। अब वह इन्कार कर गई। कन्या का विवाह कैसे हो ? इसी बीच नोहरी होरी के घर आई और सहानुभूति जताती हुई रुपये देने को हामी भर गई।

27. शहर आने पर गोबर की हालत बिगड़ गई। न वह चाय की दूकान रही, न खोंचा लगाने की जगह। उसने खन्ना के मिल में नौकरी कर ली। गोबर जवानी के नशे में मस्त था। झुनिया की वह परवाह नहीं करता था। उसका बच्चा चुन्नू चल बसा। उसे कुछ गम न था। झुनिया के पेट में बालक था। गोबर उसे वक्त-बेवक्त तंग करता था। वह प्रसव-वेदना से बेचैन थी, गोबर को कुछ ख्याल ही न था। पड़ौस की एक भली औरत चुहिया ने झुनिया को बचाया। बिना दाई के ही बच्चा हुआ। गोबर के मिल में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। दंगा हुआ। गोबर का सिर फट गया, एक हाथ की हड्डी टूट गई। उसकी लोथ घर आई तो झुनिया ने सर पीट लिया। झुनिया ने गोबर की खूब सेवा की। वह स्वयं मजूरी करके, घास काट-बेचकर पैसे कमाती और पति का उपचार करती। गोबर अच्छा हो गया तो उसे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। वह झुनिया से क्षमा माँगने लगा।

28. मि० खन्ना को मजदूरों की यह हड़ताल बिल्कुल बेजा मालूम हुई। मेहता और गोविन्दी ने खन्ना को समझाया भी कि मजदूरों का पेट काटना अच्छा नहीं। एक दिन डा० मेहता और मिस मालती खन्ना के घर बैठे थे। दूर से मिल की चिमनी से भारी धुआँ निकलता दिखाई दिया। खन्ना के मिल में आग लग गई थी। तीनों मिल में पहुँचे। सब-कुछ स्वाहा हो चुका था। खन्ना अचेत हो गए। एक दिन पहले वह दस लाख के आदमी थे, अब एक कौड़ी भी न रही। गोविन्दी और मेहता ने उन्हें किसी तरह सांत्वना दी। खन्ना की भी अब मानवता जाग उठी। उन्होंने अनुभव किया कि धन के नशे में ही वह गोविन्दी पर अत्याचार करते थे।

29. नोहरी की कुचाल से बदनाम भोला ने नोखेराम के यहाँ से जाने का निश्चय किया। वह अपने कपड़े सहेजने लगा तो नोहरी ने जूतों की मार से उसकी चाँद गन्जी कर दी। एक यह नोहरी है और यह एक चमारिन है सिलिया, जो मातादीन के ही नाम पर जीती है, भूखी रहती है, मजूरी करती है। पर एक बार जिसने बाँह पकड़ ली, फिर

दूसरा ठौर कैसा ? मातादीन को काशी के ब्राह्मणों को हजारों रुपये का भोज देना पड़ा, प्रायश्चित करना पड़ा : शुद्ध गाय का गोबर और मूत्र खाना-पीना पड़ा। साथ ही वह महीना-भर बीमार रहा। अब धर्म के ढकोसले से उसे घृणा हो गई थी। संकट में उसकी मानवता जाग गई थी। अब वह सिलिया के प्रति अपने अत्याचार से दुखी था। एक दिन वह सिलिया को देने के लिए होरी को दो रुपये दे गया। जब संध्या को होरी ने सिलिया को रुपये दिये तो वह जैसे अपनी तपस्या का वरदान पा गयी ! बहुत प्रसन्न हुई। वह दौड़ी-दौड़ी अँधेरे में ही सोना को खुश-खबरी सुनाने नदी पार करके गई। वहाँ सोना के घर अँधेरे में मथुरा ने धृष्टता करनी चाही। सोना ने दोनों को एकान्त में देख लिया। उसने सिलिया को बहुत फटकारा। कहाँ तो बेचारी खुशखबरी सुनाने गई थी, कहाँ यह लताड़ पड़ी। मन मारे वापिस लौट आई।

30. मेहता के आदर्श से प्रभावित होकर मालती ने अपना रंग-ढंग बिलकुल बदल लिया। अब वह सेवा और त्याग की मूर्ति बन गई थी। खन्ना और गोविन्दी के बीच से भी वह हट गई। अब कई महीनों से मेहता और मालती दोनों कभी-कभी देहातों में चले जाते थे और किसानों के दुख में शामिल होते, उनसे सहानुभूति दिखाते थे। एक दिन दोनों होरी के गाँव निकल गए। वहाँ मालती ने गाँव की स्त्रियों को रहन-सहन-सफाई की बहुत-सी बातें सिखाईं, बच्चों का इलाज किया। फिर दोनों नदी पर चले गए। प्रकृति के सुन्दर वातावरण में मेहता चहक उठे। अभी तो मेहता मालती को परीक्षक की दृष्टि से देखते हैं। मालती मेहता के इस भाव से अब रुष्ट हो जाती है। वह अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लेती है और शीघ्र लौट आती है।

31. रायसाहब का सितारा बुलन्द था। उन्होंने इलेक्शन भी जीत लिया, होम मेम्बर भी बन गए ; कन्या का विवाह भी धूम-धाम से किया और लाखों रुपयों की ससुराल की जायदाद भी मुकदमा जीतकर प्राप्त कर ली। राजा सूर्य प्रतापसिंह ने उनके अतिशय प्रभाव को देखकर उनके बड़े लड़के रुद्रपाल सिंह से अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव कर दिया। रायसाहब की इससे बढ़कर और क्या विजय हो सकती थी ! किन्तु रुद्रपाल ने पिता की बात मानने से जवाब दे दिया उसका स्वच्छन्द प्रेम मालती की बहन सरोज से था। रायसाहब को पुत्र के इस व्यवहार से बहुत धक्का लगा। जिस बेटे के लिए ही वे इतना कुछ कर रहे थे, वह उनकी बात नहीं मानता ! रायसाहब की जान को एक और आफत आ गई। उनकी लड़की मीनाक्षी का अपने पति दिग्विजयसिंह से शादी के कुछ दिनों बाद ही सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। दिग्विजयसिंह विलासी और लम्पट था। मीनाक्षी को उसकी लम्पटता बिल्कुल न भाई। दोनों में अर्जी-परचा हो जाता है। एक दिन मीनाक्षी ने रणचण्डी बनकर दिग्विजयसिंह को हंटरों से पीटा। दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे बन गए।

32. मिर्जा खुर्शेद ने मजदूरों की हड़ताल में भाग लेने के बाद वेश्याओं के उद्धार का बीड़ा उठाया। वह वेश्याओं की एक नाटक-मण्डली बनाना चाहते थे ताकि वेश्याओं के रोजगार का जरिया बदल दिया जाए। मि० मेहता ने उनकी इस योजना को हँसी में

उड़ाते हुए कहा कि पत्तियाँ तोड़ने से कुछ न होगा। जड़ को पकड़ो। सारी समाज-व्यवस्था बदलने की जरूरत है। जब तक दौलत वाले रहेंगे, वेश्याएँ भी रहेंगी।

33. डा० मेहता अब परीक्षक से परीक्षार्थी हो गए थे। वह मालती के सेवा त्याग संयम और मातृत्वपूर्ण करुणा आदि उच्च गुणों पर रीझ उठे थे। पहले मालती उनके लिए प्यासी थी, अब वह मालती के लिए प्यासे थे। मालती ने उनकी लापरवाही की जिन्दगी को व्यवस्थित करने का काम अपने जिम्मे ले लिया। मेहता अब मालती के पास ही रहने लगे। गोबर ने अब मालती के यहाँ नौकरी कर ली थी। उसके जिम्मे बाग की देखभाल का काम था। मालती अब भुनिया के बच्चे को माता की तरह प्यार करती थी। एक बार बालक मंगल को तेज ज्वर आ गया। मालती ने बड़े स्नेह से उपचार किया। बच्चे को अपने कमरे में ही रखा। सारी रात वह स्वयं जागती और बच्चे की देखभाल करती। एक रात मेहता ने मालती की यह मातृ-मूर्ति देखी तो गद्‌गद् हो गए। वे भावावेश में मालती से कुछ याचना करने की अनुमति चाहने लगे। मालती का हृदय भी प्रेम ज्वर से तप्त था। किन्तु उसने संयत रहकर मेहता से कहा कि स्त्री-पुरुष बनकर रहने से मित्र बनकर रहना कहीं अच्छा है। संकुचित गृहस्थी के बन्धन में बंधकर अपनी आत्मा को संकीर्ण नहीं करना चाहिए। सेवा और प्रेम का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त है। मेहता मालती की बात शिरोधार्य करते हैं। दोनों प्रेमालिंगन में बद्ध हो जाते हैं।

34. सिलिया ने मातादीन के बच्चे को जन्म दिया। अब मातादीन बच्चे को देखने चुपके-चुपके रोज आता। लड़का ठीक उसी को पड़ा था। बड़ा चंचल नटखट! किन्तु विधि की विडम्बना, बालक दो साल का होकर मर गया। मातादीन को बहुत दुख हुआ। एक दिन मातादीन सिलिया से खुल पड़ा और अपना घर छोड़कर अपनी प्रेम की देवी के मन्दिर का पुजारी बन गया। वह सिलिया के साथ उसके झोंपड़े में रहने लगा। "वह बामन नहीं, चमार ही बनकर रहना चाहता है।"

35. होरी की दशा दिन-दिन बिगड़ती गई। न मकान रहा न खेती। बैल काम से जवाब दे गया था। सिर पर कर्जा बेहद हो गया था। सूद मूल से दस गुना बढ़ रहा था। जो तीन बीघा जमीन थी, अब उसके भी बचने का कोई डौल न था। लगान की न अदायगी के कारण उसके बेदखल होने में कोई देर न थी। वह मजूरी से थोड़ा-बहुत गुजारा कर रहा था। एक दिन दातादीन पण्डित ने सुझाया कि रामसेवक महतो से रूपा की शादी कर दो, खेत भी बच जाएंगे और कन्या के भार से भी मुक्त हो जाओगे। राम-सेवक पचास के आस-पास का था। यह प्रस्ताव एक तरह लड़की बेचने का ही था। विवश हो किसी तरह होरी-धनिया ने अपना मन समझाकर रामसेवक से कली-सी कन्या रूपा की शादी कर दी। गोबर भी ब्याह में आया। अब पिता-पुत्र और सास-बहू में मन-मुटाव समाप्त हो गया। जब होरी के हाथ पर दो सौ रुपये दातादीन पण्डित ने रखे तो वह आत्मग्लानि से गला जा रहा था।

36. तीसरे दिन जब गोबर शहर जाने लगा तो होरी ने रोते हुए अपना अपराध स्वीकार किया। गोबर ने सान्त्वना दी और कहा कि हमें रामसेवक महतो के दो सो

रुपये उधार समझकर लौटा देने होंगे। जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं उसके लिए मर-जाद और इज्जत सब ढोंग है। गोबर के जाने के बाद होरी ने संकल्प किया कि खूब मजूरी करेगा। और जल्द ही पैसे जोड़कर रामसेवक को अदा करेगा। गोबर का बच्चा मंगल दूध के लिए तरसता है। वह अपने पोते के लिए गाय भी लेगा। वह एक ठेकेदार की मजूरी करने लगता है। सड़क के लिए कंकड़ की खुदाई करता है। धनिया सुतली बाँटती है। हीरा सालों भटकता फिरा। गो-हत्या के पाप से उसकी आत्मा उसे धिकारती रही। पाँच साल पागलखाने में रहा, वहाँ से आकर होरी के पाँव पड़ गया। होरी ने भाई को गले लगा लिया।

एक दिन होरी खुदाई करने चला, तो देह भारी थी। उसने परवाह न की। दोपहर को मेहनत करते-करते वह निढाल हो गिर पड़ा। लू लग गई। और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। मन की साधें अधूरी ही रह गईं। धनिया ने सिर पीट लिया। लोगों ने गोदान कराने की आवाज़ लगाई। धनिया ने रोते हुए 20 आने—जो घर में सुतली बाँटकर उसने जोड़े थे—पं० दातादीन के हाथ पर रख दिए—यही इनका गोदान है। और वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

कथावस्तु-समीक्षा

प्रेमचन्द जीवन के कलाकार हैं। उन्होंने अपनी कथा-सामग्री अपने आस-पास के जीवन से ग्रहण की। यह सामग्री उनके निजी अनुभव—बहुधा आप-बीती, आँखों-देखी, विश्वस्त सूत्रों से सुनी या पढ़ी—पर आधारित होती है। यही कारण है कि इसमें स्वाभविकता, विश्वसनीयता और यथार्थता का गुण विद्यमान रहता है। उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन में घटना-वैचित्र्य-प्रधान उपन्यास और किस्से, जैसे तिलस्मेहोशरुबा, अलिफलैला, फसानाए-अजायब, चन्द्रकांता आदि पढ़े थे। पर फिर भी वे उस रास्ते पर नहीं चले। आरम्भ से ही उनकी दृष्टि मानव-जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न संवेदानाओं-समस्याओं पर जम चुकी थी। इसी से उन्होंने अपने उपन्यासों की कथा-सामग्री जीवन से ली। जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से सम्बन्धित होने के कारण प्रेमचन्द की कथा-वस्तु रोचकता का स्वाभाविक गुण रखती है। 'गोदान' में तो उनकी कथा-चयन प्रवृत्ति विशेष विकसित दिखाई देती है। कथाकार की सफलता का पहला रहस्य यही है कि उसे अपनी कथा-सामग्री जीवन के पहलुओं से ग्रहण करनी चाहिए। 'गोदान' में कृषक-जीवन की मार्मिक कहानी है, जिसकी सहज संवेद्यता में संदेह हो नहीं सकता। सारी कथा अधिकांशतः दो संवेदनाओं की मार्मिक अनुभूति जगाती है। एक करुणा और दूसरी शोषक तथा अन्यायी वर्ग के प्रति घृणा। जीवन के जितने प्रसंगों का चयन किया गया है, वे प्रायः सब मार्मिक हैं, रोचक हैं।

कथा-सामग्री-चयन के बाद कथा-वस्तु की उत्सुकतापूर्ण संगठित नियोजना का प्रश्न आता है। यद्यपि प्रेमचन्द ने कथा-नियोजन में विशेष प्रयोग नहीं किये हैं : उनका कथा कहने का ढंग सीधा-सरल और स्वाभाविक होता है; कथा को बीच से या अंत से

आरम्भ करना, प्रसंगों का विपर्यय, समय-विपर्यय, स्वप्न-शैली, डायरी-पत्र-शैली आदि कथा-प्रयोग उन्होंने नहीं किये; फिर भी उनकी कथा-नियोजना अत्यन्त उत्सुकता-वर्धक है। कई प्रसंगों को लेते चलते हैं। एक कथा-प्रसंग को एक या अधिक-से अधिक दो क्रमिक परिच्छेदों में एक ऐसे स्थल तक बढ़ाकर छोड़ते हैं जहाँ से आगे की बात जानने के लिए पाठक उत्सुक रहता है। अगले परिच्छेद में दूसरा प्रसंग उठा लेते हैं, और उसे भी पाठक की जिज्ञासा बढ़ाते हुए छोड़ देते हैं। अगले अनुच्छेद में तीसरा प्रसंग छेड़ देते हैं या पहले प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं और इस प्रकार सारी कथा को भिन्न-भिन्न प्रसंगों में बाँट कर उनकी क्रमिक उत्सुकतापूर्ण नियोजना करते हुए मार्मिक अन्त की ओर बढ़ते हैं। जैसे, पहले परिच्छेद में होरी की दरिद्रता, कृषक-जीवन की विषमता और भोला के साथ मनोरंजक वार्तालाप के प्रसंग में होरी की गाय प्राप्त करने की लालसा— 'कैसा शुभ होगा वह दिन, जब यह कामधेनु उसके द्वार पर बँधेगी'—और उसके सम्बन्ध में पाठक की उत्सुकता जगाकर परिच्छेद समाप्त किया गया है। अगले परिच्छेद में जमींदार रायसाहब और उसकी मनोवृत्ति का परिचय देकर—'शगुन के रुपये कहाँ से आयेंगे,' इस चिन्ता में होरी को और तद्विषयक उत्सुकता में पाठक को छोड़कर प्रसंग समाप्त किया गया है। तीसरे परिच्छेद में पहला प्रसंग आगे बढ़ाया गया है और गोबर-झुनिया के गुदगुदा देने वाले मधुर वार्तालाप के बाद होरी के मन में अपनी चिरसंचित अभिलाषा के पूरा होने के हर्ष तथा गोबर को 'बहुमूल्य वस्तु' मिलने की आशा और पाने की अभिलाषा से पाठक को उत्सुक कर के प्रसंग समाप्त कर दिया है। चौथे खण्ड में दमड़ी बनसोर, हीरा-पुनिया, हीरा-धनिया के रोचक झगड़े का प्रसंग तथा गाय के आगमन का रोचक प्रसंग है। पाँचवें में झुनिया-गोबर का मधुर मिलन, रोचक वार्तालाप और झुनिया द्वारा आप-बीते प्रसंगों का वर्णन है। हम इनके आगामी मिलन तथा तद्गत परिणाम के बारे में जिज्ञासु हो उठते हैं। छठे और सातवें में शहरी पात्रों—रायसाहब खन्ना-मालती-गोविन्दी, मेहता-मालती, खुर्शेद, ओंकारनाथ आदि के प्रसंग हैं। यद्यपि इन दो खण्डों में अनावश्यक विस्तार दोष की सीमा तक पहुँचा हुआ है, तथापि मालती की मेहता के प्रति अनुरक्ति और मेहता की उपेक्षा से हमारी उत्सुकता बढ़ती है। इनमें ग्रामीण और शहरी जीवन की विषमता तथा खन्ना-तन्खा आदि की मनोवृत्तियों का परिचय मिलता है और ग्रामीण युवती का प्रसंग तथा खुर्शेद के शिकार-अभियान के वर्णन की रोचकता भी असन्दिग्ध है। आठवें में गाय के मरने की दारुण कथा है और धनिया की उग्रता से आगे की जिज्ञासा और उत्सुकता बढ़ती है। नवमें में दारोगा के आगमन और धनिया की लताड़ का रोचक प्रसंग है। हीरा कहाँ गया? होरी-धनिया पर क्या बीतेगी? इस सम्बन्ध में हमारी उत्सुकता जगी रहती है। इस प्रकार सारे उपन्यास में भिन्न-भिन्न प्रसंगों की रोचक उद्भावना और पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा-वृद्धि का पूरा सफल प्रयत्न प्रेमचन्द की कथा-योजना की अद्भुत विशेषता है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं से सम्बन्धित अनेक रोचक प्रसंगों और घटनाओं की कल्पना, जैसे दमड़ी बनसोर, दारोगा, झुनिया-गोबर-मिलन तथा झुनिया द्वारा आप-बीती कथाएँ,

सिलिया-मातादीन, चमारों-द्वारा मातादीन को भ्रष्ट करना, गोबर और गाँव के युवकों द्वारा ग्राम-स्तम्भ बने शोषकों की भद्द और नकलें उड़ाना, सिलिया का सोना को खुश-खबरी देने जाना, नोहरी का प्रसंग, होरी का अचेत होना और अन्त में होरी की मृत्यु का दृश्य आदि सब आधिकारिक प्रसंग अत्यन्त रोचक हैं, तो वन्य युवती का प्रसंग, शिकार का विवरण, खुर्शेद की मस्ती, कबड्डी का आयोजन मजदूरों का संघर्ष, मिल में आग लगना, तन्खा की धूर्त्तता, मेहता-मालती-प्रसंग, मीनाक्षी-दिग्विजयसिंह प्रसंग आदि प्रसंगिक वृत्त भी पर्याप्त रोचक हैं।

प्रेमचन्द के अवान्तर प्रसंगों के बारे में बहुधा यह कहा जाता है कि ये प्रसंग कथा की स्वाभाविक रोचकता को चरने वाले तथा कथा के प्रवाह में बाधक-से बन जाते हैं। किन्तु प्रेमचन्द-साहित्य का मर्म समझा जाय तो प्रतीत होगा कि केवल कथा कहना उनका उद्देश्य नहीं रहा है। उन्होंने उपन्यास के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए स्वयं भी कहा है—उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें, पर यह कोई आवश्यक नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायें। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं···उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो अपना जोर दिखाइए। राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), कोई दूषण नहीं।[1]

प्रेमचन्द के बड़े उपन्यासों में जो कथा-शैथिल्य एवं वर्णन-वार्द्धक्य मिलता है, वह निश्चय ही उनकी इस उपयुक्त धारणा का ही प्रतिफल है। जगह-जगह उन्होंने अपनी कलम का जोर दिखाया है और सरस भाषा तथा रोचक वर्णन-शैली में अनेक प्रसंगों और दृश्य-चित्रों की अवतारणा की है। बेखटके तर्क-वितर्क, सिद्धान्त कथन तथा महफिलें प्रस्तुत की हैं। किन्तु जहाँ वर्णन या विवेचन उपन्यास की मूल कथा के साथ एकात्म हो गया है और अधिक बिछलने नहीं पाया, वहाँ सचमुच कोई दूषण नहीं, पर जहाँ मूल कथा से विलग हो गया है, वहाँ उपन्यास के आन्तरिक संगठन में शिथिलता अवश्य आई है।

'गोदान' में भी कथानक का यह दोष कुछ हद तक पाया जाता है। इस रचना में ग्रामीण और शहरी प्रसंग अलग-अलग चलते हैं। यद्यपि रायसाहब जमींदार को होरी असामी से सम्बन्ध तथा गोबर का पहले खुर्शेद और मिल-मालिक से फिर मालती से, फिर मालती-मेहता से सम्बन्ध जता कर कथा के इन दो पृथक-पृथक सूत्रों को जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, पर यह प्रयत्न बहुत सफल नहीं हो पाया है। यह सम्बन्ध-सूत्र बहुत झीना है। शायद ग्रामीण-जीवन और नागरिक जीवन की पृथक्ता युग-सत्य थी

1. कुछ विचार पृ० 24।

और दोनों को जोड़ना, घुलाना-मिलाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी था। 'गोदान' की शहरी कथा की सार्थकता इस बात में है कि यह ग्रामीण विषमता को उभारती है। शहर के मिल-मालिक खन्ना, जमींदार, धूर्त तन्खा, स्वार्थी ओंकारनाथ आदि शिक्षित और सभ्य कहे जानेवाले व्यक्तियों की तुलना में भोला-भाला किसान मानव के नाते किस बात में कम है? जमींदारों, और पूँजीपतियों की विलास-प्रियता, वणिक्-वृत्ति, स्वार्थपरता, कृषक-जीवन की करुणा को उभारने में सहायक सिद्ध हुई है। एक ओर गरीब किसान हैं, जिन्हें एक जून भी पेट-भर भोजन नहीं मिलता; घी-दूध अंजन लगाने तक को नहीं मिलता; मामूली दवा-दारू के अभाव में उनके बच्चे मर जाते हैं, चेहरों पर मुर्दनी छाई रहती हैं, दूसरी ओर जमींदार हैं, पूँजीपति हैं, गुलछर्रे उड़ाते हैं, हजारों रुपये व्यसन में खर्च कर देते हैं, मुकदमेबाजी, इलेक्शन, शिकार, धनुष-यज्ञ आदि पर बेहिसाब खर्च करते हैं, मामूली फुन्सी या सिर-दर्द हो जाय तो बड़े-बड़े सर्जन, वैद्य, डाक्टर बुलाये जाते हैं। गरीब किसान सारा साल परिश्रम करता है, सर्दी-धूप-बरसात-सोखा में मरता-जलता-गलता और सूखता है। उधर शहरी धनी लोग निठल्ले रहते हैं और मुफ्त की उड़ाते हैं। यह तुलना दिखाकर ग्रामीण कृषक-कथा में अत्यधिक करुणा भरना ही शहरी कथा का उद्देश्य है। इस दृष्टि से यह अवान्तर कथा भी नहीं कही जा सकती। शहरी कथा ग्रामीण कथा की पूरक-सी बन जाती है।

फिर भी कुछ प्रसंग अवश्य ऐसे हैं, जिनका विस्तार बचाने में ही अच्छाई थी। धनुष-यज्ञ का प्रसंग 30-32 पृष्ठों का विस्तृत प्रसंग है। इसमें पत्रकार ओंकारनाथ का उल्लू बनाने और मेहता के खान बनकर उपस्थित होने के दृश्य बड़े अस्वाभाविक हैं। पत्रकार ओंकारनाथ को जिस ढंग से मालती बनाती है, उसमें मनोवैज्ञानिक कचाई स्पष्ट नजर आती है। जो मालती पहले ओंकारनाथ का विरोध और मजाक कर रही है, उसके बाद के प्रशंसात्मक शब्दों पर एकदम ओंकारनाथ ने कैसे विश्वास कर लिया? एक साधारण व्यक्ति भी इस खोखले मजाक को समझ सकता था, न जाने पत्रकार-जैसा सतर्क प्राणी उसे क्यों नहीं समझ सका! लगता है बेचारे ओंकारनाथ की प्रेमचन्द ने व्यर्थ ही दुर्गति कराई है। कोई बौद्धिक चतुराई इस प्रसंग के मूल में दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार मेहता का खान बनकर आ उपस्थित होना और उसकी आकृति-आवाज का पहचाना न जाना अस्वाभाविक ही है। कथानक में वैचित्र्य और अद्भुत घटना-चक्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रेमचन्द में घटना-प्रधान उपन्यासों के प्रभाव से कुछ न-कुछ रही है। वे अपने उपन्यासों में कथा-वैचित्र्य या चमत्कार उत्पन्न करने के फेर में कहीं-कहीं अवश्य पड़ते रहे हैं। 'कायाकल्प' इस प्रवृत्ति का विचित्र रूप है। 'प्रेमाश्रम' में भी राय कमलानन्द के चरित्र की विचित्रता तथा आकस्मिक हत्याओं के मूल में यही प्रवृत्ति है। पूर्व उपन्यासों में आकस्मिक घटनाएँ भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं। शायद 'गोदान' में मेहता का यह चमत्कारी रूप भी इसी प्रवृत्ति का शेषांश है। धनुष-यज्ञ का यह विस्तृत छठा परिच्छेद न तो विशेष रोचक ही बन सका और न ही कथा के विकास में इतना सहायक सिद्ध हुआ है। इसका संक्षिप्त होना ही अच्छा था। अगला शिकार-

वाला खण्ड अपेक्षाकृत रोचक है। किन्तु यह भी 36-37 पृष्ठों का विस्तृत हो गया है। इसे भी जरा छोटा रखा जाता तो अच्छा रहता। इन दोनों खण्डों के 65-70 पृष्ठों में फैल जाने से होरी-गोबर की अधिक रोचक, अधिक संवेदनापूर्ण कथा में व्याघात उपस्थित हुआ है। पाठक की उत्सुकता और रुचि उस कथा में अधिक थी, इसलिए इन प्रसंगों को पढ़ते हुए पाठक के मन में पूर्वकथा की अग्रगति जानने की जितनी उत्सुकता बनी रहती है, उतनी इन प्रसंगों में रुचि वह नहीं ले पाता। यदि ये प्रसंग संक्षिप्त होते और अधिक स्वाभाविक होते तो इनकी रोचकता भी बढ़ जाती और पाठक की उत्सुकता बनी रहती। इसी प्रकार एक-दो और प्रासंगिक दृश्य अनावश्यक-से प्रतीत होते हैं—जैसे, बारहवें परिच्छेद में कोदई का प्रसंग। युवक युवती का मानना-मनाना, पहले गोबर पर बुरी तरह बिगड़ जाना और फिर एकदम उसे ठहरने का निमन्त्रण ही नहीं, माता को समझा देने का अनुरोध करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सदोष ही है। इस प्रसंग को हटा देने से कथा की कोई हानि नहीं होती, बल्कि कथा-संगठन अधिक दृढ़ और अधिक मार्मिक हो जाता। इसी प्रकार 32 वाँ परिच्छेद अनावश्यक है : खैर यही रही कि यह प्रसंग छोटा-सा ही है, लेखक ने खुर्शेद और मेहता के वेश्या-समस्या-सम्बन्धी विवाद को बढ़ने से बचा लिया, अन्यथा यह बहुत अखरता।

किन्तु कथा-संगठन के ये कुछ दोष बहुत अखरने वाले नहीं। अधिकांश प्रसंग रोचक और कथा-विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। शहरी प्रसंगों को ग्रामीण कथा की संवेदना के पूरक ही मानना चाहिए। इस तुलनात्मक अध्ययन के बिना ग्रामीण जीवन की विषमता स्पष्ट न होती, जो लेखक का उद्देश्य है। कथा की रोचक नियोजना में प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता है उत्सुकता-वृद्धि का गुण। रोचक प्रसंगों का चयन भी इस गुण के बिना सम्भवतः इतना प्रभावकारी न होता। रोचकता बढ़ाने के लिए प्रेमचन्द कोई-न-कोई समस्या उपस्थित रखते हैं। पहले कोई कठिन परिस्थिति प्रकट कर देते हैं, फिर उसके हल की दिशा निकालकर पाठक की उत्सुकता शान्त कर देते हैं। सोना के विवाह की समस्या है। पटेश्वरी-नोखेराम के लड़के ताक-झाँक करने लगे हैं। हवा खराब है। कन्या का विवाह शीघ्र कर देना चाहिए। दहेज-खर्च की समस्या है। दुलारी से सहारा मिल जाता है। समस्या शान्त होने को है। पर ऊख नीलाम हो जाने पर दुलारी जवाब दे देती है। फिर समस्या उपस्थित होती है। तब नोहरी उबारती है। इस प्रकार पाठक की उत्कण्ठा को बार-बार जगाकर शान्त करने का सफल प्रयास प्रेमचन्द की विशेषता है।

प्रेमचन्द ने उत्सुकता-वृद्धि का एक और उपाय नाटकीय अप्रत्याशित परिस्थितियाँ उपस्थित करके अपनाया है। सोना ने सिलिया को भेजकर मथुरा और उसके पिता से मनवाया कि हम दान-दहेज न लेंगे। पाठक समझता है, चलो समस्या समाप्त हुई। पर जब धनिया इससे उल्टा प्रभावित होकर नाई को कहती है कि लेंगे क्यों नहीं, अपनी मरजाद कोई छोड़ता है, तो उसके इस अप्रत्याशित उत्तर से पाठक चमत्कृत हो जाता है और उसकी उत्सुकता बढ़ती है। इसी प्रकार का और प्रसंग है : भोला होरी के

दोनों बैल खोल ले जाता है। होरी अब बैलों के बिना खेती कैसे करेगा ? तभी गाँव के स्तम्भ और लोग भोला की ललकारते हैं। पाठक समझता है, बस अब भोला को बैल लौटाने पड़ेंगे। पर होरी की बात पर सहसा दातादीन आदि अपना भाव बदल देते हैं और भोला को बैल ले जाने देते हैं। पाठक और भी उत्सुक हो जाता है। मेहता-मालती का चाँदनी रात में नदी पर मिलन और वार्तालाप भी ऐसे ही प्रसंग है। मेहता द्वारा प्रेम की व्याख्या से अप्रत्याशित और उत्सुकता-वर्द्धक परिणाम निकलता है।

हमने आरम्भ में भी, पिछले दोषों के परिहार पर विचार करते हुए, कहा था कि 'गोदान' में आगे की घटनाओं के बारे में सूक्ष्म-परोक्ष संकेत देने का मनोवैज्ञानिक ढंग अपनाया गया है। इससे भी पाठक की जिज्ञासा और उत्सुकतावृद्धि हुई है। जहाँ पहली रचनाओं में ऐसे संकेत दोषपूर्ण थे वहाँ 'गोदान' में मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक होने से केवल उत्सुकता बढ़ाते हैं। दातादीन का यह कथन 'बाहर न बाँधना यह कहे देते हैं,' और हीरा का यह कहना, 'भगवान् चाहेंगे, बहुत दिन गाय न रहेगी,' ऐसे ही उत्सुकतापूर्ण भावी संकेत हैं। इनका पूरा अर्थ घटना के बाद ही खुलता है, पहले तो ये उत्सुकता और आशंका को जगाते हैं। होरी का आरम्भ का कथन, 'साठे तक पहुँचने की नौबत ही न आने पायेगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे' अन्त में सत्य सिद्ध होता है; पर पहले हम केवल उत्कण्ठित रहते हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने पाठक की उत्कण्ठा को स्थान-स्थान पर जगाये रखा है। उत्कण्ठा को जगाकर क्रमशः शान्त होती हुई उत्कण्ठा को तीव्र करने या एक बार उत्कण्ठा को शान्त करके पुनः जागृत करने के ये ढंग कथा को बहुत रोचक और आकर्षक बना देते हैं। कथा का क्रमिक विकास भी अत्यन्त स्वाभाविक है। होरी की दयनीय दशा के दिन-दिन बिगड़ते जाने का बड़ा मार्मिक क्रमिक चित्रण हुआ है। डाँड में मकान रहन रखना पड़ा, अनाज गया, कर्ज दिन-दिन बढ़ रहा है, बैल जाते हैं, खेती जाती है, ऊख नीलाम हो जाती है, किसी सूरत भी पैसा हाथ नहीं लगता। वह मजदूर बन जाता है। बेदखली होने वाली है। बाप-दादा की जमीन बचाने के लिए कन्या रूपा का विवाह अधेड़ रामसेवक से करता है और बाद में आत्मग्लानि से गलता है। वह अपना कलंक धोने के लिए शक्ति से बहुत अधिक परिश्रम करता है और अन्त में अधूरी साधें लिए ही टूट जाता है। सारी परिस्थितियाँ अन्त में चरम अवस्था को प्राप्त होती हैं, वहीं उपन्यास समाप्त हो जाता है। इतना सुन्दर स्वाभाविक क्रमिक विकास प्रेमचन्द के किसी अन्य बड़े उपन्यास का तो है ही नहीं, साथ ही हिन्दी-साहित्य का शायद ही कोई बड़ा उपन्यास ऐसा स्वाभाविक विकास-क्रम लिए हो।

इस विकास-क्रम में भी एक-आध हल्का-सा दोष पाया जाता है। एक-आध स्थल पर प्रसंगों के पूर्वापर क्रम में प्रेमचन्द ने दोषपूर्ण प्रयोग किया है। चौथे परिच्छेद में गाय आ चुकी है। गाय के आने पर हीरा-धनिया का झगड़ा भी हो चुकता है, सारा गाँव गाय को देख चुकता है। पर प्रेमचन्द अगले (पाँचवें) परिच्छेद को आरम्भ करते हुए कहते हैं, "उधर गोबर खाना खाकर अहिराने में जा पहुँचा।" और इस खण्ड में वे

गोबर-द्वारा गाय लाने और झुनिया से बातचीत होने का प्रसंग देते हैं। कथा का इस प्रकार का क्रम-विधान उचित नहीं माना जा सकता। जो पात्र पहले परिच्छेद में आगे की घटना में उपस्थित हो चुका, उसको लेकर उसके पूर्व प्रसंग की चर्चा बाद में युक्ति-युक्त नहीं। प्रेमचन्द पर शोध करने वाले 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' के लेखक डॉ०राजेश्वर गुरु ने 'गोदान' के कथानियोजन पर सिने-चित्र-पद्धति का प्रभाव बताया है। उनका कथन है कि प्रेमचन्द इस समय तक सिनेमा से सम्बन्धित रहने के कारण, सिने-चित्र-पद्धति से परिचित हो चुके थे। यही कारण है कि 'गोदान' में सिनेमा-जैसी झलकियों के रूप में उन्होंने कथा प्रस्तुत की है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि उपन्यास की कथा-शिल्प को ही सिनेमा-जगत ने अपनाया है। सिने-चित्र उपन्यासों के ढंग पर ही बनने आरम्भ हुए थे, और आज तक उपन्यास का शिल्प अपनाकर प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रेमचन्द के 'गोदान' में सिने-चित्र शैली के प्रभाव की कोई विशेष बात नजर नहीं आती बल्कि उपर्युक्त क्रमदोष से लगता है कि सिनेमा की दृष्टि प्रेमचन्द की थी ही नहीं, अन्यथा पर्दे पर खटकने वाला यह क्रम वह हरगिज न अपनाते। भिन्न-भिन्न दृश्य-प्रसंग-चित्रों के रूप में कथा-नियोजना की पद्धति उन्होंने सामान्य औपन्यासिक शिल्प से ही ग्रहण की है, सिनेमा के प्रभाव से नहीं। यह पद्धति उनके सिनेमा-जगत में जाने से बहुत पूर्व 'सेवासदन' में भी पाई जाती है।

कथा-क्रम का उपर्युक्त दोष अपवाद ही है। प्रेमचन्द की कथा स्वाभाविक गति से विकसित होती है। पात्रों और घटनाओं का 'गोदान' में अद्भुत सामंजस्य है। पात्र अपने चरित्रों की विशिष्टता से घटनाओं और परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं और घटनाएँ और परिस्थितियाँ भी पात्रों के चरित्रों को उद्घाटित करती हैं। इस प्रकार चरित्र और कथानक एक-दूसरे के पूरक बने रहते हैं। 'गोदान' से पूर्व घटनाएँ अधिक महत्त्व रखती थीं, पर 'गोदान' में दोनों का बराबर महत्त्व है।

अपने पहले उपन्यासों में तो प्रेमचन्द प्रवृत्ति से ही आदर्शवादी रहे हैं। इसी से उन्होंने अपने प्रायः पहले उपन्यासों में कथा और चरित्रों को अपने आदर्शों के अनुरूप परिवर्तित किया है। प्रायः उनके चरित्र बुराई से अच्छाई की ओर परिणति पाते हैं और यही बात कथा के बारे में कही जा सकती है। 'गोदान' में भी उद्देश्य तो आदर्श ही है, पर यहाँ यथार्थ को प्रेमचन्द ने अधिक आग्रह से पकड़ा है—कम-से-कम काल्पनिक आदर्श-वाद, किसी सुधार या आश्रम-निर्माण के चक्कर में वे नहीं पड़े हैं। इससे कथा की यथार्थवादी रक्षा हुई है।

अतः सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि 'गोदान' का कथा-शिल्प प्रेमचन्द के कथाकार की सफलता का परिचायक है। प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-शिल्प को एक सच्चा यथार्थवादी मोड़ प्रदान किया। 'सेवासदन' में यदि उन्होंने हिन्दी-उपन्यास की कथा-वस्तु को तिलस्म और ऐयारी के चक्कर से निकलकर जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध किया था, तो 'गोदान' में पहली बार दरिद्र कृषक को नायक बनाकर जीवन का मार्मिक चित्रण किया। कथा का मार्मिक चयन, उत्सुकतावर्द्धक नियोजना, रोचक प्रसंगों की उद्भावना

तथा सुन्दर क्रमिक विकास उनके कथा-शिल्प की विशेषता है। उपन्यास का कलेवर बड़ा होने के कारण कुछ भूलें हो गई हैं, किन्तु वे बहुत अखरने वाली नहीं। ऐसी भूलों को बचाया जा सकता था, यदि स्वयं प्रेमचन्द अपनी रचना को ध्यान से पढ़ लेते। जैसे, खन्ना की पत्नी का सर्वप्रथम कामिनी खन्ना नाम से परिचय दिया गया है, पर बाद में सर्वत्र गोविन्दी नाम चलता है। होरी की लड़की रूपा को पहले ही पृष्ठ पर आठ साल की बताया है और आगे तीसरे खण्ड में उसे पाँच-छः साल की छोकरी कहा है। इसी प्रकार सिलिया के बालक के बारे में 34वें परिच्छेद के आरम्भ में ही कहा गया है—'सिलिया का बालक अब दो साल का हो रहा था और सारे गाँव में दौड़ लगाता था। अपने साथ एक विचित्र भाषा लाया था, और उसी में बोलता था, चाहे कोई समझे या न समझे।' परन्तु आगे चौथे ही पृष्ठ पर कहते हैं, 'रामू अब बैठने लगा था। कुछ-कुछ बकवाँ चलने भी लगा था।' मुन्शीजी भूल जाते हैं कि कुछ देर पहले जिस बच्चे के बारे में वह कह आये हैं कि सारे गाँव में दौड़ लगता है और बहुत चंचल है, तोतली बोली बोलता है, उसी के बारे में यह कहना कि अब बैठने लगा है और उसकी झटपट मृत्यु की सूचना देना कितना असंगत लगेगा! काल-दोष की एक छोटी-सी भूल और देखिए। 14वें परिच्छेद में कहा गया है कि 'जब माघ बीत गया और भोला के रुपये न मिले, तो एक दिन वह झल्लाता हुआ' आ धमका और होरी के बैल ले गया। किन्तु आगे इसी कथा का विकास करते हुए 17वें परिच्छेद में मुन्शीजी कातिक के महीने पर आ जाते हैं—'कातिक के महीने में किसान के बैल मर जायँ तो उसके दोनों हाथ कट जाते है। होरी के दोनों हाथ कट गये थे।' माघ का महीना कातिक के बाद ही आता है। इसी प्रकार होरी का गाँव बेलारी है और उसके जमींदार रायसाहब सेमरी में रहते हैं परन्तु 21वें परिच्छेद के आरम्भ में भूल से होरी के गाँव को सेमरी कह दिया है। 30वें अध्याय के आरम्भ में मजदूरों की समस्या सुलझाने के लिए खन्ना मेहता-गोविन्दी आदि से सलाह लेते रह जाते हैं। आगे की बात कहना प्रेमचन्द भूल ही गये हैं। कम-से-कम निर्णय का संकेत ही देते, तो भी संगत रहता। इससे इस खण्ड का आरम्भिक अंश निरर्थक बनकर रह गया है। खैर यही है कि यह प्रासंगिक बात थी। इस प्रकार की भूलें वृहद् कथा-प्रवाह में क्षम्य ही है। कुल मिलाकर 'गोदान' की कथा-वस्तु प्रेमचन्द को श्रेष्ठ कथाकार सिद्ध करती है।

4. चरित्र-चित्रण

(क) पात्र-परिचय

होरी : चरित्र की वे मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ जिनसे वह भारतीय किसान का प्रतीक प्रतीत होता है : उपन्यास का नायक होरी कृषक-वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। यह प्रेमचन्द की अमर चरित्र-सृष्टि है। उसका चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द की अत्यन्त सफल श्रेष्ठ कला का परिचायक है। भारतीय साहित्य में संभवतः पहली बार एक दरिद्र व्यक्ति का नायक के रूप में इतना सजीव चित्रण हुआ। यद्यपि उसके चरित्र की व्यक्तिगत

विशिष्टता भी कुछ बातों में दिखाई देती है, परन्तु अधिकांशतः वह कृषक-वर्ग के प्रतिनिधि रूप में चित्रित किया गया है। उसकी सम्पूर्ण मनोभूमि कृषक की मनोभूमि है। वह जो सोचता-विचारता, करता-धरता है, उस सब के मूल में उसके कृषक-संस्कार ही दिखाई देते हैं। इसी कारण 'गोदान' कृषक-संस्कृति की लोक-परम्परा का प्रतीक उपन्यास बन गया है।

आरम्भिक पृष्ठों में ही हमें उसके चिर-पुरातन कृषक-रूप का दिग्दर्शन हो जाता है। "होरी कदम बढ़ाये चला जाता था। पगडंडी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा—भगवान् कहीं गौं से बरखा कर दें और डाँडी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लेगा।...उसकी खूब सेवा करेगा।...गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ, तो क्या कहना! न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा?" गाय की लालसा भारतीय किसान की जन्म-संस्कारगत लालसा है। गऊ को वह माता मानता है। उसके बछड़े भी उसका अमूल्य धन होते हैं। और अपनी लहलहाती खेती को देखकर प्रसन्न होना और भगवान् से उसकी सही-सलामत वृद्धि और पूर्ति की कामना-प्रार्थना कृषक की शाश्वत सार्वभौमिक प्रवृत्ति है।

भारतीय किसान युग-युग से सामन्तवाद और जमींदारी पद्धति का शिकार बना चला आ रहा है। अपनी दयनीय दशा को वह भगवान् की देन समझता है। वह भाग्यवादी बन गया है। होरी के मानसिक संस्कार इसी ढाँचे में ढले हैं। अपनी दयनीय दशा का उसे दुःख तो है, पर इसे भगवान् की मरजी या भाग्य की बात समझकर वह असंतुष्ट और विद्रोही नहीं होता, अपितु अपने मालिकों की खुशामद और उनका कृपा-पात्र बनने में ही अपना भला समझता है। होरी अपने जमींदार से मिलने जाता है। धनिया के विरोध करने पर वह कहता है—"इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। जब दूसरों के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुसल है।" जब गोबर अपने पिता की खुशामदी मनोवृत्ति की आलोचना करता है तो होरी अपने बेटे के विद्रोहभाव को दबाता हुआ कहता है—'सलामी करने न जायें, तो रहें कहाँ! भगवान् ने गुलाम बना दिया है, तो अपना क्या बस है।' किसान की नई पीढ़ी में विद्रोह और असंतोष तीव्र है। असंतोष होरी की पुरानी पीढ़ी में भी व्याप्त है, पर वह अपनी भलाई विद्रोह में नहीं, मिन्नत-समाजत में समझता है, अकड़ने से निबाह नहीं होगा। गोबर कहता है भगवान ने तो सबको बराबर ही बनाया है। पर होरी कहता है—'यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या?' इस प्रकार भगवान की लीला में होरी का अटल विश्वास है। जन्म-जन्मान्तरवाद, कर्मवाद और भाग्यवाद पर उसकी निष्ठा है। ये समूचे कृषक वर्ग के ही विश्वास हैं।

अपने छोटे-मोटे स्वार्थों को कृषक हर समय सामने रखता है। वह उधार को

मुफ्त समझता है। होरी 'जानता था, घर में रुपये नहीं हैं, अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका, बिसेसर साह का देना भी बाकी है, जिस पर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है, लेकिन दरिद्रता में जो एक प्रकार की अदूरदर्शिता होती है; वह निर्लज्जता जो तकाजे, गाली और मार से भी भयभीत नहीं होती' उसने होरी को भोला से गाय उधार लेने के लिए प्रोत्साहित किया। 'उसे अभी चार सौ रुपये देने थे लेकिन उधार को वह एक तरह से मुफ्त समझता था।' होरी भोला को सगाई दिलाने का झाँसा देता है। उसकी प्रशंसा करता है। वह चालाकी से उसकी गाय हथियाना चाहता है। यह सब उसकी नीति में बुराई न थी। वह गाय की लालसा पूरी करना चाहता है। 'कहीं भोला की सगाई ठीक हो गई, तो साल-दो साल तो वह बोलेगा भी नहीं। सगाई न भी हुई, तो होरी का क्या बिगड़ता है? यही तो होगा कि भोला बार-बार तगादा करने आयेगा, बिगड़ेगा, गालियाँ देगा, लेकिन होरी को इसकी ज्यादा शर्म न थी। इस व्यवहार का वह आदी था। कृषक के जीवन का तो यह प्रसाद है! भोला के साथ वह छल कर रहा था और यह व्यापार उसकी मर्यादा के अनुकूल न था। अब भी लेन-देन में उसके लिए लिखा-पढ़ी होने और न होने में कोई अन्तर न था।...ईश्वर का रुद्र सदा उसके सामने रहता था। पर यह छल उसकी नीति में छल न था। यह केवल स्वार्थ-सिद्धि थी और यह कोई बुरी बात न थी। इस तरह का छल तो वह दिन-रात करता रहता था। घर में दो-चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रुई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज था।" इस प्रकार का स्वार्थ गरीब किसान की रग-रग में समाया रहता है। अपने भाइयों से होरी दो-चार रुपयों के लोभ से बेईमानी करता है। वह दमड़ी बनसोर को साझे के बाँस बेचने में भाइयों से धोखा करना चाहता है। ठकुर-सुहाती उसकी प्रवृत्ति बन गई है। होरी अपना स्वार्थ गाँठने के लिए दुलारी-सहुआइन, नोहरी आदि की ठकुर-सुहाती करता है।

परन्तु वह चाहे जितना स्वार्थी हो, अपने छोटे-मोटे लोभ-लाभ के लिए वह भले ही थोड़ा-सा छल-कपट कर लेता हो, उसका मन कुत्सित नहीं। 'किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घण्टों चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता; लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है।—ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान! होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।' जब भोला भूसे की कमी के संकट से गाय बेचने की विवशता जाहिर करता है, तो उसकी संकट-कथा सुनते ही होरी की मनोवृत्ति बदल गई। वह गाय लेने से जवाब दे देता है। संकट की चीज लेना उसके लिए पाप है। वह साफ कहता है—भूसे के लिए तुम गाय बेचोगे, और मैं लूँगा। मेरे हाथ न कट जाएँगे?... किसी भाई का नीलाम पर चढ़ा हुआ बैल लेने में जो पाप है, वही इस समय तुम्हारी

गाय लेने में है। जिस भाई से वह दो-चार रुपये की बेईमानी करना चाहता है, उसी के लिए जान भी दे सकता है, खून-पसीना एक कर सकता है। हीरा के भाग जाने पर वह उसके खेतों में खुद काम करता है, उसकी गृहस्थी का पूरा ध्यान रखता है। हीरा के वापस लौट आने पर वह उसे गले लगा लेता है, उसके अपराध को क्षमा कर देता है। वह निराश्रिता सिलिया को अपने पास आश्रय देता है। इस प्रकार किसान की क्षुद्र दुर्बलताएँ तथा उच्च संस्कारों की मानवीय सबलताएँ सब होरी में पाई जाती हैं।

किसान का जीवन सम्मान और आदर के अभाव का जीवन रहा है। इसी से वह थोड़ा-सा सम्मान पाकर ही फूल जाता है। वह दूसरों से अपने को विशिष्ट समझ कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। जब होरी रायसाहब को मिलने जाता है तो 'दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम-राम करते और सम्मान-भाव से चिलम पीने का निमन्त्रण देते थे,···उसके अन्दर बैठी हुई सम्मान-लालसा ऐसा आदर पाकर उसके सूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर देती थी।' धनुष-यज्ञ में वह राजा जनक का माली बना फूला नहीं समाता। जब गाय घर आती है तो वह उसे बाहर बाँधना चाहता है ताकि द्वार पर ऐसी बढ़िया गाय बँधी देखकर लोग कहें कि यह होरी महतो का घर है। इसी गर्व-भावना से वह दातादीन के आगे जीट उड़ाता है कि गाय मैंने भोला से नकद ली है।

किसान धर्म-भीरु और समाज-बिरादरी-भीरु भी होता है। धर्म के ब्राह्मणी रूप पर उसका विश्वास होता है। जाति-पाँति और छुआछूत को वह ग्रहण किए रखता है। होरी इसी परम्परागत संस्कार के आश्रय ब्राह्मण दातादीन को विशिष्ट मानता है। उसके रुपए वह कैसे रख सकता है? ईश्वर का रुद्र रूप उसे हरदम डराता रहता है। जब गोबर दातादीन को एक रुपया सैकड़ा ब्याज के हिसाब से रुपये देना चाहता है, तो होरी इसे नीति के विरुद्ध समझ कर कहता है—"हमें नीति हाथ से नहीं छोड़नी चाहिए। जिस दर पर रुपया लिया है, वही देना चाहिए। और फिर ब्राह्मण के रुपए!" जब सिलिया का पिता हरखू और भाई मातादीन को पकड़कर उसके मुँह में हड्डी छुआते हैं तो होरी ब्राह्मण के प्रति इस अन्याय को न सहकर कहता है, 'अच्छा, अब बहुत हुआ हरखू! भला चाहते हो, तो यहाँ से चले जाओ।'

पंचों और बिरादरी पर उसका अडिग विश्वास होता है। जब झुनिया के रख लेने पर बिरादरी में हो-हल्ला मचता है और पंचायत होरी पर डाँड लगा देती है तो होरी पंचों का फैसला स्वीकार करता है—"पंच में परमेश्वर रहते हैं। उनका जो न्याय है, वह सिर-आँखों पर। अगर भगवान की यही इच्छा है कि हम गाँव छोड़कर भाग जाएँ, तो हमारा क्या बस।" धनिया इस अन्याय का विरोध करती हुई कहती है—"मैं न एक दाना अनाज दूँगी, न एक कौड़ी डाँड।··· हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायगी।" तब होरी उसे रोकता हुआ कहता है—"धनिया, तेरे पैरों पड़ता हूँ, चुप रह। हम सब बिरादरी के चाकर हैं, उसके बाहर नहीं जा सकते। वह जो डाँड लगाती है, उसे सिर झुकाकर मंजूर कर।···आज मर जाएँ, तो

बिरादरी ही तो इस मिट्टी को पार लगाएगी।"

यह दरिद्र किसान भी अपनी एक 'मरजाद' मानता है। उस मर्यादा का पालन उसके लिए बहुत आवश्यक है। अपने बाप-दादा के दिये मकान-खेतों से उसका मोह होता है। वह खेती करना ही अपनी मरजाद समझता है, मजूरी में उसे चाहे जितना अधिक मिले, पर वह अपनी मरजाद छोड़ना बुरा समझता है। होरी गोबर से कहता है—'हमीं को खेती से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपये महीने का भी नौकर है, वह भी हम से अच्छा खाता-पहनता है, लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें, तो और करें क्या? ···फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है।" वह कुल-मर्यादा का निबाह करना धर्म मानता है। अपनी लड़की सोना के विवाह में दहेज देना उसकी कुल-मर्यादा है। चाहे उधार लेकर ही दहेज देना पड़े, पर कुल मर्यादा कैसे छोड़े! बाप-दादों की जायदाद जाने का उसे अपार दुःख होता है। वह सोचता है, एक वे सपूत होते हैं जो बाप-दादों की जायदाद की रक्षा और वृद्धि करते हैं, एक वह अयोग्य और अभागा है कि उसे बचा भी न पाता। मकान रहन लिखने का उसे दुःख है। तीन बीघा जमीन ही पूर्वजों की निशानी बची है, उसकी भी बेदखली का दावा हो जाता है। वह इस निशानी को बचाने के लिए रूपा की शादी अधेड़ रामसेवक से कर देता है। वह सोचता है, कन्या की ऐसी बेमेल शादी भी उसकी कुल-मर्यादा के विरुद्ध है, पर क्या करें, खेतों के निकलने में भी तो मरजाद बिगड़ती है! दारोगा-द्वारा तलाशी होने में भी उसकी कुल-मर्यादा जाती है।

यह किसान होरी धर्म-भीरु है, बिरादरी से डरता है, ईश्वर से डरता है, राजा से डरता है, सरकार-हाकिमों से भय खाता है, पुलिस-दारोगा से काँपता है, तलाशी को हव्वा समझता है, परन्तु वैसे साहसी है। समाज की दूषित व्यवस्था से दबा होने पर भी वह प्रकृति से कायर नही है। जब धनुष-यज्ञ के प्रसंग पर मेहता पठान बनकर आता है, तो जहाँ सब शहरी 'जवाँमर्द' भयभीत हो जाते हैं, वहाँ होरी पठान से भय नहीं खाता, वह उसे पछाड़ देता है। 'होरी गँवार था। लाल पगड़ी देखकर उसके प्राण निकल जाते थे, लेकिन मस्त साँड पर लाठी लेकर पिल पड़ता था। वह कायर न था, मरना और मारना जानता था, मगर पुलिस के हथकण्डों के सामने उसकी एक न चलती थी। बँधे-बँधे कौन फिरे, रिश्वत के रुपये कहाँ से लाये, बाल-बच्चों को किस पर छोड़े।' झगड़ा करना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था। 'मगर जब मालिक ललकारते हैं, तो फिर किसका डर? तब तो वह मौत के मुँह में भी कूद सकता है। उसने झपटकर खान की कमर पकड़ी और ऐसा अड़ंगा मारा कि खान चारों खाने चित्त जमीन पर आ रहे···।'

होरी का सारा जीवन पेट की रोटियों की चिन्ता में बीतता है। वह लुटता है, मालिक-महाजनों की झिड़कियाँ-गालियाँ सहता है, घर में कभी बेटे की व्यंग-भरी बातें सुनता है, कभी पत्नी की फटकार पाता है, अपने भाइयों की जली-कटी सुनाता है, पर सब-कुछ सहते हुए भी परिश्रम-पूर्वक कर्म करना उसकी सहज प्रवृत्ति बन गई है। इतनी

कर्मशीलता कृषक की संस्कारगत प्रवृत्ति है, मरना-खपना उसके भाग्य में ही बदा है। होरी मातादीन से कहता भी है : किसान और किसान के बैल इनको जमराज ही पिंसिन दे, तो मिले।' (29वाँ परिच्छेद)। इतनी जान खपाने पर भी वह अपनी पत्नी, पुत्र, पतोहू, पौत्र किसी को सुखी नहीं बना सका। सुख का एक क्षण भी उसकी गृहस्थी में नहीं आया। यही उसके जीवन की ट्रेजेडी है। अन्त में लड़की रूपा के बेमेल ब्याह की चोट, बेटी बेचने का दुःख सबसे घातक सिद्ध होता है। इस चोट ने भी उसे अपनी शक्ति से बाहर मजूरी का परिश्रम करने को उत्तेजित किया, जो उसके प्राण लेकर ही रहा।

इस प्रकार होरी एक सीधा-सरल, भोला-भाला, साफ हृदय का किसान है। उसके छोटे-से हृदय में मानव-प्रेम की अथाह भाव-धारा है। वात्सल्य से भरा उसका हृदय अपनी संतान ही नहीं, झुनिया-सिलिया-जैसी निराश्रिताओं के लिए भी उदार बन जाता है। अपने भाइयों पर वह अब भी जान देता है। हीरा के मुँह से अपनी आलोचना और बुराई सुनकर वह झगड़ने नहीं जाता, अपितु आत्म-पीड़ा का अनुभव करता हुआ गाय लौटाने को तैयार हो जाता है। उसकी कृषक-प्रकृति झगड़े से दूर भागती है। चार बातें सुनकर भी चुप रह जाना ही उसके सरल स्वभाव का नियम है। अपनी पत्नी से खीझते झगड़ते रहने पर भी, वह उसके अटूट प्रेम-बन्धन में बँधा हुआ है। वह एक आदर्श ग्रामीण पति है।

कृषकोचित ये सब चारित्रिक विशेषताएँ होने के साथ-साथ होरी में कुछ निजी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ भी हैं। उसका चरित्र है मुख्यतः वर्गगत ही, पर उसकी आकृति-प्रकृति का रेखा-चित्र, उसकी अतिशय उदार मानवीय भावना, पेट में बात न पचा पाने तथा भोला, धनिया, दुलारी आदि सबकी प्रशंसा करके अपने पक्ष में कर लेने की व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ उसके व्यक्तित्व को भी सजीव रूप प्रदान करती हैं :

गोबर : होरी का बेटा गोबरधन नई पीढ़ी का युवक किसान है। अपनी विषम आर्थिक दशा के कारण असन्तोष और विद्रोह उसकी नस-नस में व्याप्त हो चुका है। वह 'साँवला, लम्बा, एकहरा युवक है'। प्रसन्नता की जगह मुख पर असन्तोष और विद्रोह छाया रहता था। अपने पिता की खुशामदी मनोवृत्ति से उसे चिढ़ है। वह स्पष्ट कहता है—"यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नजर-नजराना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो?"

वर्ग-चेतना उसकी बहुत बढ़ी-चढ़ी है। यह छोटे-बड़े की विषमता मनुष्य ने ही उत्पन्न की है, भगवान ने तो सबको बराबर ही बनाया है। कर्मवाद या पूर्व-जन्म की बातों को भी वह दिल समझाने की बातें मानता है। 'जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।' बड़े लोग दान-धर्म-भगवद्भजन आदि गरीबों के सिर पर ही करते हैं, न करें तो पाप का धन कैसे पचे?

वह होरी के धर्मात्मापन पर व्यंग्य करता है। भोला को मुफ्त में भूसा देना उसे

अच्छा नहीं लगता। जब होरी बताता है कि भोला गाय दे रहा था, मैंने संकट में पड़े आदमी की गाय लेना अच्छा न समझा, तो वह कहता है—'तुम्हारा यही धर्मात्मापन तो तुम्हारी दुर्गति कर रहा है। साफ-साफ तो बात है। अस्सी रुपये की गाय है, हमसे बीस रुपए का भूसा ले लें और गाय हमें दे दें। साठ रुपए रह जाएँगे, वह हम धीरे-धीरे दे देंगे।'

गोबर अन्याय को सहन नहीं कर सकता। शहर में रह लेने पर उसका विद्रोह सक्रिय हो जाता है। वह दातादीन को एक रुपए सैकड़े के हिसाब से ही ब्याज देना चाहता है। वह होरी को साफ कहता है किसी को एक पैसा मत दो, सब महाजनों से एक रुपया सैकड़ा ब्याज कराना होगा ! नोखेराम की बेईमानी पर वह उसे ऐसा फटकारता है कि नोखेराम देखता रह जाता है। वह सब शोषकों की खबर लेता है। सारे गाँव के युवक उसे नेता बना लेते हैं। होली के दिन वह अपने द्वार पर मण्डली जमाता है। रात-भर शोषक महाजनों और ग्राम-स्तम्भों की नकलें होती हैं। वह उन पंचों पर दावा करना चाहता है, जिन्होंने उस पर डाँड लगाया था। वह सबके सामने अपनी हेकड़ी जमाता है। वह अधिक दिन रहे तो इन शोषकों का मिजाज ठीक कर दे। उसकी विद्रोही-प्रकृति मजदूर-संघर्ष में भी पीछे नहीं रहती। झुनिया के मना करने पर भी वह आग में कूद पड़ता है और बुरी तरह घायल होता है।

आरम्भ में वह एक अल्हड़ युवक दिखाई देता है। प्रेम और पुरुष स्त्री के संबंधों में वह झुनिया से पीछे ही था। 'गाँव में जितनी युवतियाँ थीं, वह या तो उसकी बहनें थीं या भाभियाँ। भाभियों से कभी-कभी वह ठठोली कर लिया करता था, पर वह केवल सरल विनोद था। झुनिया के बढ़ावा पाते ही 'उस कुमार में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोए हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठा।' जब झुनिया उसे उत्तर में कहती है कि दस द्वारे जाने वाले भिक्षुओं को मैं मुँह नहीं लगाती। ऐसे तो गली-गली मिलते हैं। फिर भिक्षुक देता क्या है, ससीस ! असीसों से तो किसी का पेट नहीं भरता।' मन्दबुद्धि गोबर उसका आशय नहीं समझ पाता। झुनिया ने भी सदय भाव से उसकी ओर देखा, कितना भोला है, कुछ समझता ही नहीं। जब झुनिया 'सर्वस देने' की बात कहती है तो वह कहने लगता है—'मेरे पास क्या है झुनिया ?'

परन्तु एक बार यौवन जाग जाने पर वह उसके नशे में डूब जाता है। झुनिया को वह जब अपने साथ ले जाता है तो ताड़ी पीने लगता है, अपनी यौनक्षुधा को तृप्त करने के लिए वह वक्त-बेवक्त झुनिया को तंग करता है। वह आधी रात बीते घर आने लगता है। गर्भ-भार से दबी, दुखी झुनिया की वह उपेक्षा करने लगता है। यहाँ तक कि वह झुनिया के प्रसव के प्रति बेपरवाही करता है।

वह स्वभाव का उद्दण्डी है। अपने अभिमान और उद्दण्डता में वह इतना आगे बढ़ जाता है कि अपने माता-पिता को भी जली-कटी सुनाने लगता है। वह यहाँ तक कहने से भी नहीं झिझकता कि माँ-बाप भी पैसे के मतलबी हैं। मैं कहाँ-कहाँ तक तुम्हारी करनी भुगतूँ, मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं। उसके मुख से इतनी बढ़ी-चढ़ी बातें कहलवाकर प्रेम-

चन्दजी ने कुछ अति कर दी है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगत-सा नहीं लगता। जो गोबर शहर जाते हुए रास्ते में सोचता जाता था कि वह शहर में खूब मेहनत करेगा, रुपये बचाएगा और सबसे पहले एक पछाँही गऊ लायेगा और दादा से कहेगा कि बस गऊ माता की सेवा करो ताकि तुम्हारा यह लोक और परलोक दोनों सुधरें, जो झुनिया को घर में रख लेने पर माता-पिता के प्रति कृतज्ञता और सम्मान-भावना प्रकट करता है, वह माता-पिता से इतनी बुराई से पेश आये, यह कुछ संगत-सा नहीं लगता। फिर भी उसका स्वभाव उद्दण्डता से ओत-प्रोत है इसमें सन्देह नहीं। हो सकता है पैसे की गर्मी ने उसे अधिक अभिमानी बना दिया हो। चार पैसे कमाकर वह एक तरह से महाजन बन ही गया था।

चोट लगने के बाद जब झुनिया उसकी खूब सेवा-सुश्रूषा करती है, तब अच्छा होने पर उसकी मानवता जाग उठती है। अब वह झुनिया के प्रति अपने अत्याचारों से पछताता है। उससे क्षमा-याचना करता है। रूपा के विवाह में जब वह दोबारा घर आता है तो अपने माता-पिता के प्रति उसका अत्यन्त विनम्र व्यवहार उसके स्वभाव के परिवर्तन का परिचायक है। अब उसमें गम्भीरता आ जाती है। वह सोचने-विचारने लग गया है। जब होरी रूपा के विवाह के अपने अपराध पर उसके सामने फूट पड़ता है तो वह पिता को सान्त्वना ही देता है और उनका कोई दोष नहीं मानता। "जिसे पेट की रोटियाँ ही मयस्सर नहीं, उसके लिए मरजाद और सम्मान सब ढोंग हैं।" वह अब अपनी जिम्मेदारी समझने लगा है। वह सब महाजनों की किस्तें कराकर स्वयं अदा करने की बात चलाता है। उसने अब समझ लिया कि "अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आएगी। और उसमें गहरी संवेदना सजग हो उठी है। अब उसमें वह पहले की उद्दण्डता और गरूर नहीं है। वह नम्र और उद्योगशील हो गया है। होरी को अब वह कोई काम करते देखता है, तो उसे हटाकर खुद करने लगता है, जैसे पिछले दुर्व्यवहार का प्रायश्चित करना चाहता हो। कहता है, दादा, अब कोई चिन्ता मत करो, सारा भार मुझ पर छोड़ दो, मैं अब हर महीने खर्च भेजूँगा, इतने दिन तो मरते-खपते रहे, कुछ दिन तो आराम कर लो, मुझे धिक्कार है कि मेरे रहते तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़े।" वह गाँव की दुर्दशा देखकर अब विशेष दुखी होता है।

इस प्रकार गोबर के चरित्र का बड़ा स्वाभाविक विकास प्रेमचन्दजी ने प्रस्तुत किया है। बीच में उसकी माता-पिता के प्रति अतिशय उद्दण्डता जरा अखरती है, अन्यथा उसके चरित्र की सभी रेखाएँ अत्यन्त स्वाभाविक एवं सजीव हैं।

जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह—रायसाहब अमरपालसिंह 20वीं शती का जमींदार है, जो अपने वर्ग की समस्त दुर्बलताओं से परिचित है। उसके चरित्र में एक जबरदस्त विरोधाभास है। एक ओर वह अपने वर्ग और जमींदारी-पद्धति की भरपूर आलोचना करता है, दूसरी ओर उससे बुरी तरह चिपटा हुआ भी है। वह आज के बौद्धिक युग का जमींदार है। अपने पूर्वजों से वह बहुत भिन्न हो गया है। आज के बौद्धिक

युग में कोई सम्राट्, कोई सामन्त अथवा पूंजीपति अपने स्वरूप का बौद्धिक औचित्य प्रकट किए बिना सम्मान नहीं पा सकता। इसीसे जमींदार रायसाहब को एक तरह रंगा-सियार बनना पड़ता है। वह 'प्रेमाश्रम' के रायकमलानन्द का ही विकसित रूप है। सिद्धान्त-रूप में वह पूरा समाजवादी या साम्यवादी है, जो अपने वर्ग और सम्पूर्ण सामन्तीय एवं पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का विरोध करता है। विचारधारा की दृष्टि से वह पूर्ण प्रगतिवादी है। किन्तु उसके मन, वचन और कर्म में भारी भेद है। वह दिखावे के लिए राष्ट्रवादी बना फिरता है, एक बार जेल भी हो आया है; वह प्रचारित करता है कि वह असामियों को रियायतें देना चाहता है, दिखाने के लिए उसने गाँव की काफी जमीन चरागाह के लिए छोड़ी हुई है—होरी कहता है, 'कई किसान इस गड्ढे (गाँव की जमीन) का पट्टा लिखाने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे, पर ईश्वर भला करे राय-साहब का, कि उन्होंने साफ कह दिया—यह जमीन जानवरों की चराई के लिए छोड़ दी गई है और किसी दाम पर भी न उठाई जायगी। कोई स्वार्थी जमींदार होता तो कहता कि गायें जायँ भाड़ में, हमें रुपये मिलते हैं, तो क्यों छोड़ें।' किन्तु यह सब दिखावा-मात्र है; लोगों में अपना सिर रखने के लिए बहरूपियापन है। मेहता रायसाहब को आड़े हाथों लेते हुए कहते हैं—"मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धांतों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायतें देना चाहते हैं, जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, बल्कि आप उन्हें समाज का शाप कहते हैं; फिर भी आप जमींदार हैं, वैसे ही जमींदार जैसे हजारों और जमींदार हैं।"

इस जमींदार को मगर-मच्छ के आँसू बहाना खूब आता है। अपने असामी तक के सामने वह अपनी दीन विवशता का रोना रोता है। वह अपनी पद्धति की मजबूरी का रोना रोकर ही दूसरों की सहानुभूति का पात्र बनना चाहता है। मेहता की खरी-खरी बातें सुनकर यह 'सभा-चतुर' जमींदार अपमान और आघात को धैर्य और उदारता से सहता हुआ अपनी सफाई इस तरह देता है—"···अन्य यात्राओं की भाँति विचारों की यात्रा में भी पड़ाव होते हैं,···मैं उस वातावरण में पला हूँ, जहाँ राजा ईश्वर है और जमींदार ईश्वर का मन्त्री। मेरे स्वर्गवासी पिता असामियों पर इतनी दया करते थे··· प्रजा को पालना उनका सनातन धर्म था, लेकिन अधिकार के नाम पर वह कौड़ी का एक दाँत भी छोड़कर देना न जानते थे।···मैं व्यवहार में चाहे जो कुछ करूँ, विचारों में उनसे आगे बढ़ गया हूँ और यह मानने लग गया हूँ कि जब तक किसानों को ये रियायतें अधिकार के रूप में न मिलेंगीं, केवल सद्भावना के आधार पर उनकी दशा सुधर नहीं सकती।···मैं खुद सद्भावना करते हुए भी स्वार्थ नहीं छोड़ सकता और चाहता हूँ कि हमारे वर्ग को शासन और नीति के बल से अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाय। इसे आप कायरता कहेंगे, मैं इसे विवशता कहता हूँ।" इस विवशता का रोना-रोकर ही वह अपने स्वार्थों, अन्याय-अत्याचारों में प्रवृत्त रहता है। बेगार, नज़र-नजराना, एजाफा-लगान, जुर्माना आदि सब लेता है!

यद्यपि होरी-जैसे अशिक्षित, दरिद्र असामी के आगे इतना बड़ा रोना रोना और

यहाँ तक कहते जाना कि 'सब कुछ जानकर भी गधा बना रहूँ।'····'और ये रुपये (भोग-विलास-विनोद में लुटाने के लिए) तुम से और तुम्हारे भाइयों से वसूल किए जाते हैं, भाले की नोक पर। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता ?···लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है', आदि कथन मूक होरी के आगे लेखक की कुछ अतिरंजना के परिचायक हैं, तथापि इस भाषण से बौद्धिक युग के चतुर जमींदार का मनोविज्ञान स्पष्ट हो जाता है। वह अपनी विवशता और परिस्थितियों की दासता का ऐसा चित्र पेश करता है कि बेचारा होरी तो क्या, कोई भी विचारवान् व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इससे वह यही समझता है कि रायसाहब बहुत अच्छे आदमी हैं, जो अपनी सब दुर्बलताओं को साफ कह देते हैं; वे बेचारे क्या करें, परिस्थितियों के शिकार बने हुए हैं, उनकी जान को भी कितने झमेले हैं, न करें तो काम कैसे चले ? अपनी विवशता का ऐसा ढिंढोरा पीटकर रायसाहब अपने प्रति सहानुभूति जगाना चाहते हैं। ओंकारनाथ को भी उन्होंने ऐसी ही विवशता जताकर काबू में किया। ठीक है, उसे सौ ग्राहकों के चन्दे का लोभ देकर चुप किया, पर उसका मानसिक परिवर्तन अपनी परिस्थितियों की विवशता के प्रति सहानुभूति जगाकर ही किया है।

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही वह सिद्धान्तवादी बना हुआ है, अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए ही वह अपनी विवशता जाहिर करता है, स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही नेशलिस्ट बनता है और जब देखता है कि जेल जाकर, सरकार का विरोध करके उसे कुछ लाभ नहीं हुआ तो वह सरकार का हामी बन जाता है। अफसरों और हाकिमों से बनाकर रखता है। अपने बहरूपियेन से वह राजा सूर्यप्रतापसिंह की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता पाकर इलेक्शन जीत लेता है और स्वयं को सरकार का हामी जता कर होमरूल का मेम्बर और मिनिस्टर बन जाता है। वह सोलह आने अवसरवादी है। वह अपनी अधिक से अधिक प्रतिष्ठा चाहता है। बदनामी का उसे बहुत भय रहता है। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही वह राजा सूर्यप्रतापसिंह की लड़की से अपने लड़के का विवाह करना चाहता है। प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ाने के लिए ही एक दूसरे ताल्लुकेदार कुँवर दिग्विजयसिंह से लड़की की शादी कर देता है। इलेक्शन जीत कर और मुकदमा जीत लेने से ससुराल की जायदाद पर अधिकार जमा कर वह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाता है। अपनी प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता के अहं को संतुष्ट करने के लिए ही वह राजा सूर्यप्रतापसिंह से अधिक चन्दा देता है।

परन्तु सुख फिर भी मृगमरीचिका बना हुआ है। उसका बेटा रुद्रपाल ही उसका कहना नहीं मानता। उसका वात्सल्य वंचित और दुखी होता है। यही नहीं, रुद्रपाल मुकदमा जीत कर बड़ी भारी सम्पत्ति उससे छीन लेता है। लड़की का अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस ओर से भी रायसाहब कम दुखी नहीं। कुल मिलाकर प्रेमचन्द ने उसके जीवन की विडम्बना का सच्चा चित्र प्रस्तुत किया है। अनेक झमेलों में पड़ा वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा में लगा हुआ है। किन्तु उसकी दीवारें हिल चुकी हैं।

धन-सम्पत्ति के होते हुए भी मानसिक सुख नहीं प्राप्त होता। सम्पत्ति भी नष्ट होती जा रही है। वह ह्रासोन्मुख सामंतवाद का प्रतीक है। उसकी रियासत का क्षय होता जा रहा है। धन के लिए उसे पूँजीपति के आगे हाथ पसारने पड़ रहे हैं।

उपर्युक्त वर्गगत प्रवृत्तियाँ और जीवन-परिस्थितियाँ होते हुए भी रायसाहब के चरित्र में कुछ निजी विशेषताएँ ऐसी हैं, जो उनके व्यक्तित्व को विशिष्ट एवं सजीव रूप प्रदान करती हैं। रायसाहब में सहनशीलता गजब की है, जो प्रायः इस वर्ग में कम होती है। वह मेहता की बातों को सह जाते हैं, अपने बेटे रुद्रपाल, खन्ना, तंखा आदि सबकी कड़वी बातों को पी जाते हैं। इस दृष्टि से राजा सूर्यप्रताप से उनका भेद स्पष्ट है। राजा सूर्यप्रताप रुद्रपाल के साथ अपनी लड़की के विवाह में काँटा बनी हुई सरोज के अस्तित्व को ही मिटा डालने की नीच बात कहते हैं, जबकि रायसाहब ऐसा सोच भी नहीं सकते। रायसाहब अपने वर्ग के लोगों को मनोवृत्ति के बिल्कुल विपरीत भोग-विलास से कोसों दूर हैं। वह विधुर-जीवन ही बिताते हैं, दूसरी शादी तक नहीं करते। शराब नहीं पीते। वह स्पष्ट कहते हैं—इन लोगों (अपने वर्ग के भाई-बन्धुओं) ने मुझे भोग-विलास में फँसाने के लिए कम चालें नहीं चलीं और अब तक चलते जाते हैं।' इस प्रकार रायसाहब का चरित्र अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। उसके चरित्र में प्रेमचन्द ने जो विरोधाभास प्रस्तुत किया है, वह एक अत्यन्त सफल मनोवैज्ञानिक युग-सत्य है।

मेहता : डॉ० मेहता यूनिवर्सिटी में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक हैं। उनका चरित्र आदर्शवादी है। 'गोरा चिट्टा रंग, स्वास्थ्य की लालिमा गालों में चमकती हुई, नीची अचकन, चूड़ीदार पाजामा, सुनहरी ऐनक, सौम्यता के देवता से लगते हैं।' 'दर्शन के गहरे अध्ययन में भी डॉ० बी० मेहता ने अपने स्वास्थ्य की पूरी रक्षा की थी।···उनकी मांसल भुजाएँ, चौड़ी छाती और मछलीदार जाँघें किसी पुरानी प्रतिमा के सुगठित अंगों की भाँति उनके पुरुषार्थ का परिचय दे रही थीं।' ऐसा आकर्षक व्यक्तित्व है मेहता का! उनकी योग्यता और व्यक्तित्व की विशिष्टता पर मालती एकबारगी मुग्ध हो जाती है।

मेहता अपनी आत्मा का सच्चा पुत्र है। उसे दिखावे और बनावट से घृणा है। उसके मन, वचन और कर्म में संगति है। वह जो कहता है, वही करता है। उसका चरित्र व्यक्ति-वैचित्र्य से पूर्ण है। दर्शन का प्राध्यापक होते हुए भी वह विनोदप्रिय, फक्कड़ और मस्त है। शिकार में वह बहुत आनन्द लेता है। प्रकृति के बीच वह चहक उठता है। प्रकृति उसके लिए आह्लाद और प्रेरणा की वस्तु है। अपने बगीचे में उसने तरह-तरह के फूल-पौधे लगाये हुए हैं और घण्टों उनमें खो जाता है। चाँदनी रात में नदी के तट पर वह चहक उठते हैं। वह स्वयं मालती से कहते हैं—'प्रकृति का स्पर्श होते ही जैसे मुझमें एक नया जीवन आ जाता है। नस-नस में स्फूर्ति दौड़ने लगती है। एक-एक पक्षी, एक-एक पशु जैसे मुझे आनन्द का निमन्त्रण देता हुआ जान पड़ता है।···यह आनन्द मुझे और कहीं नहीं मिलता —संगीत के मोहक स्वरों में भी नहीं, दर्शन की ऊँची उड़ानों में भी नहीं।' मेहता की मस्ती का यह हाल है कि शराब पीकर वह ऐसा मस्त हो जाता है कि 'उस मस्ती में उनका दर्शन उड़ जाता है और विनोद सजीव हो जाता है।' खान का

अभिनय करने और मिसेज़ खन्ना से रुपये झाड़ लाने में उनकी जिंदादिली सजीव हो उठी है। अभिनय का उन्हें बहुत शौक है। 'रूप भरने में वह अच्छे-अच्छों को चकित कर देते थे।'

आत्मसेवा से बढ़कर उनकी नजरों में कोई पाप नहीं था। उनका जीवन परोपकार, परसहायता और उदारता का जीवन है। अपने वेतन का अधिकांश वह गरीब विद्यार्थियों, अनाथों और विधवाओं की सहायता में दे देते हैं। अपने बारे में वह इतने लापरवाह हैं कि पुरानी अचकन से ही काम चलाते आ रहे हैं। नई बनवाने का उन्हें ध्यान ही नहीं। अपने व्यय का वह हिसाब नहीं रखते। मकान का किराया कई-कई महीने चुक जाता है। उनकी घरेलू व्यवस्था मालती ही ठीक करती है। जब मालती उनके लिए दो नई अचकनें और एक नई घड़ी मँगाकर देती है तो संकोच के मारे मेहता कई दिन घर से बाहर ही न निकले। आत्मसेवा से बड़ा उनकी नजर में दूसरा अपराध न था।

मेहता सतत् कर्मशील व्यक्ति हैं। अपना समय वे व्यर्थ नहीं गँवाते। 'डा० मेहता को काम करने का नशा था। आधी रात को सोते थे और घड़ी रात रहे उठ जाते थे। कैसा भी काम हो, उसके लिए वे कहीं न कहीं से समय निकाल लेते थे। हाकी खेलना हो या युनिवर्सिटी डिबेट हो, ग्राम्य संगठन हो या किसी शादी का नैवेद्य, सभी कामों के लिए उनके पास लगन थी और समय था।' लेखक के रूप में भी उनकी व्यस्तता कुछ कम न थी। वह पत्रों में लेख लिखते थे। वह कई साल से एक वृहद् दर्शन ग्रंथ लिख रहे थे। अपने बगीचे में बैठे वह पौधों पर विद्युतसंचार-क्रिया की परीक्षा करते थे। उन्होंने हाल में एक विज्ञान परिषद् में यह सिद्ध किया था कि फसलें बिजली के जोर से बहुत थोड़े समय में पैदा की जा सकती हैं। उनकी पैदावार बढ़ाई जा सकती है और बेफसल की चीजें भी उपजाई जा सकती हैं आखिर अपने अनवरत परिश्रम का वह फल पाते हैं। उनकी एक रचना को फ्रांस की एकेडमी ने इस शताब्दी की सबसे उत्तम कृति कहकर सम्मानित किया।

जैसा कि पहले कह आए हैं, मेहता का विशिष्ट जीवन-दर्शन है। वह रूप की अपेक्षा गुणों से आकर्षित होते हैं। नव-युग की रमणियों से पनाह मांगते हैं। पुरुषों की मण्डली में खूब चहकते, पर ज्योंही कोई महिला आई, आपकी जबान बन्द हुई। वह नारी-स्वच्छन्दता के विरोधी हैं। नारी का आदर्श वह सेवा, त्याग स्नेह और कर्त्तव्य-परायणता मानते हैं। मातृत्व उसकी उच्च सिद्धि है। नारी का कार्यक्षेत्र वह सेवा, त्याग, परोपकार, उदारता आदि में ही स्वीकार करने हैं, व्यर्थ के अन्य झमेलों में नही। फैशन और विलास-भावना से उन्हें चिढ़ है। गोविन्दी को वह आदर्श नारी मानते हैं। दाम्पत्य से बाहर नर-नारी के प्रेम को वह धोखा कहते हैं। गोविन्दी के प्रति श्रद्धा से गद्गद् होकर वह उसके जरा-से संकेत पर जीवन-भर शराब न पीने की कसम खा लेते हैं।

मेहता गम्भीर प्रकृति के दार्शनिक हैं। किसी भी प्रश्न पर अपने विचार प्रकट करते समय जैसे वह अपनी आत्मा ही उसमें डाल देते हैं। खुर्शेद को वह स्पष्ट कहते हैं

कि जब तक सारी समाज-व्यवस्था नहीं बदल जायेगी, तब तक केवल कुछ क्षेत्रों में सुधार करने से कुछ न होगा। खन्ना को भी उन्होंने मजदूरों का वेतन कम न करने का उचित परामर्श दिया। उनकी राय लेने को सब उत्सुक रहते हैं। राय साहब को उन्होंने समझाया कि बालिग लड़के की शादी के बारे में माँ-बाप को अपनी मर्जी नहीं चलानी चाहिए। विवाह को वह एक सामाजिक समझौता बताते हैं, जिसे तोड़ने का हक पति पत्नी में से किसी को नहीं। 'समाज की दृष्टि से वह विवाहित जीवन को और व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ' मानते हैं।

आरम्भ में मालती के तितली रूप से मेहता आकर्षित नहीं होते। उसे परीक्षक की दृष्टि से देखते रहते हैं। किन्तु जब बाद में मालती उनके आदर्श पर चलकर सेवा, त्याग, और परोपकार की उच्च प्रवृत्तियाँ अपना लेती है, उसका मातृरूप भव्य रूप से प्रकट होता है, तब मेहता मालती के लिए व्याकुल हो उठते हैं। अब मालती उनके लिए श्रद्धा की वस्तु बन गई थी। जिस मालती को मेहता ने खन्ना और गोविन्दी के बीच से हटाकर, तितली के स्थान पर सेवा त्याग की मूर्ति बनाया; वह भी मेहता को अपना श्रद्धा-पात्र मानती है। दोनों पवित्र प्रेमपाश में बँध जाते हैं।

इस प्रकार मेहता का चरित्र व्यक्ति-वैचित्र्य से पूर्ण है। उसमें अपने दर्शन के प्राध्यापक-वर्ग की अपेक्षा व्यक्तिगत चारित्रिक विशिष्टताएँ अधिक हैं। आदर्श पात्र होते हुए भी वह मानव है। जीवन पर उसकी अडिग आस्था है। जीवन को पूर्ण बनाना ही उसका जीवन-लक्ष्य है। वह ईश्वर, मोक्ष और वैराग्य में भी विश्वास नहीं रखता। जहाँ जीवन है, वहीं ईश्वर मानता है और जीवन को पूर्ण बनाना ही मोक्ष बताता है।

अन्य पुरुष-पात्र : 'गोदान' के शहरी पुरुष-पात्रों में **मिर्जा खुर्शेद** भी विशेष आकर्षक हैं। इनका चरित्र भी व्यक्ति-वैचित्र्य से परिपूर्ण है। 'मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूछें, नीली आँखें, दोहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहने थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिंग के समय चौंक पड़ते थे और नेशनलिस्टों की तरफ से वोट देते थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे ; मगर शराब खूब पीते थे। बड़े दिल्लगीबाज, बेफिक्रजीव थे। पहले बसरे में ठेके का कारोबार करते थे। लाखों कमाये; मगर शामत आई कि एक मेम से आशनाई कर बैठे। मुकदमेबाजी हुई। जेल जाते-जाते बचे। चौबीस घण्टे के अन्दर मुल्क से निकल जाने का हुक्म हुआ। जो कुछ जहाँ था, वहीं छोड़ा और सिर्फ पचास हजार रुपये लेकर भाग खड़े हुए। बम्बई में···एजेण्टों ने जाल करके उनसे वह पचास हजार ऐंठ लिये। निराश होकर वहाँ से लखनऊ चले। गाड़ी में एक महात्मा से साक्षात् हुआ। महात्मा जी ने सब्ज बाग दिखाकर उनकी घड़ी, अगूठियाँ, रुपये सब उड़ा दिए। बेचारे लखनऊ पहुँचे, तो देह के कपड़ों के सिवा और कुछ न था।···मित्रों की मदद से एक जूते की दुकान खोल ली।' कौंसिल के मेम्बर भी बन गए।

मिर्जा खुर्शेद का व्यक्तित्व बड़ा ही सजीव है। धनुष-यज्ञ प्रसंग पर, शिकार खेलते समय तथा अन्य सब अवसरों पर उनकी मस्ती और ज़िन्दादिली स्पष्ट दिखाई देती

है। शिकार का सच्चा आनन्द मिर्जा ने ही उठाया। सहृदय इतना कि गाँव के लोगों में रहकर सारा दिन खेल और विनोद में बिता दिया। उनकी विनोदी प्रकृति तन्खा का भी अच्छा उल्लू बनाती है। वह बूढ़ो में बूढ़ा, जवानों में जवान और बच्चों में बच्चा बन जाता है। कोई-न-कोई इल्लत मिर्जा खुर्शेद को सूझी रहती है। उसका अमीरों से पैसा लेकर गरीबों में बाँटने का ढंग भी अजीब है। वह जिस प्रौढ़ कबड्डी का तमाशा रचता है, वह विचित्र है। कभी श्रमजीवियों का साथ देता है, कभी वेश्याओं की समस्या सुलझाता हुआ उनकी नाटक-मण्डली बनाता है। उपन्यास में जहाँ भी वह प्रकट हुआ है, उसका विशिष्ट व्यक्तित्व अलग दिखाई देता है।

'मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति था। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछतावा था, न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था उसमें वह जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मण्डली में वह विनोद के पुतले थे। कौन्सिल में उनसे ज्यादा उत्साही मेम्बर कोई न था। जिस प्रश्न के पीछे पड़ जाते थे, मिनिस्टरों को रुला देते थे। उनके लिए आज जीवन था, कल का पता नहीं। गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत करते थे।...न अपना लेना याद रखते, न दूसरों का देना। शौक था शायरी और शराब का।' वर्तमान डेमॉक्रेसी से मिर्जा बेजार आ चुके थे : 'जरा सा काम और महीनों की बहस। जनता की आँखों में धूल झोंकने का स्वाँग बनाते हैं।...जिसे हम डेमॉक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है ; और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं।...मैंने तो इरादा कर लिया है कि अब इलेशक्न के पास न जाऊँगा। मेरा प्रापेगेण्डा अब डेमॉक्रेसी के खिलाफ होगा।' मिर्जा खुर्शेद दौलत को बुरी चीज मानते हैं। वह कहते हैं—'दौलत मेरे पाँव चूमती थी। मैं जानता हूँ, दौलत से आराम और तकल्लुफ के कितने सामान जमा किये जा सकते हैं, मगर यह भी जानता हूँ कि दौलत इन्सान को कितना खुदगरज बना देती है, कितना ऐशपसन्द, कितना मक्कार, कितना बेगैरत।'

"मिर्जा का हाता क्लब भी है, कचहरी भी, अखाड़ा भी। दिनभर जमघट लगा रहता है। मुहल्ले में अखाड़े के लिए कहीं जगह न मिलती थी। मिर्जा ने एक छप्पर डलवाकर अखाड़ा बनवा दिया। वहाँ नित्य सौ-पचास लड़न्तिये आ जुटते हैं। मिर्जा जी उनके साथ जोर करते हैं। मुहल्ले की पंचायतें भी यहीं होती हैं।" मिर्जा की उदार प्रकृति है कि गोबर उनकी कोठरी में साल भर रहता है, मगर उन्होंने एक पैसा किराया नहीं लिया। शराब की लत मिर्जा को गोबर से रुपये उधार माँगने पर मजबूर करती है। उनके हाथ में रुपये टिकते ही न थे, इधर आये, उधर गायब ! शराब के बिना मिर्जा जिन्दा नहीं रह सकते। वह दो रुपये में अपनी अँगूठी तक गोबर के पास रखने को तैयार हो जाते हैं।

मिल-मालिक चन्द्रप्रकाश खन्ना व्यावसायिक बुद्धि का पूंजीपति है। वह एक मामूली आदमी से बैंक का मैनेजर और उद्योगपति बन जाता है। शक्कर मिल खोल

देता है। पैसा कमाने के लिए जो 'तपस्या' करनी पड़ती है वह उसने खूब की। सारा दिन धन कमाने की धुन में लगा, बीवी-बच्चों और घर से वैराग्य लिया। अपने सिद्धान्तों की हत्या की। मिल में किसानों की ऊख तौलने के लिए खास नौकर रखे, नकली बाट रखे, 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' का टका-धर्म अपनाया, तब कहीं जाकर दौलत जमा हुई। शक्कर मिल में आग लग जाने से उन्हें भारी दुख हुआ। वह सिर पीट लेता है। धन की हानि से उनकी मानवता जाग जाती है वह अब अनुभव करने लगे हैं कि गोविन्दी के प्रति उन्होंने कितना अत्याचार किया !

खन्ना के चरित्र में भी प्रेमचन्द ने मानवीय 'सु' और 'कु' प्रवृतियों का अच्छा द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। "अन्य कितने ही प्राणियों की भाँति खन्ना का जीवन भी दोहरा या दो-रूखी था। एक ओर वह त्याग और जनसेवा और उपकार के भक्त थे, तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास और प्रभुता के।···कदाचित् उनकी आत्मा का उत्तम आधा सेवा और सहृदयता से बना हुआ था, मद्धिम आधा स्वार्थ और विलास से। पर उत्तम और मद्धिम में बराबर संघर्ष होता रहता था। और मद्धिम ही अपनी उद्दण्डता और हठ के कारण सौम्य और शांत उत्तम पर गालिब आता था। उनका मद्धिम मालती की ओर झुकता था, उत्तम मेहता की ओर"। मिल में आग लगने से पूर्व खन्ना का मद्धिम प्रबल था। वह अपने धन के नशे में विलास और ऐश्वर्य को ही जीवन समझते थे। मिस मालती पर यह बुरी तरह रीझे हुए थे। वह इसी कारण अपनी सती-साधवी पत्नी गोविन्दी को भी खातिर में नहीं लाते थे, घर-बच्चों से विशेष लगाव नहीं रखते थे। मालती की एक-एक फर्माइश पूरी करना वह अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनकी व्यावसायिक बुद्धि अपने मित्रों से भी लाभ कमाने में नहीं हिचकती थी। जब रायसाहब को इलेक्शन और मुकदमा लड़ने तथा लड़की की शादी करने के लिए रुपये की सख्त जरूरत होती है, तो खन्ना अपने प्रयत्नों से, बड़ी कठिनाई से रुपया दिलाने की सूरत में अपना कमीशन माँग लेते हैं। रायसाहब उनके अन्तरंग मित्र थे। पर इस मामले में लिहाज करना उन्होंने सीखा ही न था। 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस'—भला व्यापार में भाई और मित्र कैसे ? व्यापार, व्यापार है, मित्रता और भाई-चारा अलग बात है। इस प्रकार की स्वार्थी मनोवृत्ति वाले खन्ना की आँखें तब खुलती हैं, जब उसकी मिल जलकर राख हो जाती है। वह सिर पीट लेता है, सान्त्वना के वचनों को पाने के लिए निरीह प्राणों की तरह मेहता और गोविन्दी की ओर देखता है। इसके साथ ही जब मालती उसे अँगूठा दिखा जाती है, तब उसे अपनी पत्नी के सच्चे प्रेम का ज्ञान होता है। तब उसका उत्तम सजग हो जाता है और मद्धिम दब जाता है।

शहरी पात्रों में 'बिजली-सम्पादक ओंकारनाथ भी उल्लेखनीय हैं। आप खद्दर के धोती-कुरता पहनते हैं और ऐनक लगाते हैं। 'देश-चिन्ता ने इन्हें घुला डाला है।' प्रेमचन्द ने समाज में विकसित होने वाले नये-नये वर्गों और उनके प्रतिनिधि व्यक्तियों का भी ध्यान रखा है। शहरी पात्रों में पत्रकार ओंकारनाथ और तंखा ऐसे ही व्यक्ति हैं। ओंकारनाथ अपना पत्र चलाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाते हैं। सिद्धांत

उन्होंने बहुत ऊँचे बना रखे है—जनता की सेवा, सच्चाई और स्वदेशी आदि देश-हितों की रक्षा, अन्याय का पर्दाफाश करके न्याय की निर्भीक प्रतिष्ठा आदि उनके आदर्श हैं, पर सिद्धान्तों और व्यवहार में टक्कर होती रहती है। उनके पत्र को आर्थिक संकट हर-दम रहता है। इसे दूर करने के लिए उन्हें अपने सिद्धान्तों को किनारे रखना पड़ता है, सहायता के लिए याचना करनी पड़ती है और स्वार्थ का पल्ला पकड़ना पड़ता है। स्वदेशी के जबरदस्त हामी होते हुए भी, विज्ञापन का लाभ कमाने के लिए, विदेशी दवाइयों और वस्तुओं के वह विज्ञापन छापते हैं। रायसाहब से सौ ग्राहकों के चन्दे का वायदा पाकर उनकी सत्य-वाणी गूँगी हो जाती है। पत्र की सहायता के लिए वह मिसेज खन्ना की चापलूसी करते हैं। अपने पत्र को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए वह कोई न-कोई बितण्डा छेड़े रखना चाहते हैं। मजदूरों का भड़का कर हड़ताल करा देते हैं, पर कुर्बानी के वक्त पीछे हट जाते हैं।

ओंकारनाथ सरल-सीधे स्वभाव के हैं। जरा-सी प्रशंसा और सहानुभूति से वह फूल जाते हैं। धनुष-यज्ञ प्रसंग पर मालती जिस ढंग से उनको उल्लू बनाती है, कोई पत्र-कार शायद ही ऐसा बुद्धू हो कि मालती के मजाक को न समझ सके। पर ओंकारनाथ की यह विचित्र दुर्बलता है। इसी कारण उनकी पत्नी भी उन्हें बुद्धू कहती है—"इसीसे तो मैं तुम्हें बुद्धू कहती हूँ, जरा किसी ने सहानुभूति दिखाई और तुम फूल उठे।" मालती द्वारा प्रशंसा सुनकर ओंकारनाथ ऐसा उल्लू बन गया कि शराब न पीने के अपने नियम को भी उसने एक क्षण में तोड़ डाला।

श्यामबिहारी तंखा एक और विचित्र शहरी पात्र है। वह इस ढंग के नवयुग के स्वार्थी व्यक्तियों का प्रतिनिधि भी है और अपने विचित्र रूप-चरित्र में व्यक्ति-विशिष्ट भी है। 'दूसरे महाशय जो कोट-पैन्ट में हैं, वह हैं तो वकील; पर वकालत न चलने के कारण एक बीमा-कम्पनी की दलाली करते हैं। और ताल्लुकेदारों को महाजनों एवं बैंकों से कर्ज दिलाने में वकालत से कहीं ज्यादा कमाई करते हैं।' तंखा पूरा स्वार्थी और चाल-बाज आदमी है। वह जहाँ जाता है, अपने मतलब की बात करता है। शिकार में उसे कोई रुचि नहीं। प्रेमचन्द उसका परिचय देते हुए कहते हैं—"मि० तंखा दांव-पेच के आदमी थे, सौदा पटाने में, मुआमला सुलझाने में, अडंगा लगाने में, बालू से तेल निका-लने में, गला दबाने में, दुम झाड़कर निकल जाने में बड़े सिद्धहस्त। कहिये तो रेत में नाव चलादें, पत्थर पर दूब उगा दें। ताल्लुकेदारों को महाजनों से कर्ज दिलाना, नयी कम्पनियाँ खोलना, चुनाव के अवसर पर उम्मीदवार खड़े करना—यही उनका व्यवसाय था। खासकर चुनाव के समय उनकी तकदीर चमकती थी। किसी पोढ़े उम्मीदवार को खड़ा करते,···दस-बीस हजार बना लेते।'जब जिसका जोर देखा, उधर हो गए। शहर के रईसों व अफसरों से मेल-जोल रखते थे। वह रायसाहब को राजा सूर्यप्रतापसिंह के विरुद्ध खड़ा कर देता है, इस विश्वास पर कि बाद में राजा साहब से बीस-तीस हजार उड़ाकर रायसाहब को बिठा दिया जाय। मगर इस तरह कुछ बनता न देख, और राय साहब से कुछ मिलने की उम्मीद न पाकर, राजा सूर्यप्रतापसिंह का पक्ष लेते हैं और उनसे दस-बीस हजार बनाना चाहते हैं। राजा सूर्यप्रतापसिंह उसे परले दर्जे का बेईमान

कहता है। जब रायसाहब मिनिस्टर बन जाते हैं तो तंखा उनकी खुशामद और चिरौरी के लिये हाजिर हो जाता है। वह मतलब के लिए गधे को बाप बना लेता है। जब खुर्शेद उसे यह लोभ देते हैं कि वह चुनाव में तंखा की मर्जी के मुताबिक खड़े हो जायेंगे, और जैसे वह कहेंगे बैठ जायेंगे तब लोभ में आकर वह हिरण को उठाले चलता है। मिर्जा खुर्शेद ने उसको खूब उल्लू बनाया।

गाँव के पुरुष-पात्रों में—**दातादीन, झिंगुरी, नोखेराम, पटेश्वरी** आदि एक ही थैली के चट्टे-बट्टे, शोषक पात्र हैं। ये ग्राम-समाज के स्तम्भ बने हुए हैं और अपने वर्ण और पैसे की उच्चता से प्रतिष्ठित हैं। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, छापा-तिलक सब करते हैं, पर भगवान् के सामने से उठते ही इनकी मनुष्यता न-जाने कहाँ भाग जाती है। ये सब स्वार्थी-शोषक हैं। बेगार, डाँड, दलाली, अत्यधिक सूद लेकर ये किसानों को लूटते हैं। पर इनके भी व्यक्तित्व की विशिष्ट अलग-अलग रेखाएँ स्पष्ट प्रस्तुत की गई हैं। झिंगुरी सिंह सबसे अलग—'नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछों वाले आदमी थे, बिल्कुल विदूषक जैसे। और थे भी बड़े हँसोड़। इस गाँव को अपनी ससुराल बनाकर मर्दों से साले या ससुर और औरतों से साली या सहलज का नाता जोड़ लिया था। रास्ते में लड़के उन्हें चिढ़ाते—पण्डितजी पाल्लगी! (क्योकि ठाकुर झिंगुरी ने एक ब्राह्मनी रखी हुई थी)। और झिंगुरीसिंह उन्हें चटपट आशीर्वाद देते—तुम्हारी आँखें फूटें, घुटना टूटे···आदि···मगर लेने-देने के मामले में बड़े कठोर थे।' वह शहर के बड़े महाजन का एजेण्ट है। पक्का कागज लिखाते हैं, नजराना अलग लेता है ,दस्तूरी अलग, स्टाम्प की लिखाई अलग। उस पर एक साल का ब्याज अलग पेशगी काटकर रुपया देता है। पच्चीस रुपये का कागज लिखो तो मुश्किल से सत्रह रुपये हाथ लगते थे।

नोखेराम : "नाटे, मोटे, खल्वाट, लम्बी नाक और छोटी-छोटी आँखों वाले साँवले आदमी थे। बड़ा-सा पग्गड़ बाँधते, नीचा कुरता पहनते और जाड़ों में लिहाफ ओढ़कर बाहर आते-जाते थे। उन्हें तेल की मालिश कराने में बड़ा आनन्द आता था, इसलिए उनके कपड़े हमेशा मैले, चीकट रहते थे।" राम-भक्ति उन्होंने पिता की परंपरा से पाई थी। घंटों बैठे घंटियाँ बजाते थे। जमींदार रायसाहब के कारिन्दे थे। वेतन तो थोड़ा ही था, पर रौब बहुत था। सख्ती से लगान वसूल करते थे। बेगार लेना, नजर-नजराना उड़ाना और कभी-कभी बेईमानी से दोबारा लगान वसूल करना तथा महाजनी चलाना उनके भयंकर धन्धे हैं।। डाँड-रिश्वत का मौका भी नहीं छोड़ते। नोहरी के प्रसंग में उनकी विशिष्टता पूरी तरह लक्षित होती है। नोहरी को वह रख लेते हैं। कोई उनकी या नोहरी की शान में एक शब्द भी ऐसा-वैसा नहीं कह सकता। पटेश्वरी को वह ऐसा आड़े हाथों लेते हैं कि वह बेदम हो जाता है।

दातादीन : गाँव के नारद हैं। जन्म में, शादी-ब्याह में, मरण में सब अवसरों पर पुरोहित बनकर लेने वाले। पोथी-पत्रा बाँचकर वह कमायें, बेगार वह लेवें, महाजनी उनकी, डांड नजारना उनका। धर्म के नाम पर शोषण वह करें, व्यवहार के नाम पर वह। स्वार्थी और हृदय-हीन! अपनी जवानी में कम रसिया भी नहीं थे। हँसते हुए

उनकी हँसी लम्बी मूँछों में छिप जाती थी। जात-पाँत, छुआ-छूत उनका सामाजिक विधान था। उनका बेटा **मातादीन** भी आरम्भ में पिता का अनुचर है। वह सिलिया चमारिन को फंसा लेता है। उसका सब तन-मन ले लेता है, पर अपना छटाँक-छदाम भी नहीं देता। चमारों द्वारा उसकी दुर्गति होने पर, उसे जो पश्चात्ताप करना पड़ा, और वह बीमार रहता है, उससे उसकी मानवता पवित्र हो जाती है। प्रेमचन्द के पात्रों में एक यह भी सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य रहता है कि वे विपत्ति, दुःख और संकट में अपनी मानवता को खोजते दिखाई देते हैं। मिल जलने के बाद खन्ना में तथा चोट लगने के पश्चात् गोबर के व्यवहार में परिवर्तन इसी तथ्य को प्रकट करता है। मातादीन भी प्रायश्चित्त के ढोंग से दुखी होकर तथा महीना भर मलेरिया से बीमार रहने के बाद अपनी मानवता पा जाता है। वह अपनी प्रेम की देवी सिलिया के मन्दिर का पुजारी बन जाता है और अपना सच्चा धर्म पहचान लेता है।

गोदान के नारी-पात्र

देश-काल के विचार से 'गोदान' के नारी,पात्रों में पर्याप्त विविधता है। नारी-पात्र भी पुरुष-पात्रों से कम सजीव नहीं हैं। इनमें कुछ शहरी नारी-पात्र हैं, अधिकांश ग्रामीण हैं। प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण नारी-पात्रों में पर्याप्त विविधता और अपेक्षाकृत अधिक सजीवता प्रकट की है। धनिया, सिलिया, सोना, झुनिया, आदि अमर नारी-पात्र हैं।

धनिया—होरी की पत्नी धनिया जबान की तीखी किन्तु हृदय की अत्यन्त कोमल नारी है। घर की निरन्तर निदारुण दरिद्रता ने ही उसे तीखा बनाया हुआ है, अन्यथा उसका सरल, कोमल, प्रेम- विह्वल हृदय वाणी के माधुर्य से भी अपरिचित नहीं है। जीवन में कभी उसे सुख न मिला। घर के प्राणी दाने-दाने को तरसते हैं, घी-दूध अंजन लगाने तक को नहीं मिलता। अपने "विवाहित जीवन के बीस बरसों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट तन काटो···मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।···उसके तीन लड़के बचपन में ही मर गये। उसका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवा-दारू होती तो बच जाते, पर वह एक धेले की दवा भी न मंगवा सकी थी। उसकी ही उम्र क्या थी ! छत्तीसवाँ ही वर्ष तो था; पर सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं; सारी देह ढल गई थी, वह सुन्दर गेहुआँ रंग सँवला गया था और आँखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो ! कभी तो जीवन का सुख न मिला।···जिस गृहस्थी में पेट की की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ! इस परिस्थिति से उसका मन बराबर विद्रोह किया करता था···।"

उसका हृदय मातृ-वात्सल्य, पति-प्रेम और यहाँ तक कि उदार मानवीय प्रेम से परिपूर्ण है। घर के प्रणियों पर वह जान देती है। अपने बच्चों से उसका अटूट स्नेह है। जब झुनिया को गोबर घर छोड़ जाता है, तब पहले तो उसका सती नारीत्व क्रोधित हो उठता है, वह होरी से कहती है—"मैं तुमसे कहे देती हूँ, मैं उसे अपने घर न रखूंगी।

मेरे घर में ऐसी छत्तीसियों के लिए जगह नहीं है।" किन्तु जब उसे ख्याल आता है कि कुछ हो, आखिर है तो मेरे पुत्र की करतूत; मेरे पुत्र का ही अंश वह पेट में लिए है, और फिर अब इस अवस्था में बेचारी कहाँ जायेगी, तो उसका उदार मातृत्व और नारीत्व जाग जाता है। सहसा उसने होरी के गले में हाथ डालकर कहा—"देखो, तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। भाग की खोटी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता। इतनी रात गए इस अँधेरे सन्नाटे में जाएगी कहाँ, पाँव भारी है।" और वह झुनिया को अपनी पुत्र-वधू बनाकर रख लेती है, समाज-बिरादरी की कुछ परवा नहीं करती। पोते के जन्म पर अकेले ही मंगल-गीत गाती है। जब गोबर एक साल बाद शहर से कमा कर आता है, तो अपने पुत्र को पाकर माता का हृदय फूला नहीं समाता। जीवन में पहली बार भगवान् ने उस पर दया की है। वह कोमलता और उदारता की मूर्ति बन जाती है। "भीतर की शान्ति बाहर सौजन्य बन गई थी।" यही नहीं, उसका नारीत्व और भी उदार है। वह जिस उदारता, निर्भयता और स्नेह से निराश्रिता सिलिया चमारिन को आश्रय देती है, वह उसके उदार मातृत्व और नारीत्व का भव्यतम रूप है। वह कहती है—"जगह की कौन कमी है बेटी! तू चल, मेरे घर रह।" होरी धनिया से कातर स्वर में कहता है—बोलती तो है, लेकिन पण्डित को जानती नहीं!" इस पर उसका सत्य नारीत्व निर्भीकता से कहता है—"बिगड़ेंगे तो एक रोटी बेसी खा लेंगे और क्या करेंगे। कोई उनकी दबैल हूँ! इसकी इज्जत ली, बिरादरी से निकलवाया, अब कहते हैं, मेरा कोई वास्ता नहीं। आदमी है कि कसाई।"

अपने पति से उसका रोम-रोम प्रेम की अटूट गाँठें बाँधे है। अपनी दयनीय परिस्थिति से खीझ कर उसका मन पति से बात-बात पर विरोध करता है, खीझता है, पर थोड़ी देर की खीझ-झगड़ के बाद प्रेम दुगने वेग से रीझ उठता है। "विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी।" वह पति के अशुभ का एक शब्द भी किसी से नहीं सुन सकती। जब होरी कहता है कि 'साठे तक पहुँचने की नौबत ही न आयगी, पहले ही चल देंगे,' तो वह मर्माहत हो उठती है। जब होरी बीमार पड़ता है, तो वह सारा मान-मनमुटाव भूलकर उसकी जी-जान से सेवा करती है। जब होरी दातादीन की मजूरी करते हुए निढाल होकर गिर जाता है, तब उसके प्राण सूख जाते हैं। प्रेम की कितनी उदात्त, उज्ज्वल और गहन झाँकी है! इस दाम्पत्य-प्रेम के आगे रीतिकालीन हजार नायिकाओं का प्रेम तुच्छ है। ऐसी पत्नी, ऐसी गृहिणी पाकर होरी अपने को धन्य समझता है। वह गद्‌गद् कहता भी है—"सेवा और त्याग की देवी! जबान की तेज़ पर मोम जैसा हृदय! पैसे-पैसे के पीछे प्राण देने वाली, पर मर्यादा-रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार।" वह पतिव्रता भारतीय नारी है। कभी किसी ने उसे किसी छैला की ओर ताकते नहीं देखा। पटेश्वरी ने एक बार कुछ छेड़ की थी। उसका ऐसा मुँह-तोड़ जवाब दिया कि आज तक नहीं भूले। दया, माया, ममता, सेवा, त्याग, कर्त्तव्य और परिश्रम की यह अनगढ़ मूर्ति कितनी भव्य है, कितनी वन्दनीया!

वह बहुत परिश्रमशीला है। घर में ही नहीं, खेत-खलिहान में भी वह पति के बराबर काम करती है। सर्दी-गर्मी, सोखा-वर्षा सब-दिन वह खपती है, मेहनत करती है। इस मेहनत ने ही उसे स्वाभिमानिनी और रण-चण्डी निर्भीक नारी बना दिया है। उसका मन यह कभी नहीं समझ पाता कि मेहनत वह करें, दिन-रात वह मरें, और उनकी मेहनत का फल दूसरे उठा जावें। इस स्थिति से उसका मन सदा विद्रोह करता है। गाय मर जाने के प्रसंग पर जब दारोगा धाँधली मचाता है और गाँव के स्तम्भ होरी को लुटवा कर अपना भी दाल-दलिया बनाना चाहते हैं, तो उसका विद्रोही मन चण्डी बन जाता है। वह जिस साहस और विक्षोभ के साथ दारोगा और मुखिया लोगों को फट-कारती है, वह उसे वीर नारी सिद्ध करता है। उसके इस चण्डी रूप की चर्चा कई दिनों तक आस-पास के गाँवों में होती रही। पंचों-द्वारा डाँड लगाये जाने पर भी उसका विद्रोही हृदय ललकार उठता है। जब होरी दाना-दाना ढोकर पंचों के यहाँ पहुँचा देता है, खलिहान में केवल डेढ़-दो मन जौ रह जाता है तो चोट खाई नागिन की तरह धनिया का वही मन फुत्कार कर उठता है। वह पूरी शक्ति लगाकर होरी के हाथ से टोकरी पकड़ लेती है और कहती है—"इसे तो मैं न ले जाने दूंगी, चाहे तुम मेरी जान ही ले लो। मर-मरकर हमने कमाया, पहर रात-रात को सींचा, अगोरा, इसीलिए कि पंच लोग मूँछों पर ताव देकर भोग लगायें और हमारे बच्चे दाने-दाने को तरसें। तुमने अकेले ही सब कुछ नहीं कर लिया है। मैं भी अपनी बच्चियों के साथ सती हुई हूँ।" वह पंचों को खरी-खरी सुनाती है। जब भोला होरी के घर आकर आग्रह करता है कि या तो झुनिया को घर से निकाल दो, या मेरे रुपये दो, नहीं तो मैं बैलों की जोड़ी ले जाऊँगा ?' तो धनिया बड़े साहस और अधिकार से कहती है—'तो मेहता, मेरी भी सुन लो। जो बात तुम चाहते हो, वह न होगी, सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है।' यह वीर नारी स्वाभिमान की भी पुतली है। जीवन-भर दाने-दाने को तरसते रहने पर भी उसने किसी के आगे सिर झुकाना नहीं सीखा। सिर क्यों झुकायें, अपनी मेहनत की खाते हैं, नहीं मिलती तो भूखे रहते हैं। किसी के दबैल नहीं। जब होरी और वह दातादीन की मजूरी करने पर विवश होते हैं और दातादीन सख्ती से काम लेता है, और डाँटता हुआ कहता है—'अगर यही हाल है तो भीख भी माँगेगी।' तब धनिया का विद्रोही मन कह उठता है—'भीख माँगो तुम, जो भिखमंगों की जात हो। हम तो मजूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायेंगे।'

वह मर्यादा की भी पक्की है। अन्याय और अत्याचार पर आधारित बिरादरी के बन्धन और मर्यादा की बातें उसे कदापि मान्य नहीं। पर भलमनसाहत के रूप में वह मर्यादा पालन करने को सदा तैयार रहती है। सोना के विवाह के अवसर पर पहले तो वह होरी को कहती है कि किसी से उधार लेने और दान-दहेज देने की कोई जरूरत नहीं है। यह उसके स्वाभिमानी हृदय का स्पष्ट मर्यादा-विद्रोह है। किन्तु जब गौरी महतो का पत्र आता है तो वह बदल जाती है। वह तब कहने लगती है—"यह गौरी महतो की भलमंसी है; लेकिन हमें भी तो अपनी मरजाद का निर्वाह करना है। संसार क्या

कहेगा। रुपया हाथ का मैल है। उसके लिए कुल-मरजाद नहीं छोड़ी जाती। जो कुछ हमसे हो सकेगा, देंगे और महतो को लेना पड़ेगा।" जब होरी उसके मिजाज की आलोचना करता हुआ कहता है—"यह तूने क्या कर डाला धनिया! तेरा मिजाज आज तक मेरी समझ में न आया। तू आगे भी चलती है, पीछे भी चलती है। पहले तो इस बात पर लड़ रही थी कि किसी से एक पैसा करज मत लो, कुछ देने-दिलाने का काम नहीं है और जब भगवान् ने गौरी के भीतर बैठ कर यह पत्र लिखवाया, तो तूने कुल-मरजाद का राग छेड़ दिया। तेरा मरम भगवान् ही जाने।" तब धनिया अपने मिजाज की विचित्रता का रहस्य खोलती हुई कहती है—"मुँह देखकर बीड़ा दिया जाता है। जब गौरी अपनी शान दिखाते थे, अब वह भलमंसी दिखा रहे हैं। ईंट का जवाब चाहे पत्थर हो, लेकिन सलाम का जवाब गाली नहीं है।" दारोगा द्वारा तलाशी की धमकी के प्रसंग में, झुनिया के रखने पर बिरादरी की मर्यादा के अवसर पर, सिलिया चमारिन को रखने में जाति मर्यादा के प्रश्न पर उसकी मर्यादा-विरोधी प्रकृति स्पष्ट व्यंजित हुई है। ऐसी अन्याय पर आधारित मर्यादा का पालन करना वह नहीं चाहती। सच तो यह है कि जहाँ अन्याय है, अत्याचार है वहीं विद्रोही धनिया है। एक तरह से धनिया होरी की पूर्ति है। अपनी विवशता और बाह्य दुर्बलता के कारण होरी को अन्याय, शोषण, बिरादरी आदि का सामना करना पड़ता है—यह होरी की अपूर्णता है। धनिया इस समस्त अत्याचार, अन्याय और शोषण का विरोध करती है। एक तरह से होरी या भावी किसान की वह क्रांतिकारी आत्मा बनी हुई है : अपूर्ण होरी की पूर्ति है।

साधारण समझ-बूझ भी उसमें पर्याप्त है। कई बार वह इस दृष्टि से होरी की अपेक्षा अधिक चतुर दिखाई देती है। वह बात को जल्दी भाँप लेती है। जब गोबर गाय लेकर अहिराने में से दोपहर तक नहीं लौटता और होरी चिन्ता करता है, तो वह बड़ी निश्चिन्तता से कहती है—"गोबर साँज को आयेगा"। उसकी सहज बुद्धि अपने पुत्र और भोला की विधवा लड़की के सम्बन्ध को भाँप लेती है। वह दारोगा और पंचों की बदमाशी समझ जाती है। गाय आने के बाद जब रात को होरी का मन क्षुब्ध हो जाता है और वह गाय वापस लौटाने की सोचता है और धनिया से कहता है कि लोग हमारी चर्चा करते हैं, कहते हैं, भाइयों के दाबे हुए रुपयों से ही गाय लाई नई है, तो धनिया एकदम भाँप जाती है कि यह स्वर किसका है। वह निश्चित भाव से कहती है—'हीरा कहता होगा!"

वह एक अनपढ़ औरत है। अतः ऐसी नारी में विद्यमान अन्ध-विश्वास आदि दुर्बलताएँ उसमें पाई जाती हैं। गाय के आने पर उसे नजर लगने का भय है। वह गाय को बाहर बाँधने नहीं देती। वह गाय के गले में काला धागा बाँध देती है। अपने देवरों के प्रति भी उसके मन में क्रोध और असहिष्णुता का भाव है। वह हीरा से भिड़ जाती है और उसे जेल भिजवाने पर तैयार हो जाती है। जिन देवर-देवरानियों के लिए एक समय उसने इतना किया, अपनी जान खपाई, देवरों को पुत्रों की तरह रखा; उनकी ईर्ष्या और जलन वह सह नहीं सकती। अपनी जरा-सी प्रशंसा सुनकर धनिया फूल जाती है।

पहले तो वह भोला को भूसा देने का विरोध करती है, पर जब होरी कहता है कि भोला तेरी बहुत प्रशंसा कर रहा था—'ऐसी लच्छमी है, ऐसी सलीकेदार है !' तो यह सुनकर धनियाँ के मुख पर स्निग्धता झलक आती है, हृदय गद्‌गद् हो जाता है। वह एक नहीं, तीन-तीन बड़े खाँचे भूसे के भरकर देने का आग्रह करने लगती है। होरी उसके इस परिवर्तनशील स्वभाव की आलोचना करता हुआ कहता है—"या तो चलेगी नहीं या चलेगी तो दौड़ने लगेगी।"

इस प्रकार धनिया का चरित्र एक कृषक-नारी का वर्गगत सजीव-रूप भी है और व्यक्तिगत विशिष्टता से ओत-प्रोत भी। अपनी परिश्रमशीलता, मातृत्व, स्नेह, दया-ममता, असन्तोष अन्धविश्वास, सामाजिक-नैतिक विश्वास, जवाब की तेजी आदि में वह सोलह आने अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु अपनी अतिशय उदारता, अन्यतम साहस (गण्डासिंह जैसे दारोगा को भी लताड़ देने में—जिसके एक मामूली प्यादे-सिपाही की लाल पगड़ी से उसके मर्द-किसान भय खाते हैं), अपने चण्डी रूप में वह विशिष्ट है। धनिया के चरित्र में विद्रोह है, असन्तोष है, क्रोध है; होरी में नम्रता, झुकाना, दबना, समझौता करना, विवश रह जाना, आत्मपीड़न या विवशता जाहिर करना; पर धनिया के लिए प्रतिरोध का अर्थ है, विद्रोह, अन्याय के खिलाफ खुली आवाज उठाना, खिल्ली उड़ाना, व्यंग्य करना, क्रोध से फुंकार मारना। उसके दग्ध हृदय से निसृत असन्तोष और विद्रोह की ज्वाला तथा ममता का पिघला हुआ मोम दोनों ही स्थान-स्थान पर शब्द-रूप लिये पड़े हैं।

सिलिया, झुनिया और सोना 'गोदान' के तीन नारी-पात्र ऐसे हैं जिनके जीवन और चरित्र में दाम्पत्य-प्रेम के तीन आदर्श भिन्न-भिन्न रूपों में मिलते हैं। **सिलिया** चमारिन है, 'साँवरी, सलोनी, छरहरी बालिका, जो रूपवती न हो कर भी आकर्षक थी। उसके हास में, चितवन में, अंगों के विलास में हर्ष का उन्माद था, जिससे उसकी बोटी-बोटी नाचती थी।' मातादीन के प्रेम में वह फँस जाती है। इसी प्रेम में उन्मत्त हुई वह मातादीन के खेत-खलिहानों में खूब परिश्रम से काम करती है, 'सिर से पाँव तक भूसे के अणुओं में सनी, पसीने से तर, सिर के बाल आधे खुले, वह दौड़-दौड़ कर अनाज ओसाती है, मानो तन-मन से कोई खेल खेल रही हो।' इसी प्रेम ने उसे स्वच्छन्द और मन-मौजी बना दिया है। वह जात-बिरादरी, माँ-बाप-भाई, मरजाद किसी की परवाह नहीं करती। अपने प्रेम में वह एकनिष्ठ है। लम्पट मातादीन उससे दगा करता है। सिलिया को भी दुख तो होता है, जब मतादीन उसके दिये हुए मुट्ठी-भर दाने-दुलारी सहुआइन के पल्ले से झड़वा लेता है और कहता है—'तूने अनाज क्यों दे दिया ? किससे पूछकर दिया ? तू कौन होती है मेरा अनाज देने वाली ?' तो सिलिया हक्का-बक्का होकर मातादीन का मुँह देखने लगती है। ऐसा जान पड़ा, 'जिस डाल पर वह बैठी हुई थी, वह टूट गई है और अब वह निराधार नीचे गिरी जा रही है।' परन्तु इस क्षणिक दुख के बाद उसका मन प्रेम में दृढ़ हो जाता है। यदि मातादीन उसका तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ नहीं देना चाहता, उसे अब काम करने की मशीन-मात्र समझता है, तो वह तो

धर्म नहीं छोड़ सकती। घर वालों और बिरादरी के आक्रमण और अत्याचार ने उसके अनुराग को और भी प्रचण्ड बना दिया। वह अपनी माता और भाइयों के साथ जाने पर राजी नहीं होती, उनकी मार खाती रहती है। बाप के पैरों से लिपट कर वह रोती हुई कहती है—'मार डालो दादा, सब जने मिल कर मार डालो।···हाय ! मेरे पीछे पण्डित को भी तुमने भिरस्ट कर दिया। उसका धरम लेकर तुम्हें क्या मिला ? अब तो वह भी मुझे न पूछेगा, लेकिन पूछे या न पूछे, रहूँगी तो उसी के साथ। मुझे चाहे भूखी रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोड़ूँगी।···मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूँगी, एक बार जिसने बाँह पकड़ ली, उसी की रहूँगी।' यह है सिलिया का एकनिष्ठ प्रेम। वह प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहती। निराश्रिता होकर वह भूखी रहती है, अपने परिश्रम की बूँदें निकाल कर पेट की ज्वाला शान्त करती है, पर मातादीन के नाम को नहीं छोड़ती। अपनी मेहनत पर उसे विश्वास है। इस वियोगिनी बल्कि परित्यक्ता के हर्ष का उस दिन पारावार नहीं था, जब उसे पछताता हुआ मातादीन तो अभी नहीं, उसके भेजे हुए दो रुपये ही मिलते हैं। पछताते मातादीन को पाकर तो यह प्रेम-पुजारिन-अपने मन-प्राण से जुड़ा लेती है।

झुनिया भोला अहीर की कन्या है। इस जाति में विवाह, त्याग, नाता सब प्रचलित हैं। जवानी में ही वह विधवा हो जाती है। ससुराल में कोई सहारा न पाकर पिता के घर रहती है, पर भावजें उससे झगड़ती हैं। 'उसके माँसल, स्वस्थ, सुगठित अंगों में मानो यौवन लहरें मार रहा था। मुँह बड़ा और गोल था, कपोल फूले हुए, आँखें छोटी और भीतर धँसी हुई, माथा पतला। पर वक्ष का उभार और गात का वही गुदगुदापन आँखों को खींचता था।' वह शहर-गाँवों में ग्राहकों को दूध-दही देने जाती रही है। तरह-तरह के लोगों से उसका वास्ता पड़ता रहा है। रसिकों की लगावटबाजियाँ उस गृहस्थ-कन्या के गृहिणीत्व को कुचल नहीं पाई थीं। गोबर को देखकर उसका यौवन चंचल हो उठता है। वह स्थायी सहारा पाना चाहती है। वह बातचीत करने, सौदा पटाने में बड़ी चतुर है। गोबर से कहती है—"जान देने का अरथ है, साथ रहकर निबाह करना। एक बार हाथ पकड़ कर उमिर-भर निबाह करते रहना, चाहे दुनिया कुछ भी कहे, चाहे माँ-बाप, भाई-बंद, घर-द्वार सब कुछ छोड़ना पड़े। मुँह से जान देने वाले बहुतों को देख चुकी।"

वह अपने प्यार का पूरा प्रतिदान चाहती है। इस बारे में वह पूरी माप-जोख से काम लेती है। जितना प्यार देती है, ठीक उतना ही वापस चाहती है। वह गोबर से साफ साफ शब्दों में कह देती है—"सर्वस तो तभी पाओगे, जब अपना सर्वस दोगे।" दोनों ओर से प्यार निभे तो वह निभाने को तैयार है, अन्यथा यदि पुरुष अपने को स्वच्छन्द समझता है, तो वह भी स्वच्छन्द है। उसने अपने पहले पति को भी साफ-साफ कह दिया था—"अगर तुम इधर-उधर लपके, तो मेरी भी जो इच्छा होगी, वह करूँगी।" वह सिलिया की तरह एकनिष्ठ रहने वाली नहीं है, या एकनिष्ठ तभी रह सकती है जबकि पुरुष से भी एकनिष्ठ प्रेम की संभावना हो। जब मातादीन किसी-न-किसी बहाने होरी के

घर आकर झुनिया से बातें करना और अपना रंग जमाना चाहता है, तो 'सिवाय मीठी-मीठी बातों के वह झुनिया से कुछ नहीं पा सकता। और अपनी मीठी बातों को मँहगे दामों बेचना भी उसे आता है।' वह सोना से कहती है—"मैं ऐसी अनीली नहीं हूँ कि किसी के झाँसे में आ जाऊँ। हाँ, जब जान जाऊँगी कि तुम्हारे भैया ने वहाँ किसी को रख लिया है, तब की नहीं चलाती। तब मेरे ऊपर किसी का कोई बन्धन न रहेगा।"

इतना होते हुए भी वह नारी की धीरता और सहनशीलता का गुण प्रकट करती है। उसे शहर में लाकर गोबर उसकी उपेक्षा करने लगता है। उसे केवल वासनापूर्ति का खिलौना समझता है, तब भी वह धैर्यपूर्वक सहन करती है। वह पति के चोट लगने पर उसकी खूब सेवा करती है। गोबर के मुँह से पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के शब्द सुनकर तो उसका प्रेम और भी हरा-भरा हो जाता है।

सोना का आदर्श और भी उग्र है। वह पति का जरा-सा बहक जाना भी क्षण-भर के लिए भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। "सोना की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप किसी पुरुष का पर-स्त्री और स्त्री का पर-पुरुष की ओर ताकना था। इस अपराध के लिए उसके यहाँ कोई क्षमा न थी।" जब सिलिया उसे अपने बिगड़े प्रेम के बनने की खुशखबरी देने उसके घर आती है और सोना अपने पति की छेड़-छाड़ उससे उगलवा लेती है, तो वह एकदम प्रचण्ड हो जाती है और कठोर शब्दों में कहती है—"तूने उस पापी को लात क्यों नहीं मारी? दाँत क्यों नहीं काट लिया? उसका खून क्यों नहीं पी लिया? चिल्लाई क्यों नहीं!" यह है सोना के प्रेम का प्रचण्ड आदर्श! वह भारतीय वीर पतिव्रता नारी है। विवाह से पहले प्यार की बात को वह व्यभिचार समझती है।

सोना के चरित्र का बड़ा स्वाभाविक विकास प्रेमचन्द ने दिखाया है। वह भोली-भाली किशोरी-रूप में भी विचारशील बालिका थी—अपने माता-पिता के साथ खेतों पर खूब काम करने वाली। घर-गृहस्थी की समस्याओं ने ही उसका बौद्धिक विकास किया। अपने रूप-गुण और भले कुल का उसे गर्व है। अपने पिता की दयनीय अवस्था को वह समझती थी। इसी से जब दहेज देने की बात चली, तो उसने सिलिया के हाथ अपने भावी पति को साफ कहला भेजा कि सोना को पाना चाहते हो तो दहेज लेने से जवाब देना होगा। उसके गर्व, स्वाभिमान, पितृ-प्रेम, चरित्र की दृढ़ता, स्वभाव का सन्तुलन आदि गुण उसके साहसिक आचरण से ही प्रकट हो जाते हैं। वह भाग्य की भी सोना निकली। वर, घर-गृहस्थी सब सुखद मिले। सिलिया जब विवाह के बाद उसके घर जाकर मिलती है, तो उसके सुगृहिणी के तप-तपाते वैभव को देखकर चकित रह जाती है। उसके प्रचण्ड आदर्शवाद के मूल में उसके पैतृक-संस्कार ही हैं। वह महतो कुल की है और अपने पिता और अपनी माता के दाम्पत्य का आदर्श उसका संस्कार बना हुआ है।

एक ही गाँव की ये तीनों नारियाँ अपने-अपने कुल-जाति-वातावरण के संस्कारों के साथ कितनी सजीव हैं! तीनों के प्रेम में कितनी समानता है, और कितनी भिन्नता भी?

पुन्नी या पुनिया : हीरा की पत्नी पुनिया भी गाँव का एक यथार्थ नारी-चित्र है।

कर्कशा, जबान की तेज! "बच्चे दो ही हुए थे; लेकिन ढल गई थी। अभाव और विवशता ने उसकी प्रकृति का जाल सुखाकर कठोर और शुष्क बना दिया था, जिस पर एक बार फावड़ा भी उचट जाता था।" वह अपने घर की मालकिन थी। उसी के विद्रोह से भाइयों में अलगौझा हुआ था।" धनिया को परास्त करके शेर हो गई थी। हीरा कभी-कभी उसे पीटता था। लेकिन अपना पदाधिकार वह किसी तरह न छोड़ती थी।" इसी अधिकार को वह दमड़ी बंसोर-प्रसंग में जताती है। वह यह वर्दाश्त नही कर सकती कि उसके साझे के बाँस उसके पूछे बिना कोई कम दामों पर काट-कटवा ले। वह दमड़ी बंसोर के पीछे पड़ जाती है और जुतियाने तक लग जाती है। मालकिन के अधिकार का अभिमान वह पति के आगे भी नहीं छोड़ती। जब हीरा उसे मारता है, तो वह भी उसे बराबर गालियाँ देती है। जब हीरा दमड़ी बंसोर को पन्द्रह रुपये के भाव ही बाँस काटने को कह देता है, तब "कहाँ तो पुन्नी बैठी रो रही थी। कहाँ झमककर उठी और अपना सिर पीटकर बोली—लगा दे घर में आग, मुझे क्या करना है? भाग फूट गया कि तुझ-जैसे कसाई के पाले पड़ी।" कैसा मनोवैज्ञानिक चित्र है इस नारी-स्वभाव का! पुनिया को अपनी गृहस्थी का पूरा ख्याल है। गाय-कांड के बाद हीरा के भाग जाने पर वह अपने घर-खेत का सारा काम सँभालती है। अकेली होकर वह रोती-झुकती नहीं, और भी प्रचण्ड हो जाती है। अपनी जेठानी से उसका द्वेष था। पर उसकी आँखों का पानी बिल्कुल मर नहीं गया है। वह होरी के उपकार को मानती है, और जब उसे पता चलता है कि धनिया के घर अनाज का एक दाना भी नहीं है, तो ढेर-सारा अनाज अपने यहाँ से दे देती है। महतो ने ही तो उसकी खेती बचाई है, और सुख के दिन चाहे लड़कर काटो, मुसीबत तो मेल से ही कटती है।

नोहरी : नोहरी पुरुष-समाज की विलास वासना तथा दूषित वैवाहिक-पद्धति का शिकार गांव का ऐसा नारी-पात्र है जिसके कारण ग्राम-जीवन में नैतिक पतन आता है। वह जवानी में ही विधवा हो गई थी। बूढ़े 'भोला की लार टपक पड़ी। झटपट शिकार मार लाये। जब तक सगाई न हुई, उसका (नोहरी का) घर खोद डाला।' नोखेराम के विशेष आश्रय में नोहरी चंचल हो जाती है। नोखेराम उससे अनुचित सम्बन्ध गाँठ लेता है। नोहरी की बड़ी खातिर होती है। प्यादे और शहने तक उसका दबाव मानने लगते हैं। वह भी गर्व से फूली नहीं समाती। वह बूढ़े पति की चंचला पत्नी बन जाती है। जब नोहरी के बारे में कनबतियाँ होती हैं, और भोला वहाँ से चलने का प्रस्ताव उसके सामने रखता है तो वह साफ जबाव दे देती है—'तुम्हें जाना हो तो जाओ, मैं नहीं जाती।' वह भोला की दुर्बलता से परिचित हो चुकी थी। किन्तु जब भोला उसे छोड़ स्वयं जाने को तैयार होता है तो वह जूतों से उसकी ऐसी खबर लेती है कि बेचारे को दुम दबाकर बैठें रहना पड़ता है। नोखेराम के दम पर नोहरी घमण्ड करने लगती है। पटेश्वरी ने उससे जरा छेड़-छाड़ की तो उसने भी खूब सुनाई और क्रोध का ऐसा अभिनय किया कि नोखेराम और पटेश्वरी दोनों को नचा डाला। उसके इस त्रिया-चरित्र का बहुत सुन्दर और सजीव चित्रण हुआ है। वह लोगों का मुँह बन्द करने के लिए होरी को लड़की के विवाह के

लिए रुपये देती है। वह अपनी उड़ती हुई भद्द को रोकना चाहती है। वह खूब जीट उड़ाती है। वह होरी को अपना समधी मानती है और रुपये देकर अपने पक्ष में करना चाहती है। होरी से कहती है—"तनिक समझा नहीं देते रावत को। जब इन्हीं लोगों के बीच रहना है, तो ऐसे रहना चाहिए न कि चार आदमी अपने हो जायें, और इनका हाल यह है कि सबसे लड़ाई सबसे झगड़ा। जब तुम मुझे परदे में नहीं रख सकते, मुझे दूसरों की मजूरी करनी पड़ती है, तो यह कैसे निभ सकता है कि मैं न किसी से हँसूँ, न बोलूँ, न कोई मेरी ओर ताके, न हँसे।···उनकी समझ में कोई बात आती ही नहीं, कभी लड़कों के साथ रहने की सोचते हैं, कभी लखनऊ जाकर रहने की सोचते हैं···।" इस प्रकार नोहरी की चंचलता, चपलता उसे चतुर भी बना देती है। वह भोला की तो दुर्गति ही कर डालती है।

मिस मालती : ग्राम-समाज के उन उपर्युक्त प्रमुख नारी-पात्रों के अतिरिक्त 'गोदान' में शहरी जीवन के परिचायक नारी-पात्र भी अपना महत्त्व रखते हैं। इन शहरी नारी-पात्रों में प्रमुख है मालती। मालती का चरित्र-चित्रण भी बहुत सजीव है। प्रेमचन्द ने इन शब्दों में मालती का परिचय दिया है—"दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं—और जिनकी मुख-छवि पर हँसी फूट पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इंगलैण्ड से डॉक्टरी पढ़ आई हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिभा हैं। गात कोमल; पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई! झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है।" मालती के इस चरित्र-चित्रण की सत्यता हमें छठे और सातवें परिच्छेदों के पढ़ने से ही ज्ञात हो जाती है। चंचलता, बुद्धिचातुर्य, आत्माभिमान, नजाकत, स्वार्थपरता आदि उसके स्वभाव की सभी विशेषताएँ धनुष-यज्ञ-प्रसंग में ही स्पष्ट हो जाती हैं। विदेशी-शिक्षा के प्रभाव ने उसे तितली बना दिया है। मनोरंजन और हास-विलास ही उसके जीवन की ऊपरी सतह पर छाया हुआ है। दूसरों की हँसी उड़ाने, व्यंग्य कसने में वह बहुत तेज है। वह क्षण-भर में ही ओंकारनाथ को उल्लू बना डालती है। उसका मनचलापन हरदम अपने चारों ओर रसिकों का जमघट चाहता है। अपने हाव-भाव से पुरुषों को नचाना वह खूब जानती है। मिल-मालिक खन्ना को उसने इसी तरह उल्लू बना रखा है। वह दिल से मेहता के प्रति आकर्षित है। स्वार्थ की ऐसी कि मुसीबत सिर पर आने से भी वह हाथ आये हजार रुपये आसानी से छोड़ना नहीं चाहती। पठान को देखकर वह भयभीत हो जाती है। पर पठान की प्रेम-भरी बातों और रसीली आँखों को देखकर उसका आवारा मन आश्वस्त हो गया। "उनका हृदय कुछ देर इन नर-पुंगवों के बीच में रहकर उनमें बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने के लिए ललचा रहा था। शिष्ट-प्रेम की दुर्बलता और निर्जीवता का उन्हें अनुभव

हो चुका था। आज अक्खड़, अनघड़ पठानों के उन्मत्त प्रेम के लिए उनका मन दौड़ रहा था।" यद्यपि यहाँ मालती की यह मनःस्थिति नारी-मनोविज्ञान के विरुद्ध प्रतीत होती है, फिर भी उसके स्वभाव की स्वच्छन्दता प्रकट करना ही प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा है। उनका हृदय संकुचित भी इतना है कि वह एक ग्रामीण कलूटी स्त्री के सेवा-भाव को भी शंका की दृष्टि से देखती है और मेहता को उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करते देखकर ईर्ष्या से जल उठती है। वह नारी-स्वच्छन्दता की हामी है। आश्चर्य है कि वह एक बार जेल भी हो आई है।

किन्तु यह मालती के चरित्र का ऊपरी पक्ष ही है। "वह बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी ही हँसी नहीं है, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है।···वह हँसती है इसलिए कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं कि वह चहकने और चमकने को ही जीवन समझती है, या उसने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने ही लिये करे। नहीं, वह इसलिए चहकती है और विनोद करती है, कि इससे उसके कर्त्तव्य का भार कुछ हल्का हो जाता है।" सचमुच मालती घर का सारा दायित्व आप निभाती है। पिता के रोग से निकम्मा हो जाने के कारण, घर का सारा खर्च मालती के ही दम से चलता है। दोनों बहनों की पढ़ाई-लिखाई का भी वही खर्च उठाती है, पिता के अनियमित खर्च को बर्दाश्त करती है। पाश्चात्य शिक्षा से उसका ऊपरी ढाँचा ही रँगा गया है; अन्तस्तल भारतीय नारी का ही है। सेवा, कर्त्तव्य, गम्भीरता दयालुता आदि गुणों के बीज उसमें विद्यमान हैं। उसके संस्कार लुप्त नहीं हो गए। वह चाहे कितने ही हाव-भाव दिखाये, पुरुषों को नाच नचाकर उपहार ऐंठे, पर उसका नारी-हृदय इसमें सन्तोष नहीं पाता। वह एक ऐसा आश्रय चाहती है, जो दृढ़ हो, स्थायी हो। उसका मधुमक्खी मन मेहता के गुणों पर रीझ जाता है। वह जी-जान से मेहता को चाहने लगती है। वह मेहता के एक-एक गुण को अपने हृदय में संचित करना चाहती है।

मेहता का दृढ़ आधार पाने की आशा में उसका चारित्रिक परिवर्तन आरम्भ होता है। वह अब सेवा और कर्त्तव्य का मार्ग अपना लेती है। वह महिलाओं के लिए एक व्यायामशाला का आयोजन करती है। व्यायामशाला कमेटी की सभा-नेत्री बनकर चन्दा इकट्ठा करती है। और अब मेहता का संकेत पाकर खन्ना की गलतफहमी भी दूर कर देती है और गोविन्दी-खन्ना के बीच से बिल्कुल हट जाती है। वह खन्ना को स्पष्ट शब्दों में कह देती है—"मैं रूपवती हूँ। तुम भी मेरे अनेक चाहने वालों में से एक हो। यह मेरी कृपा थी कि जहाँ मैं औरों के उपहार लौटा देती थी, तुम्हारी सामान्य-से-सामान्य चीजें भी धन्यवाद के साथ स्वीकार कर लेती थी और जरूरत पड़ने पर तुमसे रुपये भी माँग लेती थी, अगर तुमने अपने धनोन्माद में इसका कोई दूसरा अर्थ निकाल लिया तो मैं क्षमा करूँगी। यह पुरुष-प्रकृति है, अपवाद नहीं; मगर यह समझ लो कि धन ने आज तक किसी नारी के हृदय पर विजय नहीं पायी, और न कभी पायेगा।"

जो मालती कभी खुद अपने जूते न पहनती थी, जो खुद कभी बिजली का बटन

तक न दबाती थी, वही पैदल चलकर गाँवों में सेवा-कार्य के लिए जाने लगी है, गरीबों का मुफ्त इलाज करने लगती है ! मालती के रंग-ढंग की कायापलट होती जाती थी। "अब तक जितने मर्द उसे मिले, सभी ने उसकी विलास-वृत्ति को ही उकसाया। उसकी त्याग-वृत्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी; पर मेहता के संसर्ग में आकर उसकी त्याग-भावना सजग हो उठी थी।" किन्तु मेहता जब अब भी उसे परीक्षक की दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं कि मैं जिस आधार पर जीवन का भवन खड़ा करना चाहता हूँ, वह अस्थिर है तो मालती मेहता का उपेक्षा-भाव देखकर अब क्षुब्ध हो कह उठती है—"तुमने सदैव मुझे परीक्षक की आँखों से देखा, कभी प्रेम की आँखों से नहीं।···मैं क्यों अस्थिर और चंचल हूँ, इसीलिए कि मुझे वह प्रेम नहीं मिला, जो मुझे स्थिर और अचंचल बनाता; अगर तुमने मेरे सामने उसी तरह आत्म-समर्पण किया होता, जैसे मैंने तुम्हारे सामने किया है, तो तुम आज मुझ पर यह आक्षेप न रखते।" वह आगे कहती है—"मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है।···वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बन कर नहीं, उपासक बन कर ही वर-दान पा सकते हो।"

और सचमुच ही मालती अब मेहता को उपासक बना छोड़ती है। "आज मेहता ने जैसे उसे ठुकराकर उसकी आत्मशक्ति को जगा दिया। अब तक वह मेहता के आदर्श के ही सहारे चलती थी, अब स्वयं आदर्श बनने का दृढ़ संकल्प उसने कर लिया। वह सेवा और त्याग की मूर्ति बन गई। मेहता अब परीक्षक से परीक्षार्थी बन गए। मालती मेहता के अव्यवस्थित जीवन को व्यवस्थित करती है। उसकी सुख-सुविधाओं का पूरा ध्यान रखती है, पर मन में कोई व्याकुलता नहीं लाती, सहज भाव से अपना कर्त्तव्य निभाती है। उसके मातृ-वात्सल्य पर मेहता मुग्ध हो उठते हैं। "तब मालती प्यासी थी, अब मेहता प्यास से विकल हैं।" झुनिया के बालक मंगल के प्रति जो वात्सल्य मालती ने दिखाया, उससे मेहता की नजरों में मालती बहुत ऊँची उठ गई—"मालती केवल रमणी नहीं है, माता भी है और ऐसी-वैसी माता नहीं, सच्चे अर्थों में देवी और माता और जीवन देने वाली, जो पराये बालक को भी अपना समझ सकती है, जैसे उसने मातापन का सदैव संचय किया हो और (मधुमक्खी की तरह) आज दोनों हाथों से उसे लुटा रही हो। उसके अंग-अंग से मातापन फूटा पड़ता था, मानो यही उसका यथार्थ रूप हो। यह हाव-भाव, यह शौक-सिंगार उसके मातापन के आवरणमात्र हों, जिसमें उस विभूति की रक्षा होती रहे।"

मालती को अब अनुभव हुआ कि "इस त्याग के जीवन में कितना आनन्द है ! दूसरों के कष्ट-निवारण में उसने जिस सुख और उल्लास का अनुभव किया, वह कभी भोग-विलास के जीवन में न किया था।" अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी। जब मेहता याचना करते हैं और विवाह का प्रस्ताव मालती के सामने रखते हैं तो वह कहती है—"मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।···अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजड़े में बन्द करके, अपने

दुःख-सुख को अपने ही तक रख कर, क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं ?..... तुम्हारे-जैसे विचारवान, प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में बन्द नहीं करना चाहती।"

इस प्रकार मालती का चरित्र आदर्श में परिणति पाता है। यह विकास अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। वह जीवन की पूर्णता का आदर्श प्रस्तुत करती है।

गोविन्दी : आरम्भ में प्रेमचन्द ने गोविन्दी का परिचय कामिनी खन्ना नाम से दिया है—"वह जो खद्दर की साड़ी पहने, बहुत गम्भीर और विचारशील-सी हैं, मिस्टर खन्ना की पत्नी कामिनी खन्ना हैं।" किन्तु इस प्रसंग के बाद में सब जगह गोविन्दी नाम ही आता है। शायद भूल से ही ऐसा हुआ है। गोविन्दी एक ऐसी पति-परायणा, सच्ची साध्वी भारतीय नारी है जिसका उज्ज्वल मातृत्व स्वार्थ के स्थान पर त्याग, आत्मरति के स्थान पर सेवा, साज-सज्जा और कृत्रिमता की जगह सादगी और स्वाभाविकता, हास-विलास की जगह कर्त्तव्य-पालन को ही ग्रहण करता है। दुर्भाग्य से उसका पति विपरीत स्वभाव का है। वह अपने धनोन्माद में ही मस्त रहता है। विलास-रसिकता के कारण घर-गृहस्थी में वह कोई रुचि नहीं लेता। वह गोविन्दी की उपेक्षा करता है, और मिस मालती के चक्कर में फंसा है। गोविन्दी को यह बहुत खटकता है। फिर भी वह उसी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा किए जाती है। पति की "अपार सम्पत्ति जैसे उसकी आत्मा को कुचलती रहती है। इन आडम्बरों और पाखण्डों से मुक्त होने के लिए उसका मन सदैव ललचाया करता है।" "इस खारे सागर में वह प्यासी पड़ी रहती है।" दिनों-दिन पति की उद्दण्डता और उपेक्षा असह्य होती जाती है। खन्ना अपशब्द ही नहीं, मार-पीट भी करने लगे हैं। एक दिन पति के साथ झगड़ा बढ़ जाता है। गोविन्दी क्षुब्ध होकर घर, बच्चों का मोह त्याग कर घर से निकल जाने का निश्चय कर लेती है। वह केवल गोद के बालक को लेकर चली जाती है—'यह महाशय इसीलिए रौब जमाते हैं कि वह मेरा पालन करते हैं, मैं अब खुद अपना पालन करूँगी।' पार्क में उसे मेहता मिल जाते हैं और उसकी प्रशंसा तथा उसके प्रति श्रद्धा-भाव प्रकट करते हुए सान्त्वना जताकर घर वापस छोड़ जाते हैं। वह भी मातृत्व का मोह कहाँ त्याग पाई थी ? मिल के जल जाने पर वह अपने पति को समझाती हुई कहती है कि 'धन-सम्पत्ति के नाश पर इतना दुःख क्यों ? धन के लिए दुःख, जो सारे पाप की जड़ है ? धन खोकर अगर हम अपनी आत्मा को पा सकें तो यह कोई महंगा सौदा नहीं है।' उसकी सेवा, उसका त्याग, उसका मातृत्व विजय पाते हैं। अन्ततः खन्ना उसका महत्त्व समझने लगते हैं।

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ

पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द की सफलता असंदिग्ध है। प्रेमचन्दजी की चरित्र-सृष्टि की एक प्रमुख विशेषता है इसकी विविधता। ,प्रेमचन्द ने विभिन्न प्रकार के पात्रों को अपनाया है। न केवल वर्ग और पेशे की दृष्टि से पात्र विभिन्न हैं, अपितु स्वभाव और प्रकृति में भी उनमें पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। राजा सूर्यप्रतापसिंह, रायसाहब

अमरपालसिंह-जैसे जमींदार, मिल मालिक खन्ना, पत्रकार ओंकारनाथ, प्रोफेसर डा० मेहता, मौजी-मस्त खुर्शेद, मुफ्तखोर चालाक तंखा, दरिद्र किसान होरी, पटवारी पटेश्वरी, ग्राम-पण्डित दातादीन, जमींदार का कारकुन नोखेराम, पुलिस दारोगा गण्डा सिंह, झिंगुरी-मंगरू आदि महाजन, भोला अहीर, नवयुग की स्वच्छन्द युवतियाँ मालती-सरोज, आदर्श पत्नी गोविन्दी तथा धनिया-झुनिया, सिलिया आदि भिन्न-भिन्न श्रेणी की ग्राम-नारियाँ आदि अनेक प्रकार के पात्र उपन्यास के वृहद कलेवर में यथा-स्थान उचित मात्रा में ठीक प्रकार चित्रित हैं। इन भिन्न-भिन्न वर्ग-पेशे के पात्रों के चित्रण से जीवन की एक विस्तृत झाँकी स्वत: ही प्रकट हो गई है। जीवन के इतने व्यापक चित्रपट को छूने वाले पात्रों का चयन लेखक की विस्तृत जीवन-दृष्टि का परिचायक है।

पात्रों में 'कु' और 'सु'—स्वभाव और प्रकृति की दृष्टि से 'गोदान' के पात्रों को इन चार भागों में बाँटा जा सकता है : 1—सर्वाधिक पात्र साधारण सामान्य यथार्थ श्रेणी के हैं, जिनमें अच्छाई-बुराई दोनों ही विद्यमान रहती हैं; न तो वे आदर्श पात्र कहे जा सकते हैं न अधम निकृष्ट। गोबर, होरी, धनिया, सिलिया, झुनिया, भोला, पुनिया आदि ग्रामीण शोषित पात्र तथा खुर्शेद, ओंकारनाथ आदि शहरी पात्र प्राय: सब यथार्थ श्रेणी में आते हैं। न तो ये अपनी अच्छाइयों में देवता बनते हैं, न बुराइयों में दानव। यथार्थ मानवीय दुर्बलताएँ व सबलताएँ दोनों ही इनमें पाई जाती हैं। 2—दूसरे प्रकार के पात्र उच्च श्रेणी के आदर्श पात्र हैं, जैसे मेहता और गोविन्दी। इस आदर्श-वर्ग में ये दो-तीन पात्र ही आते हैं। इनमें मानवीय दुर्बलता नगण्य ही हैं। यद्यपि इनकी सबलताएँ भी मानवीय सबलताएँ हैं, ये भी किसी देवलोक के प्राणी नहीं, इसी धरती के जीव हैं, तथापि इनके आदर्श ऊँचे हैं, वरेण्य हैं। 3—तीसरे प्रकार के पात्र अधम कोटि के खल पात्र हैं। ग्राम-शोषक दातादीन, झिंगुरी, नोखेराम, पटेश्वरी, नोहरी आदि तथा तंखा, राजा सूर्यप्रताप सिंह, कुँवर दिग्विजयसिंह आदि कुछ शहरी पात्र इस श्रेणी में आते हैं। ये भी इसी धरती के दुर्बल प्राणी हैं। इनकी प्रकृति का ढाँचा अधिकतर अन्त तक काला-काजल ही रहता है। 4—चौथे प्रकार के पात्र वे हैं जो आरम्भ में तो अधिकतर बुराई की ओर ही झुके रहते हैं, किन्तु अन्त तक पहुंचते-पहुंचते जिनका चारित्रिक परिवर्तन हो जाता है और अपनी अधम कोटि को छोड़कर बाद में या तो आदर्श बन जाते हैं, जैसे मालती या अधिकतर प्रथम श्रेणी के यथार्थ वर्ग में ही सम्मिलित हो जाते हैं, जैसे मातादीन, खन्ना, हीरा आदि।

इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की चरित्र-सृष्टि मुख्य रूप से यथार्थ-वादी है। उनके पात्र इस धरती के जीव हैं। न तो वे किसी देवलोक के देवता हैं, न राक्षस-कुल के दानव। हमारे आस-पास के जीते-जागते, जाने-पहचाने पात्र ही हैं ये। इन सब में मानवीय सुप्रवृत्तियाँ और कुप्रवृत्तियाँ दोनों ही पाई जाती हैं। आदर्श-से-आदर्श पात्र में भी मानवीय दुर्बलता दिखाई देती है और बुरे-बुरे पात्र भी अपनी सुप्रवृत्ति के आयाम का अनुभव करते हैं। 'कु' और 'सु' का द्वन्द्व सब में पाया जाता है।

आदर्श और 'सु' प्रवृत्ति वाले पात्रों में भी मानव-सुलभ दुर्बलताएँ पाई जाती हैं।

मेहता आदर्शवादी है, उसका निजी जीवन जहाँ सफेद चादर है, जहाँ अपने सामाजिक रूप में वह त्याग, परसेवा आदि गुणों को प्रकट करता है, विद्वता और बुद्धि में अद्वितीय प्रभावशाली है, वहाँ वह भी इसी धरती का प्राणी है। वह शराब पीता है, पीकर मस्त हो जाता है; तब उसकी महानता लघु रूप धारण कर लेती है; वह उन्मुक्त भोग का हामी है। अपने घर की उसे सुध-बुध नहीं। लेन-देन में इतना लापरवाह है कि मकान-मालिक का छः महीने का किराया नहीं देता; वह भी मालती के प्रति आकर्षित ही नहीं, मोहाच्छन्न हो जाता है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द के कुत्सित-से-कुत्सित पात्रों का चरित्र भी द्विधा (ambivalent) है। मातादीन अपने पिता दातादीन-जैसा ही दुष्ट है, पर उसकी मानवता बिल्कुल मरी नहीं है। वह मूर्च्छित होरी के लिए दूध भी लाता है। दातादीन, भिंगुरी, पटेश्वरी आदि यद्यपि सब खल पात्र ही हैं और इनके गुणों का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु फिर भी ये सब पूजा-ध्यान करते हैं, राम-भजन में घण्टों लीन रहते हैं—चाहे राम की मूर्ति के सामने से हटते ही ये अपनी मानवता भूल जाते हों। ये सब अपनी ओर से भले आदमी का-सा आचरण करते हैं। जब भोला होरी के बैलों की जोड़ी खोल ले जाता है, तो दातादीन आदि ये सब होरी का पक्ष ले भोला को रोक लेते हैं।

प्रेमचन्द के अधिकांश पात्रों में 'कु' और 'सु' का द्वन्द्व रहता है। खन्ना के सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द का यह कथन कितना यथार्थ है—"अन्य कितने ही प्राणियों की भाँति खन्ना का जीवन भी दोहरा या दो-रुखी था। एक ओर वह त्याग और जन-सेवा और उपकार के भक्त थे, तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास और प्रभुता के। कौन असली रुख था, यह कहना कठिन है। कदाचित उनकी आत्मा का उत्तम आधा सेवा और सहृदयता से बना हुआ था, मद्धिम आधा स्वार्थ और विलास से। पर उत्तम और मद्धिम में बराबर संघर्ष होता रहता था। और मद्धिम ही अपनी उद्दण्डता और हठ के कारण सौम्य और शान्त उत्तम पर गालिब आता था। उनका मद्धिम मालती की ओर झुकता था, उत्तम मेहता की ओर; लेकिन वह उत्तम अब मद्धिम के साथ हो गया था।" यद्यपि प्रेमचन्द की कला मन के चेतन-अचेतन रहस्यों का द्वन्द्व प्रस्तुत नहीं करती; उन्होंने इलाचन्द्र जोशी—जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की तरह अपने पात्रों के अन्तरतम का विश्लेषण नहीं किया है, फिर भी सहज, स्वाभाविक 'कु', 'सु' प्रवृत्तियों का संघर्ष उनमें रहता ही है। प्रेमचन्द मानव-स्वभाव के इस यथार्थ रूप के बारे में इतने सजग और सतर्क रहे हैं कि किसी पात्र का एक-दो पंक्तियों में रेखा-चित्र, स्वभाव या चरित्र का उल्लेख करते हुए भी मानव की 'कु' और 'सु' दोनों प्रवृत्तियों का ध्यान रखते हैं। रुद्रपाल का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है—"रुद्रपाल इस समय एम० ए० में पढ़ता था, बड़ा निर्भीक, पक्का आदर्शवादी, अपने ऊपर भरोसा रखने वाला, अभिमानी, रसिक और आलसी युवक था, जिसे अपने पिता की यह धन और मानलिप्सा बुरी लगती थी।" इसमें मानवीय गुण-दोष दोनों ही विद्यमान हैं।

प्रेमचन्द्र के चरित्र-चित्रण की एक विशेषता यह भी है कि इनके प्रायः सभी पात्र

दुख में पछताते और अपने 'कु' से 'सु' की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। मिल में आग लग जाने के बाद खन्ना का मद्धिम उत्तम से परास्त हो जाता है। धन गँवाकर वे अपनी मानवता को पा जाते हैं और अपनी पत्नी गोविन्दी के प्रति सहृदयता का व्यवहार करने लगते हैं। मातादीन जब महीना-भर बीमार रहता है और प्रायश्चित्त का भार सहता है तो अपने 'सु' को ढूँढ़ता है। उसका पूर्ण परिवर्तन हो जाता है। वह अब बाह्मन की अपेक्षा चमार बनकर रहना अच्छा समझता है, सिलिया से क्षमा-याचना करता है। इसी प्रकार शहर में झुनिया को ले जाकर गोबर उसकी उपेक्षा करने लगता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगता है, मारता-पीटता है। किन्तु जब वह हड़तालियों के संघर्ष में बुरी तरह घायल होता है, दुखी होता है, तब मानो दुःख की अग्नि में पड़कर उसकी आत्मा का कलुष जल जाता है। अब वह पछताने लगता है और झुनिया से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह बहुत यथार्थ है। दुखों में हम अपने दोषों का परिष्कार और परिहार करने लगते हैं।

ये सभी पात्र अत्यन्त सजीव हैं। अनावश्यक भी शायद कोई नहीं है। कथा के प्रबन्ध में सब अपना-अपना स्थान रखते हैं। गौण-से-गौण पात्र का भी अपना महत्त्व है। नगण्य पात्रों को भी प्रेमचन्द ने सजीव रूप प्रदान किया है। चुहिया, गिरधर, रुद्रपाल आदि गौण पात्र भी अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव हैं। चुहिया का आगमन केवल चार-पाँच पृष्ठों के प्रसंग में होता है किन्तु उसका चरित्र कितना कुशलतापूर्वक चित्रित हुआ है! "दोहरी देह की काली-कलूटी, नाटी, कुरूपा, बड़े-बड़े स्तन वाली स्त्री! उसका पति एक्का हाँकता था और वह खुद लकड़ी की दुकान करती थी।" उसकी झुनिया के प्रति सहानुभूति, स्वयं दाई का काम निभा देना, उसकी निर्भीकता, गोबर को भी फटकार देना आदि प्रसंग भुलाए भी नहीं भूलता। "किसी को मोटल्ली कहते सुन लेती थी, तो उसके सात पुरखों तक चढ़ जाती थी!" चरित्र-चित्रण-कला की यही सबसे बड़ी विशेषता होती है कि लेखक प्रमुख पात्रों को तो सजीव रूप प्रदान करे ही, गौण पात्रों को भी निर्जीव और विस्मरणीय न रहने दे। होरी, गोबर, धनिया, मेहता, खुर्शेद, मालती आदि प्रमुख पात्र तो प्रेमचन्द की अमर चरित्र-सृष्टि हैं ही, चुहिया-जैसे गौत्र पात्र भी अविस्मरणीय हैं।

वर्गगत और व्यक्तिगत चरित्र-सृष्टि—प्रेमचन्द के सब पात्र अपना स्वतन्त्र सजीव व्यक्तित्व रखते हैं। सब अपने संस्कारों, परिस्थितियों तथा वातावरण के अनुरूप विकसित हुए हैं, लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं बने हैं। पीछे हम कह आए हैं कि पहले उपन्यासों में ज्ञानशंकर, मुन्नी, जोहरा आदि पात्र कई बार लेखक के इशारे पर चलते दिखाई देते हैं, किन्तु 'गोदान' में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं। सभी पात्र अपने मन, वचन और कर्म की संगति प्रकट करते हैं। सब में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता पाई जाती है।

अपने पात्रों को सजीव व्यक्तित्व देने के लिए प्रेमचन्द ने रेखा-चित्र-शैली भी अपनाई है। वे प्रायः प्रत्येक पात्र का रेखा-चित्र प्रस्तुत कर देते हैं, जिससे उसका बाह्य

आकार-प्रकार, व्यक्तित्व आँखों के आगे सजीव हो जाता है। प्रेमचन्द के रेखा-चित्र भी पात्र के आन्तरिक व्यक्तित्त्व से पूर्ण संगत होते हैं, एक-दो उदाहरण देखिए। हरखू चमार (सिलिया का पिता)—'साठ साल का बूढ़ा, काला, दुबला, सूखी मिर्च की तरह पिचका हुआ, पर उतना ही तीक्ष्ण।' "मंगरू साह—काला रंग, तोंद कमर के नीचे लटकती हुई, बड़े-बड़े दाँत सामने, जैसे काट खाने को निकले हुए, सिर पर टोपी, गले में चादर, उम्र अभी पचास से ज्यादा नहीं, पर लाठी के सहारे चलते थे, गठिया का मरज हो गया था और खाँसी भी आती थी।" हीरा—'गाँव में क्रोध के लिए प्रसिद्ध। छोटा डील, गठा हुआ शरीर, आँखें कौड़ी की तरह निकल आई थीं और गर्दन की नसें तन गई थीं।' अलादीन—'इक्केवाला, सिर घुटा, खिचड़ी दाढ़ी और काना।' प्रेमचन्द के 'गोदान' से पहले उपन्यासों में यह रेखा-चित्र-चित्रण-कला भी विशेष विकसित नहीं हुई थी। प्रेमचन्द ने पात्रों की आकृति-प्रकृति को इन रेखा-चित्रों के सहारे नपे-तुले शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। गौण-मुख्य प्रायः सभी पात्रों की बोलचाल, चाल-ढाल में वह उनकी भाव-भंगियों की विशिष्टता भी प्रकट कर देते हैं, जिससे पात्र का व्यक्तित्व और उभर आता है।

प्रेमचन्द सामाजिक उपन्यासकार हैं। अतः उनकी चरित्र-सृष्टि में मुख्य रूप से वर्गगत पात्र ही हैं। सामाजिक उपन्यासकार का मुख्य ध्यान समष्टि की ओर रहता है। अतः वह पात्रों के उन्हीं क्रिया-कलापों और प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है, जो उसके सामाजिक आचरण को स्पष्ट करें। प्रेमचन्द ने मानव का स्वतन्त्र अध्ययन करने की अपेक्षा सामाजिक परिवेश में ही उसका चरित्र-अध्ययन किया है। यही कारण है कि उनके पात्रों में भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्र ही मुख्य रूप से मिलते हैं, व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण पात्र बहुत कम होते हैं। प्रेमचन्द ने इन भिन्न-भिन्न वर्गगत पात्रों का ऐसा सजीव चरित्र-चित्रण किया कि ऐसा लगता है प्रेमचन्द ने इन सब वर्गों में रह कर पूरा आन्तरिक परिचय प्राप्त किया हो। कृषक-वर्ग की समूची परिस्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ, संस्कार और भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होरी के जीवन और चरित्र में बिम्बित हुई हैं। जमींदार-वर्ग का सम्पूर्ण परिचय रायसाहब और राजा सूर्यप्रतापसिंह के चरित्रों से मिल जाता है। महाजनी मनोवृत्ति झिंगुरी आदि गाँव के महाजनों में सजीव हो उठी है। दातादीन गाँव के पण्डित-ब्राह्मण-वर्ग का भव्य प्रतीक है। मालती और सरोज आधुनिक शिक्षित-वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्गों का सजीव अध्ययन प्रेमचन्द के वर्गगत पात्रों से बखूबी हो जाता है।

इस वर्गगत चरित्र-सृष्टि की एक विशेषता यह है कि न केवल प्रेमचन्द का ध्यान पुराने वर्गों की ओर गया है, अपितु आधुनिक युग में विकसित होने वाले नये टाइपों का भी उन्होंने अनुभव किया है। तंखा ऐसा ही टाइप है। वर्तमान युग में ऐसे स्वार्थी, मुफ्तखोर, अवसरवादी व्यक्ति भी अपना एक विशेष टाइप बना चुके हैं। मालती के पिता मि० कौल के परिचय में भी ऐसे वर्ग की ध्वनि मिलती है: "उसके बाप उन विचित्र जीवों में थे, जो केवल जबान की मदद से लाखों के वारे-न्यारे करते थे। बड़े-बड़े

जमींदारों और रईसों की जायदादें बिकवाना, उन्हें कर्जा दिलाना या उनके मुआमलों को अफसरों से मिलकर तय करा देना, यही उनका व्यवसाय था। दूसरे शब्दों में दलाल थे। ...किसी राजा की शादी किसी राजकुमारी से ठीक करवा दी और दस-बीस हजार उसी में मार लिये।" पत्रकार ओंकारनाथ का वर्ग भी नया है। तंखा और ओंकारनाथ का परिचय हम ऊपर दे चुके हैं।

प्रेमचन्द ने वर्गगत चरित्र-चित्रण में पीढ़ियों के अन्तर का भी ध्यान रखा है। होरी पुरानी पीढ़ी का किसान है, जो भाग्यवाद, समझौता, खुशामद में विश्वास करता है; गोबर, रामसेवक, गिरधर आदि युवक नई पीढ़ी के प्रतीक हैं, जिनमें असन्तोष, विद्रोह और उग्रता है। रायसाहब और रुद्रपाल की पीढ़ियों में भी अन्तर स्पष्ट है। यही नहीं, प्रेमचन्द ने एक ही वर्ग में विकसित टाइपों के सूक्ष्म अन्तर भी पहचाने हैं। झिंगुरी सिंह शहर के महाजन का एजेण्ट है, जो लिखा-पढ़ी करा के ही कर्ज देता है, मंगरूशाह आदि कागज नहीं लिखाते। रायसाहब और राजा सूर्यप्रतापसिंह में भी अन्तर है। दूसरा परले दर्जे का दुष्ट और निर्दयी है, रायसाहब इतना नहीं।

प्रेमचन्द के वर्गगत पात्रों में भी व्यक्तिगत विशेषताएँ रहती हैं, जिनके कारण उनका चरित्र दोहरा है। एक ओर वे अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, दूसरी ओर अपना स्वतंत्र निजी व्यक्तित्व भी रखते हैं। प्रेमचन्द ने रेखाचित्रों तथा विशिष्ट मनोवृत्तियों के प्रकाशन-द्वारा अपने वर्गगत पात्रों को भी विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। धनिया जहाँ एक कृषक-नारी है, वहाँ उसकी निर्भीकता, विशेषकर पुलिस दारोगा को भी फटकार देना, पंचों को भी आड़े हाथ लेना, उसका निजीपन है। जिस वर्ग के पुरुषों को लाल पगड़ी से कंपकपी चढ़ जाती है, उनकी नारी में इतनी निर्भीकता विरल ही है। उसकी कर्मठता, अदम्य साहस, असन्तोष-विद्रोह उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है। इसी प्रकार झिंगुरीसिंह में जहाँ और बातें वर्गगत ही हैं, वहाँ उनका हँसमुख स्वभाव, सारे गाँव को ससुराल बनाकर रहना, सबको साला समझना, बच्चों को गालियाँ देना-सुनना आदि उनके व्यक्तित्व को विशेषता प्रदान करते हैं। रायसाहब जमींदार-वर्ग का है, पर कुछ ऐसी बातें उसमें भी हैं, जो उसे विशिष्ट बनाती हैं, जैसे उसका दृढ़ चरित्र, वह भोग-विलास से दूर रहता है, यहाँ तक कि दूसरी शादी नहीं करता। धनुष-यज्ञ रचता है, ड्रामा आप लिख लेता है, चतुर सिद्धान्तवादी है, आदि।

प्रेमचन्द कई बार एक ही वर्ग और प्रकृति के पात्रों में भी परिस्थिति-विशेष में अन्तर दिखा कर उनके अलग-अलग व्यक्तित्व को उभारने का प्रयत्न करते हैं, जैसे दारोगा-द्वारा होरी की तलाशी लेने की धमकी देने पर जहाँ दातादीन, नोखेराम आदि बहुत भय जताते हैं और 50 रुपये से कम देने की नहीं सोचते, "मगर पटेश्वरी से यह अन्याय न देखा गया। कोई डाका या कतल तो हुआ नहीं। केवल तलाशी हो रही है। इसके लिए बीस रुपये बहुत हैं।" इसी प्रकार दातादीन और मातादीन एक ही कुंड़े के हैं, पर उनकी मजूरी करते हुए जब होरी मूर्छित हो जाता है तो जहाँ दातादीन को

दया छूती भी नहीं, वहाँ मातादीन उसके लिए दूध भी ले आता है। वह अपने बाप-जैसी निर्दयता नहीं जताता।

प्रेमचन्द के 'गोदान' में कम-से-कम दो पात्र ऐसे हैं जो व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण चरित्र कला के भव्य नमूने हैं। एक हैं डा० मेहता और दूसरे मिर्जा खुर्शेद। इन दोनों में वर्ग-प्रवृत्ति विशेष नहीं है, बल्कि इनका चरित्र व्यक्तिगत विशिष्टताओं से ओत-प्रोत है। मेहता विशिष्ट सिद्धान्तवादी हैं। उसका विशिष्ट आदर्शवादी-व्यावहारिक भौतिक जीवन-दर्शन है। वह दार्शनिक, गम्भीर और विवेकशील है। पर साथ ही परले दर्जे का विनोदप्रिय, जो शराब में चूर होकर चहक और बहक दोनों ही प्रकट करता है। वह अपनी आत्मा का सच्चा आज्ञाकारी पुत्र है। उसका प्रेम-व्यापार भी विचित्र है। इसी प्रकार खुर्शेद फक्कड़ मस्त जीव है। उसके चरित्र की विशिष्टता को भी हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

इस प्रकार 'गोदान' में यद्यपि अधिकतर वर्गगत चरित्र-सृष्टि हुई है, तथापि प्रेमचन्द ने पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं और उनके चरित्रों के स्वतन्त्र विकास का भी पूरा ध्यान रखा है। मेहता-खुर्शेद जैसे एक-दो पात्र व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण भी हैं। उनका वर्गगत चरित्र-चित्रण भी उनके विस्तृत जीवन-अनुभव का परिचायक है।

मनोविज्ञान—चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो नहीं किया है; उनके सरल, अशिक्षित और अजटिल पात्रों में मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों और कुण्ठाओं के लिए शायद गुँजाइश भी नहीं थी, फिर भी पात्रों का चरित्र-चित्रण सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है। किसी पात्र की कोई हरकत, कोई चिन्तन, कोई कथन ऐसा प्रतीत नहीं होता, जो अमनोवैज्ञानिक हो। अपवाद-स्वरूप एकाध स्थान पर कोई मनोवैज्ञानिक कमी निकल आए तो बात दूसरी है। कई स्थानों पर तो पात्रों की मनोवृत्तियों का अध्ययन अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है। झुनिया के आने पर धनिया के भाव-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण हम पीछे कर चुके हैं। किस प्रकार मातृत्व और नारीत्व के सजग होने पर उसकी वह उग्रता और प्रचण्डता समाप्त हो जाती है, यह दृष्टव्य ही है। गाय के आने पर भी नजर लगने के उसके भय की बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक झाँकी प्रस्तुत हुई है। जब दातादीन गाय का दूध अधिक जाँचता है तो "धनिया ने तुरन्त टोका—अरे नहीं महाराज, इतना दूध कहाँ ? बुढ़िया तो हो गई है। फिर यहाँ रातिब कहाँ धरा है ?" उसकी मनोवृत्ति का कैसा सुन्दर चित्रण है ! भाइयों के मनोभाव, विशेषकर हीरा के वचन सुनकर होरी का भावपरिवर्तन कितना मनोवैज्ञानिक है। वह इतनी साध से लाई हुई गाय को भी वापस करने की सोच लेता है। दमड़ी बंसोर के प्रसंग में भी होरी की मनोवृत्तियों का कैसा भव्य चित्रण हुआ है। जब हीरा इसी प्रसंग में पुनिया को मारता है तो पुनिया की मनोवृत्ति का कैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है ! जब हीरा दमड़ी बंसोर को 15 रुपये के भाव ही बाँस काटने को कह देता है तो कहाँ तो पुन्नी बैठी रो रही थी, कहां झमक कर उठी और सिर पीट कर बोली—लगा दे घर में आग, मुझे क्या करना है। भाग फूट गया कि तुझ-जैसे

कसाई के पाले पड़ी।" नारी मनोविज्ञान का एक और अत्यन्त सुन्दर उदाहरण गोबर के शहर से आने पर झुनिया के शोख मान का है। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द ने पात्रों की मनोवृत्तियों का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया है।

अपवाद-स्वरूप एक-आध स्थल पर मनोविज्ञान कुछ कच्चा भी दिखाई देता है। एक उदाहरण है कोदई और उसकी पत्नी के पारस्परिक झगड़े का प्रसंग। इस प्रसंग में प्रेमचन्द पूरी मनोवैज्ञानिकता नहीं ला सके। कोदई का पहले गोबर पर बुरी तरह बिगड़ जाना और फिर तुरन्त उसे ठहरने का निमन्त्रण ही नहीं, माता को समझा देने का अनुरोध करना मनोवैज्ञानिक दृढ़ता नहीं रखता। इसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक कमी एक और प्रसंग पर दिखाई देती है। गोबर शहर से जब कमा कर आता है, तो उसका माँ-बाप से भी झगड़ा हो जाता है। प्रेमचन्द ने इस प्रसंग में गोबर की बदतमीजी की अति कर दी है, जो अखरने लगती है। वह अपनी माँ से यहाँ तक कह देता है—"और यह तो स्वारथ का संसार है। जिसके साथ चार पैसे गम खाओ, वही अपना। खाली हाथ तो माँ बाप भी नहीं पूछते।···और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा कर्जा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ। जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने ही के लिए है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं?" यद्यपि झगड़े और क्रोध की अवस्था में बेटा भी माँ-बाप के प्रति उद्दण्डता का व्यवहार कर सकता है, पर गोबर का उपर्युक्त कथन कुछ सीमा के बाहर हो गया है—"मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।" आदि बचन गोबर-जैसे बेटे के मुँह से हीरा-धनिया जैसे माँ-बाप के सामने नहीं निकल सकते। मालती का भी पठान के प्रसंग में बर्बर अपरिचित पठानों के उग्र प्रेम को ललकना नारी-मनोविज्ञान के विरुद्ध है। इस अपवाद के सिवा 'गोदान' में सर्वत्र मनोवैज्ञानिक संगति है।

'गोदान' के अधिकांश पात्र निश्चित प्रकृति के हैं। गोबर, मालती, मातादीन, हीरा आदि ऐसे पात्र हैं जिनमें परिवर्तन हुआ है। प्रेमचन्द ने इन पात्रों के चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास ही प्रस्तुत किया है। पहले उपन्यासों में प्रेमचन्द के पात्रों का चरित्र-परिवर्तन कहीं-कहीं अमनोवैज्ञानिक-सा हो जाता था, किन्तु 'गोदान' के पात्रों के बारे में यह नहीं कहाँ जा सकता। प्रेमचन्द ने पात्रों के शारीरिक विकास का भी ध्यान रखा है। सोना बालिका से युवती और गृहिणी हो जाती है तो उसके शारीरिक विकास की रेखाएँ भी स्पष्ट की हैं। निश्चित प्रकृति के पात्रों में चारित्रिक परिवर्तन नहीं होता, किन्तु अवसर, घटना तथा परिस्थिति-विशेष पर उनके मनोभावों तथा प्रवृत्तियों में मनोवैज्ञानिक विकास और परिवर्तन आदि स्पष्ट लक्षित होते हैं। ये पात्र स्वयं भी अपने आचरणों से परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं और परिस्थितियाँ तथा घटनाएँ भी उनके चारित्रिक विकास में सहयोग देती हैं। इस प्रकार कथा और चरित्र-चित्रण का सामंजस्य घटित होता चलता है।

प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए रेखाचित्र शैली, व्याख्या शैली तथा नाटकीय शैली आदि सब को अपनाया है। वे अधिकतर अपनी ओर से रेखाचित्र तथा व्याख्या ही प्रस्तुत करते हैं, पात्रों की मनोवृत्तियों का मनोविश्लेषण नहीं करते।

मनोवैश्लेषिक शैली वैसे भी जटिल वैयक्तिक पात्रों के लिए ही प्रयुक्त की जाती है। प्रेमचन्द के पात्र जटिल वैयक्तिक पात्र नहीं हैं, वे सरल सामाजिक पात्र हैं। अतः प्रेमचन्द को मनोवैश्लेषिक शैली की जरूरत नहीं पड़ी। नाटकीय शैली अर्थात पात्रों के क्रिया-कलाप, कथोपकथन तथा परिस्थितियों द्वारा उनके चरित्रों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि प्रेमचन्द के पात्र इतने सरल हैं कि उनके चरित्र उनके कार्यकलापों, संवाद आदि से पूरी तरह स्पष्ट हो जाते हैं, फिर भी प्रेमचन्द अपनी लेखनी से उनका रेखा-चित्र और सरल चारित्रिक व्याख्या प्रस्तुत करके उन्हें बिल्कुल बोधगम्य बना देते हैं।

इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द पूर्ण सफल कहे जा सकते हैं। उनकी चरित्र-सृष्टि अत्यन्त व्यापक है। भिन्न-भिन्न वर्गों के पात्रों का उन्होंने सजीव चित्रण किया है। पात्रों में वर्गगत प्रवृत्तियाँ होते हुए भी व्यक्तिगत विशेषताएँ रहती हैं। रेखा-चित्रों द्वारा भी पात्रों का व्यक्तित्व सजीव कर दिया है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक संगति पाई जाती है। पात्रों में मानव-सुलभ 'कु' और 'सु' दोनों प्रवृत्तियाँ रहती हैं। ये पात्र इसी धरती के हमारे परिचित-से सजीव प्राणी हैं।

5. देशकाल-वातावरण

प्रेमचन्द सामाजिक उपन्यासकार हैं। सामाजिक उपन्यासकार को भी ऐतिहासिक उपन्यासकार की तरह देशकाल-वातावरण के पूर्ण निर्वाह का ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि सच्चे सामाजिक उपन्यास भी कालान्तर में ऐतिहासिक उपन्यास बन जाते हैं, प्रेमचन्द के उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। इस ऐतिहासिक महत्त्व का एक मात्र कारण है उनमें देश-काल-वातावरण की सजीवता। प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमारे भारतीय जीवन का कम-से-कम पिछली अर्द्ध शताब्दी का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास सजीव हो उठा है।

'गोदान' का चित्र-पट पर्याप्त विस्तृत है। यह भारतीय ग्राम-जीवन का तो दर्पण है ही, साथ ही शहरी जीवन के भी कुछ सजीव चित्र इसमें उभर कर आये हैं। गाँवों से शहर तक जीवन का व्यापक परिवेश इसमें है। अतः देशकाल-वातावरण के भी स्पष्टः दो पक्ष इसमें मिलते हैं—एक ग्राम्य जीवन और वातावरण तथा दूसरा शहरी जीवन-वातावरण।

ग्राम-जीवन का दर्पण—प्रेमचन्द गवई गाँवों के चितेरा हैं, उनका अपना जीवन बहुतांशतः गाँवों में ही बीता था। अतः उन्हें ग्राम-जीवन के प्रत्येक आयाम और हर पहलू का व्यक्तिगत अनुभव था। उनकी अनेक कहानियों तथा 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' आदि 'गोदान' से पूर्व के उपन्यासों में भी उन्होंने ग्राम्य-जीवन की अनेक झाँकियाँ दी हैं, पर समग्र रूप में एकत्रित ग्राम-जीवन का जैसा भव्य और पूर्ण चित्रण 'गोदान' में हुआ है, वह पहले की किसी रचना में नहीं। सच तो यह है कि प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास के पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में भी ग्राम्य-जीवन की पूर्णता को उद्घाटित करने वाला 'गोदान'-जैसा दूसरा उपन्यास उपलब्ध नहीं हुआ। 'गोदान' कृषक-संस्कृति की लोक-

परम्परा का प्रतीक प्रेमचन्द का अन्यतम उपन्यास है। वह ग्राम-जीवन का महाकाव्य है।

ग्राम्य जीवन का सामाजिक ढांचा 'गोदान' में बड़ी सजीवता से प्रस्तुत हुआ है। गाँव में कई वर्गों और जातियों के लोग रहते हैं। उनकी सामाजिक मर्यादाएँ, श्रेणियाँ और स्तर भी अलग-अलग हैं। दातादीन-जैसे ब्राह्मण हैं, जिन्हें ग्राम-समाज धर्म-दूत मान कर आदर की दृष्टि से देखता है। चौधरी महतो हैं, जिनकी अपनी मरजाद है। हरखू-जैसे निम्न वर्ग के चमार हैं, जिन्हें उच्च वर्ग वाले नीच समझते हैं। भोला-जैसे अहीर हैं, जिनमें पुनर्विवाह, तलाक सब मान्य हैं। ग्राम-समाज के स्तम्भ उच्चवर्ग के लोग हैं। उच्चता के दो आधार हैं— एक जाति और दूसरे प्रभाव और पैसा। दातादीन वर्ण की उच्चता का लाभ उठा रहे हैं, तो नोखेराम और पटेश्वरी अपने अधिकार के प्रभाव से पंच बने हुए हैं, झिंगुरीसिंह अपने पैसे के बल पर अधिकार प्राप्त किये हुए हैं।

परम्परागत समाज-व्यवस्था का गाँवों में आतंक है। लोग अभी स्वेच्छा तथा विवशतापूर्वक इस बात पर विश्वास रखते हैं। पंच परमेश्वर माने जाते हैं और बिरादरी उद्धारक। व्यक्ति या परिवार को पंच और बिरादरी के शासन में ही रहना पड़ता है। परंपरागत झूठी-यथार्थ मर्यादाओं का उल्लंघन करने वालों को पंचायत करके दण्डित किया जाता है। बिरादरी से बाहर कर देने का भय भी रहता है। बिरादरी में हुक्का-पानी बन्द होने से व्यक्ति या परिवार कहाँ रहे और कैसे रहे? इस प्रकार प्राचीन ग्राम-पंचायत का रूप विकृत हो गया है। यह सब महाजनी संस्कृति के विकास का कुफल है। सब बातों में पैसे की माप-जोख चलती है।

ग्राम-पंचायत का रूप बिगड़ गया है और प्राचीन सम्मिलित परिवार-पद्धति तो नष्ट होती जा रही है। शायद ही कोई घर ऐसा हो, जहाँ दो भाई साथ मिलकर रहते हों। एक तो आय के अल्प-साधनों से भाइयों में खटपट हो जाती है, दूसरे झगड़ालू बहुएँ बड़ों के शासन से मुक्त होकर अलग रहना चाहती हैं और अलगौझा करवा देती हैं। भाइयों में आपस में ईर्ष्या-द्वेष रहता है, किन्तु मुसीबत के समय भाई ही भाई की मर्यादा रखता है, भाई ही भाई के काम आता है। सम्मिलित परिवारों में सास-बहू, ननद-भावजों, देवरानी-जेठानी में रोज तकरार रहती है, मामूली-मामूली बातों पर झगड़ा और कहा-सुनी ही नहीं, मार-पीट तक हो जाती है।

ग्राम-समाज भी पुरुष-प्रधान समाज है। पुरुष नारी को पर्दे में रखना चाहता है। उच्चवर्ग की नारियाँ विशेष रूप से पर्दे में रहती हैं। किसान, अहीर और निम्न-वर्ग की नारियाँ खेत-खलिहान और पशु-ढोर का भी सब काम करती हैं। इस कारण वे भी अपना कुछ अधिकार मानती हैं। फिर भी पुरुष की ही प्रमुखता है। पुरुष पत्नी को मारना और अपने शासन में रखना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। पुन्नी-जैसी नारियाँ अधिकारों की टक्कर होने पर, मार खाती हुई भी गालियों और रुदन द्वारा अपना अधिकार जताती हैं। वैवाहिक पद्धति में अनेक दोष आ गए हैं। अनमेल विवाह होते हैं। भोला-जैसा बूढ़ा जवान पत्नी का शिकार मार लाता है। झिंगुरीसिंह दो जवान पत्नियाँ रखे हुए

हैं। कई बार विवशतावश होरी-जैसे पिता को भी अपनी लड़की अधेड़ उमर के रामसेवक को बेचनी पड़ जाती है। उच्च-वर्ण में विधवा-विवाह, नारी का पुनर्विवाह, त्याग आदि वर्जित हैं। निम्नवर्ग में यह सब मान्य हैं। बेमेल विवाह के परिणामस्वरूप कभी-कभी पर्दे की आड़ में या टट्टी की ओट में ताक-झाँक, अनुचित सम्बन्ध आदि अनैतिक आचरण भी दिखाई देते हैं।

छुआ-छूत और जात-पाँत के बंधन भी काफी कड़े हैं। गोबर जब अहीर की विधवा कन्या को ले आता है और होरी-धनिया उसे अपने घर लेते हैं तो समाज-बिरादरी में तूफान मच जाता है। उच्च-वर्ग के लोग विजातीय नारियों को चोरी-चोरी ही रखैल बनाते हैं। ब्राह्मण आदि उच्च-वर्ग के लोग चमारों आदि-वर्ग से छुआछूत का व्यवहार करते हैं।

ब्राह्मण-धर्म अपने पूरे पाखण्डों-सहित गाँवों में विराजमान है। ब्राह्मण ही पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, शादी-ब्याह, अन्त्येष्टि आदि कर्मों के नियामक हैं और अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए धर्म का ढोंगी-रूप प्रचारित करते हैं। इस धर्म ने ही ग्रामीणों को भाग्यवाद पुनर्जन्म, कर्म-फल, पाप-पुण्य तथा ईश्वरीय न्याय आदि के अन्ध-विश्वासों में जकड़ रखा है। वही धर्मात्मा समझा जाता है, जो नियमपूर्वक स्नान-ध्यान करे, तिलक-छापा लगाये, किसी का छुआ भोजन न खाये, कथा-व्रत-पूजा निभावे। दातादीन अपने धर्म का ऐसा ही दम्भ इन पंक्तियों में प्रकट करते हैं—"कोई हमारी तरह नेमी बन तो ले। कितनों को जानता हूँ, जो कभी संध्या-वन्दन भी नहीं करते, न उन्हें धरम से मतलब, न करम से, न कथा से मतलब, न पुरान से। वह भी अपने को ब्राह्मण कहते हैं। हमारे ऊपर क्या हँसेगा कोई, जिसने अपने जीवन में एक एकादशी भी नागा नहीं की, कभी बिना स्नान-पूजन किये मुँह में पानी नहीं डाला। नेम निभाना कठिन है। कोई बता दे कि हमने कभी बाजार की कीई चीज खाई हो, या किसी दूसरे के हाथ का पानी पिया हो, तो उसकी टाँग की राह निकल जाऊँ। सिलिया अपनी चौखट नहीं लाँघने पाती, चौखट, बरतन-भाँडे छूना तो दूसरी बात है।" किसी कारण धर्म भ्रष्ट हो जाने पर ब्राह्मणों को भोज देने तथा प्रायश्चित्त की व्यवस्था निभाने से बिगड़ा धर्म सुधर सकता है। काशी के पण्डित इन गाँवों के ब्राह्मण-पण्डितों से भी बड़े धर्म-ध्वजी माने जाते हैं। मुँह में हड्डी छू जाने से ही मातादीन का धर्म नष्ट हो गया और काशी के पण्डितों ने प्रायश्चित्त करके सुधार दिया!

धर्म-भीरुता और समाज-भीरुता किसानों में संस्कार-बद्ध हो गई है। 'झूठी गंगा-जली' वह नहीं उठा सकते। ब्राह्मण का पैसा मारना उनके लिए लिए पाप है। इस धर्म-समाज-भीरुता ने जहाँ उनमें कुछ दुर्बलताएँ तथा अन्धविश्वास पैदा कर दिये हैं, वहाँ इसके कारण गाँव वालों का नैतिक आचरण भी काफी दृढ़ रहता है। अपनी आर्थिक विवशता के कारण, थोड़ा-बहुत झूठ बोल लेना या छोटी-छोटी बेईमानी कर लेना आदि नैतिक शिथिलता अत्यन्त नगण्य हैं। कृषक-वर्ग के लोग फिर भी किसी के जलते घर में हाथ नहीं सेंकते, प्रकृति के संसर्ग में रहने के कारण स्वार्थ की कलुषित-कालिमा उनको

छूती भी नहीं। गाँव के युवकों का आचरण भी इतना नहीं बिगड़ा जितना शहर वालों का बिगड़ गया है। गोबर के लिए गाँव की सभी युवतियाँ और बहुएँ बहनें अथवा भाभियाँ थीं, वह किसी की ओर बुरी दृष्टि से नहीं देखता था। किन्तु जब से गाँव के लड़के शहर में पढ़ने लगे हैं, उनकी लाज-हया न जाने कहाँ लुप्त हो गई है। पटेश्वरी और नोखेराम के लड़के गाँव की बहू-बेटियों की ताक-झाँक करते घूमते-फिरते हैं। ग्राम-समाज अशिक्षित है, असभ्य है, फिर भी मानवता के नाते ये लोग अनेक शिक्षितों से अच्छे हैं।

गाँवों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई है। इने-गिने महाजनों को छोड़कर शेष सब लोग पैसे-पैसे को मोहताज हैं। सारा साल परिश्रम करने पर भी उन्हें उसका पूरा फल नहीं मिलता। दो जून भोजन भी मयस्सर नहीं होता। भूमि टुकड़े-टुकड़े हो गई है—अलगौझे तथा बेदखली के कारण, खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे हुए हैं। पुराने ढंग से ही खेती होती है। भगवान्-भरोसे ही खेती रहती है। किसान पुश्त-दर-पुश्त कर्ज के बोझ से दबते जा रहे हैं। एक आना से दो आना रुपया तक ब्याज देना पड़ता है। महाजनी-व्यवहार का बोल-बाला है। लगान चुकाने, फसल बोने, ब्याह-शादी आदि सब अवसरों पर किसानों को महाजनों का मुँह ताकना पड़ता है। होरी 5 बीघे और एक हल का किसान है; उसकी हालत जब इतनी बुरी है तो उन हजारों किसानों की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है, जिनके पास अपनी जरा भी जमीन नहीं है और न हल। किसान के पास से जमीन छिनती जा रही है और वह मजदूर बनता जा रहा है—गाँव में जमींदार का और शहर जाकर मिलमालिकों का। होरी कहता है—"गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई!" जमींदार भारी लगान की सख्ती से वसूली करके तथा डाँड-बाँध, चन्दा, बेगार आदि लेकर; जमींदार का कारिन्दा भी बेगार तथा ब्याज-बट्टा वसूल करके, महाजन भारी ब्याज खाकर, पटवारी अपने रौब से बेगार तथा नजर-नजराना लेकर, मिल वाले ऊख आदि उपज को कम तौल कर, ब्राह्मण अपनी पुरोहिताई तथा महाजनी चलाकर—सब लोग तरह-तरह से गरीब किसानों का शोषण कर रहे हैं। किसान इस शोषण की चक्की में पिस रहा है। ग्रामीण बेचारे मोटा-रूखा खाते हैं, मोटा-झोटा पहनते हैं, फिर भी न पेट भरता है, न तन पूरा ढकता है।

'गोदान' में ग्राम्य वातावरण अत्यन्त सजीव है। ग्रामीणों का खान-पान, पहनावा, संस्कार, बातचीत, व्यवहार सब सजीव हैं। तीसरे परिच्छेद की एक झांकी देखिए—"होरी अपने गाँव के समीप पहुँचा तो देखा, अभी तक गोबर खेत में ऊख गोड़ रहा है और दोनों लड़कियाँ भी उसके साथ काम कर रही हैं।···तीनों ने कुदालें उठा लीं और उसके साथ हो लिए।···बड़ी लड़की···गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी, उसके हल्के शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी,···छोटी रूपा···मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला-सा बना हुआ, एक लँगोटी कमर में बाँधे,···।···द्वार पर कुआँ था। होरी और गोबर ने एक-एक कलसा पानी सिर पर उँडेला, रूपा को नहलाया और भोजन करने गये। जौ की रोटियाँ थीं, पर गेहूँ-जैसी सुफेद और चिकनी। अरहर की दाल थी, जिसमें कच्चे आम पड़े हुए थे। रूपा बाप की

थाली में खाने बैठी।" भोला के आने पर उसकी पाहुनों-जैसी खातिर हुई। "गोबर ने खाट डाल दी, सोना रस घोल लायी, रूपा तमाखू भर लायी।"···होरी और गोबर मिलकर एक खाँचा भूसा भर लाये। भोला ने तुरन्त अपने अँगोछे की बीड़ बनाकर सिर पर रखते हुए कहा—मैं इसे रखकर अभी भागा आता हूँ। एक खाँचा और लूंगा।" इसी प्रकार का पूरा ग्रामीण वातावरण सारे उपन्यास में सजीवता के साथ प्रकट हुआ है। उनकी बातचीत में ग्राम्य संस्कार विद्यमान हैं। भाषा भी ग्रामीण बोलचाल की है, जो वातावरण को बिल्कुल सजीव कर देती है। क्या खेत-खलिहान में काम करने का वर्णन, क्या होली के उत्सव का राग-रंग, ढोल-मंजीरों की खड़ताल, चौपाल, घर-झोंपड़ी सब का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

शहरी जीवन-वातावरण—'गोदान' में शहरी जीवन की कुछ झलकियाँ ही मिलती हैं। नगरों के वातावरण और जीवन का पूर्ण चित्र वैसा नहीं है जैसा ग्राम्य चित्र है। वास्तव में शहरी जीवन केवल तुलना के हेतु साथ प्रस्तुत किया गया है, यह लेखक का मुख्य उद्देश्य नहीं है। शहरों में अनेक प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलन और तरह-तरह की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। नारी-स्वच्छन्दता का आन्दोलन शिक्षिता नारियों ने स्वयं चलाया हुआ है। पाश्चात्य स्वच्छन्दता और भारतीय मर्यादावाद का संघर्ष है। सरोज, मालती आदि नवयुवतियाँ पाश्चात्य स्वतन्त्रता के पक्ष में हैं, मेहता उसके स्थान पर नारीत्व का भारतीय आदर्श प्रचारित करते हैं। 'बिजली' संपादक ओंकारनाथ और उनका पत्र ग्राम-सुधार का बीड़ा उठाए हुए है। मिर्जा खुर्शेद को तरह-तरह की इल्लतें सूझती रहती हैं। कभी तो वह पैसे वाले शहरियों को कबड्डी दिखाने के लिए, उनसे टिकट के पैसे झाड़कर गरीब मजूरों में बाँटता है, कभी वेश्याओं की समस्या का इलाज ढूंढता है तो कभी मजदूरों को हड़ताल के लिए भड़काता है। नगरों में नई-नई व्यापारिक कम्पनियाँ, बीमा-कम्पनियाँ, बैंक तथा मिल-कारखाने खुल रहे हैं। बड़े-बड़े पूंजीपति और उद्योगपति विकसित हो रहे हैं। दूसरी ओर शहरों में मजदूरों और गरीबों का जमाव हो रहा है। प्रेमचन्द ने शहरी मजदूरों और बेकारों की बड़ी सजीव झाँकी प्रस्तुत की है—गाँव (कोदई के गाँव) के और कई आदमी मजूरी की टोह में शहर जा रहे थे। बातचीत में रास्ता कट गया और नौ बजते-बजते सब लोग अमीनाबाद के बाजार में जा पहुँचे। गोबर हैरान था। इतने आदमी नगर में कहाँ से आ गये? आदमी पर आदमी गिरा पड़ता था।

"उस दिन बाजार में चार-पाँच सौ मजदूरों से कम न थे। राज, बढ़ई, लोहार, बेलदार, खाट बुनने वाले, टोकरी ढोने वाले और संगतराश सभी जमा थे। गोबर यह जमघट देखकर निराश हो गया। इतने सारे मजदूरों को कहाँ काम मिल जाता है।··· धीरे-धीरे एक-एक करके मजदूरों को काम मिलता जा रहा था। कुछ लोग निराश होकर घर लौटे जा रहे थे। अधिकतर वह बूढ़े और निकम्मे बच रहे थे। जिनका कोई पुछत्तर न था।"

प्रेमचन्द ने 'गबन' में शहरी निम्न मध्यवर्ग का जीवन चित्रित किया था। किन्तु

'गोदान' में मुख्यतः उच्चवर्ग के जमींदार, मिल-मालिक, शिक्षित प्रोफेसर और डाक्टर पार्टियाँ देते-लेते हैं, शराब-कबाब आम चलता है; वे चन्दा देते हैं और खुला खर्चीला जीवन बिताते हैं। कारों में घूमते हैं, बढ़िया खाते-पहनते हैं, कोठी-बँगलों में रहते हैं। गरीब लोग गन्दी गलियों, तंग कोठरियों, अहातों में गुजर करते हैं। शहर में मजदूरों, तांगे-खोंचे वालों का जीवन दरिद्रता की करुण कहानी है।

शहरी उच्चवर्ग—विशेषकर जमींदार और पूँजीपति विलास-पूर्ण जीवन बिताते हैं। कुँवर दिग्विजयसिंह घोर विलासी हैं। खन्ना, राजा सूर्यप्रतापसिंह भी रसिक और विलासी हैं। उन्मुक्त भोग और स्वच्छन्द विहार शिक्षित नारियों और पुरुषों का जीवन-सिद्धान्त बनता जा रहा है। शिक्षित नारी पाश्चात्य रंग में रंगी फैशन की पुतली बन रही है। वह तितली बनकर पुरुषों को अपने इशारे पर नचाने में आनन्द मनाती है। शिक्षित युवक-युवतियाँ स्वच्छन्द प्रेम पर विश्वास करते हैं। रुद्रपाल और सरोज में ऐसा ही प्रेम-सम्बन्ध हो गया। माँ-बाप के विरोध की भी परवाह नहीं की जाती। रायसाहब की बात को रुद्रपाल ठुकरा देता है। पुरुष की लम्पटता के कारण कई बार पति-पत्नी में कलह हो जाता है और पारिवारिक शांति नहीं रहती। खन्ना-गोविन्दी का उदाहरण ऐसा ही है। मीनाक्षी और दिग्विजयसिंह का झगड़ा तो दूसरी सीमा तक ही पहुँच जाता है। नगर-समाज में भी पुरुष की ही प्रधानता है; वही कमाता है और अपना प्रभाव रखता है; किन्तु बहुत-सी शिक्षित नारियाँ भी अब जीवन के अनेक क्षेत्रों में काम करने लगी हैं। मालती अपने माता-पिता-बहनों के खर्चे का भार स्वयं वहन करती है।

शहरी जीवन में स्वार्थ अधिक मात्रा में घुसता जा रहा है। गाँव के छोटे महाजनी रूप का शहरी विकास पूँजीपतियों की व्यावसायिक बुद्धि के रूप में हुआ है। इस वर्ग का नारा है 'Business is business' अर्थात् व्यापार व्यापार है; व्यापार अलग चीज है, दोस्ती अलग। खन्ना अपने मित्र रायसाहब से भी खूब कमीशन वसूल करता है। ये लोग जहाँ भी मिलते हैं, अपने मतलब की बात करते हैं। शिकार में खन्ना, तंखा को रुचि नहीं। खन्ना रायसाहब के पास अपनी कम्पनी के शेयर बेचना चाहता है; तंखा इलेक्शन में मिर्जा खुर्शेद को खड़ा करके दूसरे पक्ष से हजारों रुपये उड़ाने की बात सोचता है। मिल-मालिक मजदूरों को कम मजूरी देते हैं, बेचारों का दो जून खाना भी नहीं चलता। खन्ना स्वयं मैनेजिंग डायरेक्टर बना हजारों रुपये मासिक वेतन लेता है। पर मजदूरों की मजूरी और भी घटा देता है। ऐसी स्थिति मजदूरों की अशांति का कारण बनती है। मजदूर हड़ताल कर देते हैं। संघर्ष तन जाता है। मिलों में मजदूरों की हड़तालें और संघर्ष उस युग में आए दिन होने लगे थे। पत्र-सम्पादक ओंकारनाथ और खुर्शेद-जैसे नेता मजदूरों को भड़का कर आग में झोंक देते हैं, आप आग से अलग हो जाते हैं। ऐसे ढोंगी नेता जन-सेवा के नाम पर कई बार अपने स्वार्थों को ही सिद्ध करने की धुन में रहते हैं। रायसाहब और मिस मालती-जैसों का जेल हो आना ऐसे ही प्रयत्न थे। इस स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण शहर में किसी को एक-दूसरे से सच्ची सहानुभूति और संवेदना नहीं रही। रायसाहब अपने वर्ग की सच्ची तसवीर प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"नहीं सह सकता उनकी हँसी जो अपने बराबर के हैं, क्योंकि उनकी हँसी में ईर्ष्या, व्यंग्य और जलन है।···सम्पत्ति और सहृदयता में बैर है। हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं; लेकिन···केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए···हम में से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय···हवालात हो जाय ··और किसी का जवान बेटा मर जाय···तो उसके और भाई उस पर हँसेंगे, बगलें बजायेंगे,···और मिलेंगे तो इतने प्रेम से, जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं।" ह्रासोन्मुखी जमींदारी का बहुत सुन्दर चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। जमींदार भी अब शहर के बैंकों और पूंजीपतियों पर आधारित हो गये हैं। अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनेक ढोंग रचते हैं—एक ओर जनता के खैरख्वाह बनते हैं, दूसरी ओर सरकारी अफसरों से बनाकर रखते हैं।

ब्रिटिश नौकरशाही और पुलिस-पद्धति के काले कारनामों का भी अच्छा चित्रण हुआ है। दारोगा रिश्वत उड़ाने की ही ताक में रहते हैं; अमले-हाकिम डालियाँ लेते और नजर-नजराने खाते हैं और टिड्डीदल गाँवों पर हमला बोल देते हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने शहरी-जीवन की भी अनेक झाँकियाँ प्रस्तुत करके सामयिक समाज और वातावरण का सच्चा चित्रण किया है। इस यथार्थ देशकाल-वातावरण के चित्रण से रचना में युग-धर्म की पूरी रक्षा होती है। पाठक को सबकुछ स्वाभाविक प्रतीत होता है। शहरी शिक्षित पात्रों की बातचीत भी उनके शिक्षित संस्कारों और बौद्धिक विकास की परिचायक होती है। उनकी भाषा में भी नागरिकता है।

देशकाल-वातावरण की यह सजीवता और स्वाभाविकता जहाँ एक ओर रचना का ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ाती है, वहाँ रस-परिपाक में भी सहायक होती है। इससे रस-सामग्री अर्थात् साहित्य-अनुभूतियों में औचित्य की प्रतिष्ठा हो जाती है। सब पात्रों, परिस्थितियों और भावों का साधारणीकरण और सहज सम्प्रेषण हो जाता है। अतः देशकाल की सजीवता प्रेमचन्द के उपन्यासों के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व को बढ़ाने में खूब सहायक सिद्ध हुई है। उनके व्यापक मानव-जीवन-अध्ययन पर तो आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

6. संवाद-शैली

संवाद या कथोपकथन भी किसी प्रबन्ध-रचना में अत्यावश्यक हैं। हमारा जीवन बातचीत, वार्तालाप से ही कटता है। व्यापक और विस्तृत जीवन-प्रसंगों की वार्तालाप के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः कथोपकथन एक ओर जीवन-प्रसंगों को स्वाभाविक बनाते हैं, दूसरी ओर उनके समावेश से प्रबन्ध में रोचकता की वृद्धि होती है। किन्तु कथा-प्रबन्ध में उन संवादों को ही स्थान मिलना चाहिये जो कथा तथा चरित्रों के विकास से सम्बन्ध रखते हों, अन्यथा प्रबन्ध में शिथिलता का कारण बन जाते हैं। हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं कि सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही सजीव, स्वाभाविक, रोचक और

सार्थक कथोपकथन का आदर्श प्रस्तुत किया। उनके 'गोदान' में संवाद-शैली भी कला के उत्कर्ष पर पहुँची हुई है।

'गोदान' के प्रायः सभी संवाद पूर्ण सार्थक हैं। वे कथा और चरित्रों के स्वाभाविक विकास में भी सहायक सिद्ध हुए हैं तथा रोचक और सजीव-स्वाभाविक भी हैं। 'गोदान' का आरम्भ भी इन्हीं सार्थक संवादों से हुआ है—होरीराम ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा—"गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूं। जरा मेरी लाठी दे दे।"

धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे थे। उपले पाथ कर आई थी। बोली—अरे, कुछ रस-पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है।

और पाठकों को बताने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार होरी-धनिया का यह पहले दो पृष्ठों का वार्तालाप ही कितना स्वाभाविक और सजीव है। यह होरी-धनिया के प्रगाढ़ पारस्परिक प्रेम, उनकी निदारुण निर्धनता और दयनीय परिस्थिति का तो परिचायक है ही, साथ ही इससे होरी और धनिया की मूल प्रकृति तथा चरित्र-स्वभाव का पूरा पता चल जाता है। होरी की दब्बू, खुशामदी प्रकृति और धनिया का असन्तोष, विद्रोह और ममता कितने स्पष्ट और सजीव हैं। यह वार्तालाप अद्भुत रोचक है। उदात्त शृंगार और हास्य-विनोद तथा करुणा की छाया का कैसा त्रिवेणी-संगम इन दो पृष्ठों में पाया जाता है! बात-चीत खीझ और असन्तोष से कैसे हास-परिहास में बदल जाती है और फिर उसमें 'साठे तक पहुँचने की नौबत ही न आने पायेगी' से कैसे एकदम करुणा की छाया घनीभूत हो जाती है, यह सब पढ़ते ही बनता है। कथोपकथन के समस्त गुण इस संवाद में विद्यमान् हैं। संक्षिप्तता, स्वाभाविक सजीवता, नाटकीयता, रोचकता और प्रबन्ध में सार्थकता आदि सब विशेषताएँ पाई जाती हैं।

प्रेमचन्द की संवाद-शैली में नाटकीयता का गुण खूब पाया जाता है। 'गोदान' में यह चरमोत्कर्ष पर है। प्रेमचन्द वार्तालाप कराते हुए पात्रों की भाव-भंगियों और चेष्टाओं का ऐसा सजीव वर्णन करते हैं कि पात्रों का अभिनय साकार आँखों के आगे नाचने लगता है। इस आरम्भिक संवाद में ही "होरी ने अपने झुर्रियों से भरे हुए माथे को सिकोड़कर कहा,"—धनिया ने "परास्त होकर होरी की लाठी, मिरजई, पगड़ी, जूते और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिये", "होरी ने उसकी ओर आँखें तरेरकर कहा", "होरी के गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुसकराहट की मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते हुए कहा", आदि में नाटकीय तत्त्व कितने स्पष्ट और स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार कहीं धनिया 'हाथ मटकाकर' बोलती है, तो कहीं दातादीन 'पैनी दृष्टि से ताककर' बात करते हैं। कोई रोष में कौड़ी की-सी आँखें निकालकर उत्तर देता है, तो कहीं रायसाहब 'मूंछों में मुस्कराहट लपेट कर' खन्ना से बात करते हैं। कथोपकथन कराते समय भावानुकूल भावभंगियों के ये नाटकीय संकेत बहुत ही उपयुक्त हैं।

'गोदान' में अधिकांशतः सुन्दर, स्वाभाविक, सजीव, संक्षिप्त, रोचक और सार्थक संवाद ही पाये जाते हैं। प्रेमचन्दजी ने स्वाभाविकता की रक्षा के लिए पात्रानुकूलता का

पूरा ध्यान रखा है। सभी पात्र अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति, संस्कार, शिक्षा और परिस्थिति के अनुसार बातचीत करते हैं। उनकी भाषा भी उनके शिक्षा-अनुभव के अनुरूप ही होती है। प्रेमचन्द की पात्रानुरूप संवाद-शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि बहुधा उनके समूचे उपन्यास में पात्रों के वार्तालाप विशिष्ट प्रतीत होते हैं। यह पात्र-वैचित्र्य धनिया, होरी, गोबर, मेहता आदि के संवादों में स्पष्ट दिखाई देता है। धनिया के कथन सदैव या तो निदारुण गरीबी और अन्याय से क्षुब्ध उसके हृदय के सच्चे, उग्र, विक्षोभकारी, निर्भीक, व्यंग्यपूर्ण, उद्‌गार होंगे, या अपने आत्मीय बन्धुओं के प्रति उसके ममतापूर्ण स्निग्ध स्नेह के परिचायक होंगे। गरीबी से असन्तोष, होरी के भोलेपन तथा शोषकों और समाज के ठेकेदारों के प्रति उसके उद्‌गारों में व्यंग्य की निर्ममता विशिष्टता प्रकट करती है। गोबर के भी विद्रोह और असन्तोष के उद्‌गार ऐसे ही व्यंग्यपूर्ण हैं। वास्तव में प्रेमचन्द की शैली में व्यंग्य का विशेष पुट सर्वत्र पाया जाता है। इस व्यंग्यात्मक संवाद-शैली ने उपन्यास में मजा ला दिया है। यह बीभत्स रस और हास्य रस का अंग बनकर प्रकट हुई है। एक-दो उदाहरण देखिए। होरी मालिकों की खुशामद करने गया था। गोबर ने सीधा कटाक्ष किया—"यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो?" होरी यह सफाई देता हुआ कहता है कि मतलब से जाता हूँ, "पांव में सनीचर नहीं है और न सलामी करने में कोई बड़ा सुख मिलता है।" तो गोबर की व्यंग्योक्ति देखिए—"बड़े आदमियों की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने में कुछ-न-कुछ आनन्द तो मिलता ही है। नहीं तो लोग मेम्बरी के लिए क्यों खड़े हों?" दारोगा और पंचों की धाँधली के समय धनिया के कथन कितने सजीव और मार्मिक व्यंग्यपूर्ण हैं! शहर में जब गोबर झुनिया को मारता है और झुनिया को बचाने वाली सहानुभूतिशीला नारी चुहिया को भी कहता है—"तुम मेरे घर में मत आया करो" तो चुहिया व्यंग्य के साथ कहती है—तुम्हारे घर न आऊँगी तो मेरी रोटियाँ कैसे चलेंगी? यहीं से माँग-जाँच कर ले जाती हूँ, तब तवा गर्म होता है! मैं न होती लाला, तो यह बीबी आज तुम्हारी लातें खाने के लिए बैठी न होती।" होरी ने भोला से गाय लेने के लिए सगाई ढूँढ़ लाने का झाँसा दिया, किन्तु जब भोला ने अपना संकट सुनाया तो संकट की चीज लेना उसने अस्वीकार कर दिया और भूसा देने का वायदा कर लिया। गोबर-धनिया ने जब यह बात सुनी तो बहुत अखरी। गोबर बोला—"तो तुम अब सब की सगाई ठीक करते फिरोगे?" धनिया ने तीखी आँखों से देखा—"अब यही एक उद्यम तो रह गया है। नहीं देना है हमें भूसा किसी को। यहाँ भोली-भोला किसी का करज नहीं खाया है।" और जब भोला भूसा लेने आ पहुँचता है तो "गोबर आकर बोला—भोला दादा आ पहुँचे। मन-दो-मन भूसा है, वह उन्हें दे दो, फिर उनकी सगाई ढूँढ़ने निकलो!" कैसी बढ़िया व्यंग्य-शैली है! खन्ना का बच्चा बीमार है। गोविन्दी डॉ० नाग को बुलाने के लिए कहती है। खन्ना मालती को बुलाने के पक्ष में हैं। गोविन्दी व्यंग्य करती है—"मुझे उस पर भरोसा नहीं है। वह मरदों के दिल का इलाज कर लें और किसी की दवा उनके पास नहीं है।" इस प्रकार की व्यंग्यात्मक संवाद-शैली ने रोचकता खूब उत्पन्न कर दी है। ऐसे संवादों में पात्रों की

वाक्पटुता भी खूब दिखाई देती है। इस प्रकार के वाग्वैदग्ध्य से पूर्ण संवाद प्रेमचन्द की कला की बड़ी शक्ति हैं। हास-परिहासपूर्ण संवाद भी कुछेक स्थलों पर मिलते हैं। जब धनिया भोला को भूसा देने का विरोध करती है तो होरी ने पुचारा दिया— "···लेकिन उनकी भलसानसी को भी तो देखो। मुझ से जब मिलता है, तेरा बखान ही करता है— "ऐसी लच्छमी है, ऐसी सलीकेदार है!"

धनिया के मुख पर स्निग्धता झलक पड़ी। मन भाये मुड़िया हिलाये वाले भाव से बोली—मैं उनके बखान की भूखी नहीं हूँ, वे अपना बखान धरे रहें।

होरी ने स्नेह-भरी मुस्कान के साथ कहा—"मैंने तो कह दिया भैया, वह नाक पर मक्खी भी नहीं बैठने देती, गालियों से बात करती है; लेकिन वह यही कहे जाय कि वह औरत नहीं लच्छमी है। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह सबेरे देख लेता हूँ, उस दिन कुछ-न-कुछ जरूर हाथ लगता है। मैंने कहा—तुम्हारे हाथ लगता होगा, यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट नहीं होती।"

कथोपकथन की रोचकता और आकर्षण प्रत्युत्पन्नमति अर्थात् हाज़िर-जवाबी से खूब बढ़ जाते हैं। यद्यपि 'गोदान' के संवादों में हाजिरजवाबी बहुत अधिक नहीं है, हालांकि शिक्षित नागरिक पात्रों के वार्तालाप में वाक्-चातुर्य और प्रत्युत्पन्नमति का पर्याप्त अवसर था, फिर भी मेहता मालती, खुर्शेद आदि के कुछ वार्तालाप हाजिरजवाबी से ओत-प्रोत हैं। मालती बात-चीत करने में बहुत पटु है। वह मेहता के प्रति आकर्षित है, इसी से उसके हास्यपूर्ण चतुर गूढ़ार्थ-संवाद का उदाहरण देखिए। वह कहती है, 'फिलासफर हमेशा मुर्दादिल होते हैं, जब देखिए, अपने विचारों में मग्न बैठे हैं। आपकी तरफ ताकेंगे; मगर आपको देखेंगे नहीं, आप उनसे बातें किये जायें, कुछ सुनेंगे नहीं। जैसे शून्य में उड़ रहे हों। आक्सफोर्ड में मेरे फिलासफी प्रोफेसर मिस्टर हसबैंड थे···'

खन्ना ने टोका—नाम तो निराला है।

'जी हाँ, और वे क्वांरे हैं···'

'मिस्टर मेहता भी तो क्वाँरे···'

'यह रोग सभी फिलासफरों को होता है।'

अब मेहता को अवसर मिला। बोले—आप भी तो इस मर्ज में गिरफ्तार हैं।

'मैंने प्रतिज्ञा की है कि किसी फिलासफर से शादी करूँगी और यह वर्ग शादी के नाम से घबराता है। हसबैंड साहब तो स्त्री को देखकर घर में छिप जाते थे।···'

इन शहरी पात्रों के कुछ संवाद बड़े हल्के भी हैं। तंखा और खन्ना आदि मतलब की बातें करते हैं, तो उनके कथन बहुत उपयुक्त नहीं लगते, उनमें चातुर्य और स्वाभाविकता भी नहीं दीखती। जैसे खन्ना जब शिकार खेलने के प्रसंग में बूटियाँ मोल लेता है और रायसाहब से दूसरों का उल्लू बनाने या अपने श्रद्धेय साधु की प्रशंसा के वचन बोलता है, या मालती ओंकारनाथ को बनाने के लिए उसकी प्रशंसा करती है तो ऐसे संवादों में कृत्रिमता और अस्वाभाविकता ही प्रतीत होती है। मालती के इस अवसर के कथनों में कोई चातुर्य या चमत्कार नहीं है। पता नहीं ओंकारनाथ उसका मजाक कैसे

नहीं समझ सका ! इसी प्रकार तंखा का निम्न कथन भी अस्वाभाविक और कुछ जोड़ा हुआ-सा लगता है—"नाटक कोई भी अच्छा हो सकता है, अगर उसके अभिनेता अच्छे हों। अच्छे-से-अच्छा नाटक बुरे अभिनेताओं के हाथ में पड़कर बुरा हो सकता है। जब तक स्टेज पर शिक्षित अभिनेत्रियाँ नहीं आतीं, हमारी नाट्यकला का उद्धार नहीं हो सकता।" तंखा का हिन्दी-नाट्यकला से न कोई सम्बन्ध है, न उसका वह क्षेत्र ही है अतः उसके मुँह से प्रसाद-जैसे साहित्यकार के-से शब्द उपयुक्त नहीं जँचते।

नागरिक पात्रों के ही वार्तालाप में कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे कथोपकथन दोषपूर्ण हो गए हैं। वस्तुतः इनका उद्देश्य सिद्धान्त-प्रकाशन अथवा विविध विचारों को प्रकट करना है। फिर भी धनुषयज्ञ का सैद्धान्तिक वार्तालाप, रायसाहब की स्वीकारोक्ति आदि अपेक्षाकृत संक्षिप्त और अधिक सारगर्भित होते तो कला का उत्कर्ष होता।

'गोदान' में स्वीकारोक्ति के रूप में संवाद का एक विलक्षण प्रयोग पाया जाता है। रायसाहब और खन्ना की स्वीकारोक्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। अपने वर्ग के दोषों को मानने का यह ढंग बड़ा चमत्कारपूर्ण है। किन्तु रायसाहब के कुछ शब्द तो मनोविज्ञान और कला दोनों दृष्टियों से अनुचित हैं, जैसे वह अपने आसामी के सामने अपने लिए 'गधा' शब्द तक का प्रयोग कर लेता है, और यहाँ तक कहता है—"लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।" "क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता ?" आदि। ठीक है, कि ऐसा जमींदार जो दिखावे के रूप में जन-सेवक बना हुआ है, अपने वर्ग और पद्धति की आलोचना कर सकता है किन्तु फिर भी इतने भड़काने वाले शब्द प्रकट करना कुछ मनोवैज्ञानिक दोष है।

'गोदान' में कहीं-कहीं अवहित्थापूर्ण विदग्ध संवाद भी हैं। पात्रों का मनोगत भाव तो कुछ और होता है किन्तु उस भाव को चतुराई से छिपाकर अपना मतलब हल करने के लिए कुछ और ही बात करते दिखाई देते हैं। होरी के मन में गाय को देखकर लालसा जाग उठी। अतः वह भोला को सगाई का झाँसा देता हुआ कहता है—"मेरे ससुराल में एक मेहरिया है। तीन-चार साल हुए, उसका आदमी उसे छोड़ कर कलकत्ते चला गया।...देखने-सुनने में भी अच्छी। बस, लच्छमी समझ लो।" भोला झाँसे में आकर कहता है कि गाय चित्त चढ़ गई हो तो ले लो। तब होरी अपने मन के भाव को छिपाता हुआ चतुराई से सौदा पटाता है—"यह गाय मेरे मन की नहीं है दादा ! मैं तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाना चाहता। अपना धरम यह नहीं हैं कि मित्रों का गला दबायें। जैसे इतने दिन बीते हैं, वैसे और भी बीत जायेंगे।" इसी प्रकार शहर में ऊख ले जाकर बेचने की बात को होरी छिपाना चाहता है। शाम को गिरधर ने पूछा—तुम्हारी ऊख कब तक जायगी होरी काका ?

होरी ने झाँसा दिया—अभी तो कुछ ठीक नहीं है भाई ! तुम कब तक ले जाओगे ?

परिस्थिति और प्रसंग के अनुसार बात करने में प्रेमचन्द बहुत कुशल हैं। दाता-दीन होरी के सामने रूपा के विवाह की योजना जिस ढंग से प्रस्तुत करता है, वह पढ़ते ही

बनता है। दातादीन ने आकर कहा—क्या हुआ होरी, तुम्हारी बेदखली के बारे में ?··· सुना, तारीख को पन्द्रह दिन और रह गये हैं।' होरी ने विवशता जताई। पण्डितजी बोले "लेकिन जैजाद तो बचानी ही पड़ेगी। निबाह कैसे होगा ? बाप-दादों की इतनी ही निशानी बच रही है। वह निकल गई, तो कहाँ रहोगे ?"

"भगवान की मरजी है, मेरा क्या बस !"

'एक उपाय है जो तुम करो।' यह सुनते ही निराश होरी ने आशा से भरकर पण्डितजी के पाँव पकड़ लिए। पण्डितजी ने कहा—"निराश होने की कोई बात नहीं। बस, इतना ही समझ लो कि सुख में आदमी का धरम कुछ और होता है, दुख में कुछ और। सुख में आदमी दान देता है, मगर दुख में भीख तक माँगता है।···शरीर अच्छा रहता है तो हम बिना असनान-पूजा किये मुँह में पानी भी नहीं डालते, लेकिन बीमार हो जाते हैं तो बिना नहाये-धोये, कपड़े पहने, खाट पर बैठे, पथ्य लेते हैं।···आपत्काल में श्री रामचन्द्र ने सबरी के जूठे फल खाये थे; बालि का छिपकर वध किया था। जब संकट में बड़े-बड़ों की मर्यादा टूट जाती है, तो हमारी-तुम्हारी कौन बात है। रामसेवक महतो को तो जानते हो न ?"

होरी को लड़की का विवाह अधेड़ रामसेवक से करने के लिए राजी करने में इससे बढ़िया वार्तालाप की कल्पना नहीं हो सकती। होरी के मन में जैजाद का मोह जगाने और उसकी मर्यादा-भावना को शिथिल करने का कैसा मनोवैज्ञानिक ढंग बरता गया है। ऐसा प्रभावपूर्ण (Convincing) विश्वासोत्पादक वार्तालाप प्रेमचन्द-जैसे भाव-शिल्पी कलाकार से ही संभव हो सकता है।

कुल मिलाकर प्रेमचन्द की संवाद-शैली सफल कलात्मक शैली कही जा सकती है। कथोपकथन के सभी गुण—रोचकता, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता, नाटकीयता, सजीवता, पात्रानुरूपता, प्रसंगानुकूलता, भावानुरूपता, सार्थकता आदि सब—उनके संवादों में पाये जाते हैं। व्यंग्यात्मकता ने इनमें विशेष शक्ति भर दी है।

7. भाषा-शैली

मुन्शी प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा साहित्य के लिए एक आदर्श भाषा-शैली का निर्माण किया। गद्य-शैल-निर्माता के रूप में भी उनका अमर स्थान हिन्दी में सदा बना रहेगा। भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सरलता, सहज स्वच्छन्दता, मुहावरा-लोकोक्ति-प्रयोग, स्वाभाविक लाक्षणिकता आदि का जो आदर्श अपनाया, वह आज तक सर्वमान्य है। जन-भाषा का जो प्यारा रूप उनकी रचनाओं में पाया जाता है, वही प्रायः सब लेखकों—विशेषकर कथाकारों—के लिए अनुकरणीय बना। प्रेमचन्द की भाषा-शैली के दो रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं—एक है ग्रामीण पात्रों की बोल-चाल की भाषा का रूप और दूसरा प्रेमचन्द की निजी भाषा का साहित्यिक रूप। ग्रामीण पात्रों की भाषा में ग्राम्य भाषा—शब्दों का तद्-भव रूप और स्थानीय जनभाषा का रूप पाया जाता है। ठेठ ग्रामीण शब्द जैसे—पुछत्तर, क्लोर, नफरी, दौंगड़ा, अनघड़ नाद, हून, रातिब, मडैया, मोटमरदी, गोड़ना, कोल्हाड़,

थेगलिया, महावट, अनीली, बुड़बकपन आदि भी कहीं-कहीं ऐसे हैं जो प्रसंग के सही ज्ञान से ही जोर लगाने पर अपना अर्थ आभासित कराते हैं। अधिकतर शब्द अर्द्धतत्मम या तद्भव रूप में ही प्रकट हुए हैं, जिनका समझना कठिन नहीं है, जैसे—गिरस्त, दर्सन, छिच्छा, आसा, बिलम (विलम्ब), सुभ (शुभ) कारन, निबाह, राच्छसिन, डाढ़ीजार, सराप, साखी, लच्छन, मरजाद, परान, परसाद आदि। इन ग्रामीण पात्रों की भाषा में उर्दू-फारसी के कुछ तद्भव शब्द भी पाये जाते हैं, जैसे—नगीच (नजदीक), तहकियात, गाल-दराज, जँजात, जरीबाना, मरद, बरक्कत, साबित, हकनाहक, सहादत, हमा-सुमा आदि। हरमुनियाँ, इसटाम, कालिज, पुलुस आदि कुछ अंग्रेजी शब्द भी तद्भव रूपों में ग्रामीणों की भाषा का अंग बने हुए हैं। प्रेमचन्द ने जोड़ी शब्दों का प्रयोग सर्वत्र किया है। ग्रामीण पात्रों की भाषा में भी जुड़वाँ शब्द खूब व्यंजक बने हुए हैं; जैसे—रस-पानी, सानी-पानी, असनान-पूजा, मिलना-जुलना, साली-सलहज, दूध-घी, घूस-घास, बाँट-बखरा, ताक-झाँक, डाँड-बाँध, दवा-दारू, ठीक-ठाक, मोल-भाव, नजर-नजराना, धूप-घाम, लेना-देना, धरना-उठना, दाम-कौड़ी, सँभालना-सहेजना आदि।

काठ का उल्लू, दुम दबाकर बैठना, पानी रहना, टाँग अड़ाना, पाँव सहलाना, साठे पर पाठे, नाटन खेती बहुरिया घर, जल में रहकर मगर से बैर, जले पर नमक छिड़कना, आँखों में धूल झोंकना, गरदन पर सवार होना, आड़े हाथों लेना, मुँह में ताला लगाना, आँखें निकल आना, भारी कलेजा होना आदि मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी ग्रामीणों की जबान पर चढ़े हुए हैं। इनके प्रयोग से उनकी भाषा अत्यधिक प्रभावशाली बनी हुई है। ग्रामीण पात्रों की भाषा में भावानुकूलता और संक्षिप्त वाक्य-योजना की भी विशेषता है। ग्रामीण-भाषा का सुन्दर रूप इस वार्तालाप में देखिए, स्वाभाविक मुहावरे, लाक्षणिक व्यंजक शब्द, द्वित्व शब्द, छोटे-छोटे वाक्य, कोई-कोई ठेठ ग्रामीण शब्द, भावानुरूपता आदि सब गुण इसमें विद्यमान हैं—"अबकी **बाजार बहुत तेज था** मेहतो, इसके अस्सी रुपये देने पड़े। **आँखें निकल गयीं**। तीस-तीस रुपये तो दोनों क्लोरों के दिये। तिस पर गाहक रुपये का आठ सेर दूध माँगता है।"

"बड़ा **भारी कलेजा है** तुम लोगों का भाई, लेकिन फिर लाये भी तो वह माल कि यहाँ **दस-पाँच** गाँवों में तो किसी के पास निकलेगी नहीं।"

भोला पर **नशा चढ़ने लगा**। बोला—रायसाहब इसके सौ रुपये देते थे। दोनों **क्लोरों** के पचास-पचास रुपये, लेकिन हमने न दिये। भगवान ने चाहा, तो सौ रुपये इसी ब्यान में **पीट लूँगा**।

"इसमें क्या संदेह है भाई! मालिक **क्या खाके लेंगे**। नजराने में मिल जाय तो भले ही ले लें। यह तुम्हीं लोगों का **गुर्दा है** कि अंजुली-भर रुपये तकदीर के भरोसे गिन देते हो।...।"

प्रेमचन्द की भाषा में कहीं-कहीं विशेषण के क्रिया-रूप-प्रयोग बड़े स्वाभाविक और सुन्दर लगते हैं, जैसे सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था, चेहरा चिकना गया आदि।

शहरी पात्रों की भाषा में तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत

अधिक है। तत्सम-बहुला उनकी भी भाषा नहीं। द्वित्व (जुड़वाँ) शब्दों का प्रयोग यहाँ कम है। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग, भावानुरूपता आदि गुण उनकी भाषा में भी पूरी तरह पाये जाते हैं। इनकी भाषा में भी अंग्रेजी-उर्दू के भी तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं एक उदाहरण पर्याप्त होगा—(मि० खन्ना रायसाहब से) 'आप संन्यासी बन सकते हैं, मैं तो नहीं बन सकता। मैं तो समझता हूँ, जो भोगी नहीं हैं वह संग्राम में भी पूरे उत्साह से नहीं जा सकता। जो रमणी से प्रेम नहीं कर सकता, उसके देश प्रेम में मुझे विश्वास नहीं।'

रायसाहब मुस्कराये—आप मुझी पर **आवाजें कसने लगे**।

'मुझे आपके ऊपर दया आती है। आप जो इतने दुखी, निराश और चिंतित हैं, इसका एकमात्र कारण आपका निग्रह है। मैं तो **यह नाटक खेल कर रहूँगा**, चाहे दुखान्त ही क्यों न हो। वह मुझसे मजाक करती है, दिखाती है कि मुझे तेरी परवा नहीं है; लेकिन मैं हिम्मत हारने वाला मनुष्य नहीं हूँ। मैं अब तक उसका **मिजाज** नहीं समझ पाया। कहाँ **निशाना ठीक बैठेगा**, इसका निश्चय न कर सका।'

प्रेमचन्द की प्रौढ़ साहित्यिक भाषा उन स्थलों पर मिलती है, जहाँ प्रेमचन्द अपनी अनुभूतियों के रूप में विषय, परिस्थिति या पात्रों की मनोवृत्तियों की व्याख्या करते हैं। इस साहित्यिक भाषा में ही प्रेमचन्द की गद्य-भाषा शक्ति का पूरा रूप मिलता है। स्वाभाविक रूपक-उपमा आदि अलंकार, बढ़िया लाक्षणिक प्रयोग, व्यंग्य-वक्रता सूक्ति आदि साधनों से यह भाषा सशक्त होती है। शब्दावली भी अपेक्षाकृत अधिक तत्समता लिए होती है। आरम्भ में ही होरी-धनिया के सुन्दर वार्तालाप के बाद धनिया की परिस्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—**विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी**। इन असंगत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी **मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा**—बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही वेदना-शक्ति आ गयी थी। **काना कहने से काने को जो दु ख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है?**''

इस उदाहरण में परम्परित रूपक, उत्प्रेक्षा और दृष्टांत अलंकार, सूक्ति तथा 'झटका देकर हाथ से छीन लेना', 'पकड़े हुए सागर को पार करना', 'तिनके का सहारा' आदि लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे आदि सबने मिलकर भाषा को कितना प्रभावशाली और प्रौढ़ बना दिया है।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली की सबसे बड़ी शक्ति है मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोग। शायद ही कोई तीसरी पंक्ति ऐसी मिले जहाँ बीच में कोई मुहावरा या लक्षक शब्द-प्रयोग न आया हो। प्रेमचन्द ने अनेक मुहावरा-प्रयोगों में भी जुड़वाँ शब्द मिलते हैं, जैसे—कतर-ब्योंत करना, पेट-तन काटना, उलट-फेर करना आदि। इनके अतिरिक्त, भौहों पर शिकन पड़ना, मुँह में ताला लगना, मुँह लगाना, आपे से बाहर होना, लगाम खींचना, खून का घूँट पीकर रह जाना, पाँव में सनीचर होना, बगलें झाँकना, पीठ में

धूल लगना, पाँव सहलाना, कलेजा ठण्डा करना, जीभ में खुजली होना, मुँह पर झाड़ पड़ना, मुँह में कालिख लगाना, आसन पाना, नाक पर मक्खी न बैठने देना, किसी के जलते घर में हाथ सेंकना, घी के चिराग जलाना, बगलें बजाना, मन में चोर बैठना, गरदन पर सवार होना, रंग जमाना आदि सैकड़ों मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। पनाह माँगना, तरह देना, खातिर जमा रखना आदि उर्दू के दो-चार ऐसे मुहावरे भी प्रयुक्त हुए हैं जो हिन्दी में प्रचलित नहीं।

प्रेमचन्द के लाक्षणिक प्रयोग तो और भी बढ़िया हैं। भावों का मानवीकरण भी कई स्थानों पर बहुत भव्य है, जैसे—**'होरी का क्रोध रस्सियाँ तुड़ा रहा था'**, **'बूढ़ा क्रोध'** (विशेषण-विपर्यय) **वह निर्लज्जता जो तकाजे, गाली और मार से भी भयभीत नहीं होती**, मत्त आशा (विशेषण-विपर्यय) 'सिलिया के अन्तःकरण की **सारी कोमल भावनाएँ इस वक्त मुंह खोले बैठी थीं** कि आकाश से अमृत-वर्षा होगी।' भावों की यह मूर्तिमत्ता प्रेमचन्द की भाषा में प्रचुरता से पाई जाती है। प्रकृति का मानवीकरण भी (जैसे, 'उदास और गरम संध्या',) कहीं-कहीं दिखाई देता है। स्वाभाविक लाक्षणिक प्रयोग स्थान-स्थान पर हैं, जैसे 'होरी का आसन पाकर चाबुक जमाया', विचार में पंचर हो हो गया, दिन पतले हैं, 'हार की लज्जा तो पी जाने की वस्तु है', दूध-घी अंजन लगाने को नहीं मिलता, 'सजल क्रोध में बोली', अन्धे कूकर की तरह हवा को झोंका करे, 'नोहरी ने लोहे को लाल करके घन जमाया', 'आदमी झूठा तभी खाता है, जब मीठा हो।' 'कलंक चाँदी से ही घुलता है।' 'मृदुता यथार्थ की आँच में जैसे झुलस गई', आदि।

प्रेमचन्द की वाक्यार्थोपमाएँ जहाँ एक ओर भाषा को सुन्दर प्रभावशाली बनाती हैं, वहाँ अनेक स्थानों पर वे सूक्तियाँ बन गई हैं, एक-दो उदाहरण देखिए—"और उस कुमार (गोबर) में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोए हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठा ;" "होरी ने अपनी पराजय अपने मन में ही डाली, जैसे कोई चोरी से आम तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़े और गिर पड़ने पर धूल झाड़ता हुआ उठ खड़ा हो कि कोई देख न ले", "जो स्वच्छन्द काम-क्रीड़ा की तरंगों में साँड़ों की भाँति दूसरों की हरी-भरी खेती में मुँह डाल कर अपनी कुत्सित लालसाओं को तृप्त करना चाहते हैं", "जिसे तुम प्रेम कहती हो, वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप। उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है", "उस क्रोध में एक प्रकार की तुष्टि थी, जैसे हम उन बच्चों को कुर्सी से गिर पड़ते देखकर, जो बार-बार मना करने पर खड़े होने से बाज न आते थे, चिल्ला उठते हैं—अच्छा हुआ, बहुत अच्छा, तुम्हारा सिर क्यों न दो हो गया" (पृष्ठ 383-384) आदि। प्रेमचन्द ने रूपक-उत्प्रेक्षा अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है, जैसे—"सेवा ही वह सीमेंट है ··।" सांग रूपक का अत्यन्त बढ़िया लाक्षणिक प्रयोग इन प्रसिद्ध पंक्तियों में द्रष्टव्य है—"वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण भर बगूले उठते हैं—उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल

और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता।" उपमा-रूपक उत्प्रेक्षा, लाक्षणिकता का यह सुन्दर संगम प्रेमचन्द की प्रौढ़ साहित्यिक अलंकृत शैली का श्रेष्ठ रूप है, जिसमें गद्यकाव्य का-सा आनन्द आता है। इस प्रकार के अनेक लाक्षणिक अनुच्छेद प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जैसे पृ० 31-32 पर "उसके नारीत्व के द्वार पर···दोनों पट भेड़ लेती है।"

लाक्षणिकता और मुहावरे-बंदी के साथ व्यंग्य-वक्रता भी प्रेमचन्द की शैली की एक विशेषता है। पात्रों के संवाद में ही नहीं, वह अपनी टिप्पणियाँ देते हुए, पात्रों की मनोवृतियों की व्याख्या करते हुए व्यंग्य से भी काम लेते हैं। पीछे धनिया, गोबर, मालती आदि के संवादों में प्रेमचन्द की व्यंग्य-शैली पर हम प्रकाश डाल चुके हैं ; समाज की बुराइयों तथा धर्म के पाखण्ड का उद्घाटन करते हुए भी आरम्भ में प्रेमचन्द की व्यंग्य वक्रता के उदाहरण दिये जा चुके हैं, यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। गोबर जब शहर से कमा कर आता है और दातादीन के आगे जीट उड़ाता है तो दातादीन कहता है कि मातादीन को भी वहाँ किसी अच्छे हीले लगवा दो। गोबर ने दातादीन को बनाया—"तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ, **कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जनम में लो, मरन में लो, गमी में लो** ; खेती करते हो, लेनदेन करते हो, दलाली करते हो, **किसी से कुछ भूल-चूक हो जाय तो डांड लगाकर उसका घर लूट लेते हो ; इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? क्या करोगे बहुत-सा-धन बटोर कर ? कि साथ ले जाने की कोई जुगत निकाल ली है ?**"

प्रेमचन्द की सूक्तियाँ उनकी शैली में और भी मज़ा ला देती हैं। जीवन के मार्मिक तथ्यों का ऐसा मनोरंजक प्रकाशन सधे हुए साहित्यकार की ही तूलिका से सम्भव होता है। प्रेमचन्द ने दृष्टान्त, उदाहरण, वाक्यार्थोपमा, अर्थान्तरन्यास आदि तर्कन्याय-मूलक अलंकारों के रूप में जीवन के सत्यों को सूक्ति-बद्ध किया है। ऐसी सैंकड़ों सूक्तियाँ उनकी रचनाओं से प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'गोदान' में यह शैली पूर्व रचनाओं से अधिक है और अधिक प्रौढ़ भी। एक-दो उदाहरण देखिए—'डरपोक प्राणियों में **सत्य भी गूंगा हो जाता है**। वही सीमेंन्ट जो ईंट पर चढ़कर पत्थर हो जाता है, मिट्टी पर चढ़ा दिया जाय, तो मिट्टी हो जायगा।' (पृष्ठ 303) दृष्टान्त अलंकार और 'सत्य गूँगा' होने में लाक्षणिक प्रयोग भी है। हम जिनके लिए त्याग करते हैं, उनसे किसी बदले की आशा न रखकर भी उनके मन पर शासन चाहते हैं, चाहे वह शासन उन्हीं के हित के लिए हो,' (पृष्ठ 431) 'घमण्डी आदमी प्रायः शक्की हुआ करता है। और जब मन में चोर हो तो शक्की-पन और भी बढ़ जाता है।' (पृष्ठ 361), 'पीड़क होने से पीड़ित होना कहीं श्रेष्ठ है।' 'धन खोकर अगर हम अपनी आत्मा को पा सकें, तो यह कोई महँगा सौदा नहीं है।' (पृष्ठ 398) नोहरी उन औरतों में न थी, **जो नेकी करके दरिया में डाल** देती हैं।···नेकी न करना बदनामी की बात नहीं।···; मगर जब हम नेकी करके, उसका एहसान जताने लगते हैं तो वही जिसके साथ हमने नेकी की थी, हमारा शत्रु हो जाता

है।···वही नेकी अगर करने वाले के दिल में रहे तो नेकी है, बाहर निकल आये तो बदी है।' (पृष्ठ 398-99)। 'खतरे में हमारी चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है।' 'मैं बिना कुछ रस पाये थोड़ी ही आता था, चिड़िया एक बार परच जाती है, तभी दूसरी बार आँगन में आती है।' 'रूप अपमान नहीं सह सकता।' 'जब धन जरूरत से ज्यादा हो जाता है, तो अपने निकास का मार्ग खोजता है।' छोटी नदी को उमड़ते देर नहीं लगती', 'कर्ज वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।' 'प्रेम हृदय की वस्तु है, देह पर उसका अधिकार नहीं।' आदि पचासों सूक्तियाँ 'गोदान' से उद्धृत की जा सकती हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द की भाषा-शैली अत्यन्त प्रभावशाली है। 'गोदान' में शायद ही कोई पंक्ति हो जिसमें कोई मुहावरा, लाक्षणिक प्रयोग, व्यंग्य, अलंकार अथवा अन्य सशक्त प्रयोग न हों। सरलता, सजीवता और प्रवाहात्मकता प्रेमचन्द की भाषा के गुण हैं ही। भावानुरूपता और पात्रानुरूपता भी सर्वत्र रहती है। भावपूर्ण स्थलों पर भावात्मक शैली, विचारपूर्ण स्थल पर विचारात्मक, घटना वर्णन में सरल कथात्मक शैली, हास्य के प्रसंग पर हास्यपूर्ण धारा आदि भिन्न-भिन्न शैलियों का सहज समावेश 'गोदान' में पाया जाता है। प्रेमचन्द अपने पहले उपन्यासों में मुसलमान नागरिक पात्रों की भाषा फ़ारसी-अरबी के शब्दों में रंजित कर देते थे, वह प्रवृत्ति तो 'गोदान' में नहीं रही, क्योंकि मिर्जा खुर्शेद की भाषा में भी फारसी-अरबी का कठिन शब्द शायद ही कोई हो, किन्तु पात्रों की शिक्षा-दीक्षा-संस्कार आदि के अनुसार उनकी भाषा में पात्रानुरूपता अवश्य पाई जाती है। मिर्जा खुर्शेद, तंखा आदि की उर्दू शैली भी यहाँ हिन्दी की प्रकृति में घुलमिल गई है, पृथक नहीं रही। यह प्रेमचन्द की दूरदर्शिता और यथार्थ भाषा-दृष्टि का जबरदस्त प्रमाण है। 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द समझ गये थे कि हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं, एक ही भाषा के दो रूप हैं, जिनकी दूरी कृत्रिम है। प्रेमचन्द की सफल भाषा-शैली ने उपन्यास की सरसता में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। ग्रामीण भाषा ने वातावरण को सजीव बनाया है। अपवाद-रूप में ही कोई एक-आध दोष मिले तो मिल जाय, अन्यथा भाषा का सर्वथा निर्दोष शक्तिशाली प्रयोग ही प्रेमचन्द ने किया है। कहीं-कहीं 'और' शब्द का अधिक प्रयोग वाक्य में खटकता है, जैसे—"एक ओर वह त्याग और जनसेवा और उपकार के भक्त थे, तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास और प्रभुता के।" एकाध स्थान पर वाक्य में दोष भी पाया जाता है, जैसे—"इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी।" शब्द का सदोष प्रयोग भी एक-दो स्थलों पर है, जैसे 'जेठ का सूर्य अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ···।' कहीं-कहीं उर्दू अंग्रेजी के कठिन और अप्रचलित शब्द भी खटकते हैं, जैसे 'मसीहुल-मुल्क', 'सरसाम', 'टाऊट' आदि। किन्तु ऐसे दोष अपवाद ही हैं। सामान्यतः प्रेमचन्द की भाषा-शैली अत्यन्त सफल है।

8. आदर्शवाद : यथार्थवाद

आदर्शवाद और यथार्थवाद साहित्यकार-द्वारा जीवन को चित्रित करने के दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। आदर्शवादी लेखक अतीत या वर्तमान जीवन में से महान् भव्य चरित्रों को चित्रित करता है, 'प्रकृत जन' के चित्रण से उसकी सरस्वती ही 'सिर धुनि पछताने' लगती है। महान् (Sublime) की प्रतिष्ठा आदर्शवादी लेखक का उद्देश्य होता है। इसके विपरीत, यथार्थवादी लेखक जनवादी होता है; वह प्रकृत जन का चित्रण ही अपनी रचना का विषय बनाता है। किसी महान की प्रतिष्ठा के स्थान पर वह साधारण जीवन का ही यथातथ्य चित्रण करता है। मानव अपनी समस्त दुर्बलताओं और स्वाभाविक सबलताओं के साथ यथार्थ रूप में यथार्थवादी रचनाओं में स्थान पाता है। आदर्शवादी लेखक जीवन के कतिपय महान् क्षणों से सम्बन्धित घटनाएँ चुनता है। इसके विपरीत यथार्थवादी लेखक जीवन की घटनाएँ—साधारण व्यक्तियों से सम्बन्धित प्रसंग अपनाता है। आदर्शवादी लेखक का मूलमन्त्र होता है—कला में दुराव अपेक्षित है ('Art lies in concealment')। वह जीवन की सामान्य बुराइयों पर ध्यान नहीं देता या उन्हें जानकर छोड़ देता है। इसके विपरीत, यथार्थवादी साहित्यकार किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं करता; वह सामान्य जीवन की बुराइयों को उधाड़ कर रख देता है। आदर्शवादी लेखक की दृष्टि विशेष जीवन पर केन्द्रित रहती है, जबकि यथार्थवादी की सामान्य जीवन पर। आदर्शवादी लेखक विशेष या महत् का उपासक होता है—महत् या उदात्त चरित, महत् घटना, महत् उद्देश्य, महत् या उदात्त (Grand) भाषा सबकुछ विशेष या उदात्त—ग्रैंड। यथार्थवादी साधारण का चितेरा होता है—साधारण मानवचित्रण, साधारण घटना, साधारण से ही प्रच्छन्न उच्च उद्देश्य, साधारण जन-भाषा—सबकुछ साधारण, अनगढ़ तथापि स्वाभाविक सुन्दर ! आदर्शवादी की आदर्श-स्थापना उसकी रचना में स्पष्ट रहती है ; वह 'जीवन में क्या होना चाहिए', यही दिखाना अपना उद्देश्य रखता है, जीवन में क्या है और 'क्या हो सकता है'—इससे उसका विशेष प्रयोजन नहीं होता। यथाथवादी की दृष्टि मुख्यत: 'क्या है और जीवन में क्या हो सकता है'—इस पर ही रहती है; 'क्या होना चाहिए', उसमें प्राय: प्रच्छन्न रहता है। आदर्शवादी लेखक के बीज-भाव प्राय: उत्साह और करुणा होते हैं : यथार्थवादी के बीज भाव प्राय: घृणा और करुणा होते हैं।

आदर्श और यथार्थवाद दोनों की ही सीमाएँ हैं अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने पर ये मर्यादा खो देते हैं, जिससे साहित्य की भी मर्यादा नष्ट हो जाती है। आदर्शवाद यदि कपोल कल्पना (Utopia) हो जायगा, अव्यावहारिक तथा असंभाव्य होगा तो किसी काम का न रहेगा, और यथार्थवाद भी यदि नग्न कुरुचिपूर्ण यथार्थ हो जायगा, तो अग्राह्य एवं त्याज्य बन जायगा। स्वप्निल कोरे आदर्शवाद के स्थान पर क्रियात्मक आदर्शवाद ही वांछनीय होता है। इसी प्रकार स्वस्थ और प्रेरणापूर्ण यथार्थवाद ही साहित्यिक सत्य बन सकता है। प्रेमचन्द जी स्वय आदर्शवाद व यथार्थवाद को दो अतियाँ

मानते थे। कोरा या नग्न यथार्थवाद हमें केवल बुराई का अवलोकन कराता है, हमारी आँखें खोल देता है, पर जीवन में बुराई ही बुराई प्रतीत होने से निराशा की-सी स्थिति उत्पन्न कर देता है, इसलिए अवांछनीय है। कोरे काल्पनिक आदर्शवाद को भी प्रेमचन्द व्यर्थ मानते थे। 'किसी देवता की कल्पना करना आसान है, पर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करना कठिन ही है।' आदर्शवाद हमें किसी अतीन्द्रिय स्वर्ग-लोक में पहुँचा देता है, जिससे धरती का स्वर नहीं सुनता। इसी से प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद या आदर्श और यथार्थ के समन्वय के पक्षपाती थे। उन्होंने अपने उपन्यासों को भी आदर्शोन्मुख यथार्थ-वादी या यथार्थोन्मुख आदर्ववादी कहा है।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी लेखक माना है। उनका कथन है—"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी। ये दोनों परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ और कला-शैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती।...आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथक्वाद नहीं है। यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि दो परस्पर विरोधी जीवन-दर्शनों और कला-परिपाटियों में एकता की कल्पना ही कैसे की जा सकती है?" (प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० 15)। और नन्ददुलारे वाजपेयी यही निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, "वास्तव में प्रेमचन्दजी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं।"

डॉ० नगेन्द्र ने भी प्रेमचन्द को आदर्शवादी लेखक ही कहा है। उनका कहना है, "आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है।...आदर्शवादी कल्पना-विलासी और स्वप्न-दृष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है, वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो।" इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि भावगत दृष्टिकोण तो यथार्थवादी का भी होता है, क्योंकि कोरा वस्तुगत दृष्टिकोण साहित्यिक परिधि में कैसे आ सकता है? हाँ, यथार्थवादी भावुकता में नहीं बहता। वह वस्तु-जगत् के यथार्थ चित्रों को अपनी अनुभूति का विषय बनाता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का अन्तर इसी रूप में समझना चाहिए कि आदर्शवाद वस्तु-जगत् से परे कल्पना-लोक अथवा इतिहास या वर्तमान के आदर्श जीवन में विचरण करता है, जबकि यथार्थवाद वस्तु-जगत् पर ही आधृत है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द-साहित्य पर विचार किया जाय तो 'रानी सैरंधा'-जैसी कुछ ऐतिहासिक कहानियों और दो-चार आदर्श कथाओं के अतिरिक्त प्रेमचन्द के साहित्य को आदर्शवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता। 'मृच्छकटिक' जैसी दो-चार रचनाओं को छोड़कर हमारा प्राय: समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य आदर्शवादी साहित्य ही है। प्राचीन हिन्दी साहित्य भी एकाध अपवाद को छोड़कर आदर्शवादी ही कहा जा सकता है। जीवन

की जन-समस्याओं तथा जन-भावनाओं अर्थात् साधारण जीवन-आयामों का चित्रण आधुनिक युग से ही आरम्भ हुआ। और इस प्रकार प्रेमचन्द का साहित्य एक ओर प्राचीन क्लासिकल संस्कृत साहित्य से भिन्न है, दूसरी ओर प्राचीन हिन्दी साहित्य से भी दृष्टि-भेद उसमें स्पष्ट है। प्रेमचन्द के उपन्यास अपने पूर्व-युग के आदर्शवादी उपदेश-प्रधान उपन्यासों से भी भिन्न हैं। अतः प्रेमचन्द को आदर्शवादी लेखक उस रूप में नहीं माना जा सकता जिस रूप में बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, कबीर और यहाँ तक कि जयशंकरप्रसाद ('कंकाल'-जैसे एकाध अपवाद को छोड़ कर) आदि हैं।

हम पीछे देख चुके हैं कि प्रेमचन्द की दृष्टि आरम्भ से ही जीवन के यथार्थ चित्रों पर केन्द्रित रही है। अपने मामा की यथार्थ जीवन-घटना पर लिखी गई उनकी पहली रचना इस बात का सबूत है कि प्रेमचन्द आरम्भ से ही यथार्थवादी दृष्टि रखते थे। उनके 'सेवासदन' ने समग्र हिन्दी उपन्यास-साहित्य को सच्ची यथार्थवादी दृष्टि प्रदान की है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। साधारण जन-जीवन का जो यथार्थचित्रण उन्होंने किया है, वह आदर्शवादी लेखक की कल्पना से बाहर ही रहता है। अतः प्रेमचन्द को आदर्शवादी लेखक कहना उनकी यथार्थ दृष्टि के मूल्य को कम करना है। प्रेमचन्द को आदर्शवादी साहित्य-परम्परा में नहीं रखा जा सकता।

हाँ, प्रेमचन्द की यथार्थवादी यात्रा में क्रम अवश्य पाया जाता है। 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' आदि पहली रचनाओं में प्रेमचन्द का झुकाव आदर्शवाद की ओर अपेक्षाकृत अधिक रहा है। इनमें भी आदर्श और यथार्थ के निर्वाह में अन्तर है। 'वरदान' में आदर्शात्मक प्रवृत्ति आगे की रचनाओं से अधिक है और 'सेवासदन' में यथार्थवादी दृष्टि 'कायाकल्प' आदि आगे की कुछ रचनाओं से कुछ अधिक है। किन्तु कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द अपनी 'गोदान'-पूर्व की रचनाओं में यथार्थोन्मुख आदर्शवादी हैं। इनमें प्रेमचन्द ने हृदय-परिवर्तन, सुधार-समझौता आदि के रूप में आदर्शवादी प्रवृत्ति को साग्रह अपनाया है। किन्तु इसमें भी यथार्थ दृष्टि बराबर रही है। अधिक सत्य यह है कि प्रेमचन्द यथार्थ से आरम्भ करके प्रायः सभी उपन्यासों की परिणति आदर्श में करते रहे हैं। अन्त तक जाते-जाते प्रायः सभी बुरे पात्रों का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, या वे रंगमंच से हटा दिए जाते हैं और सत् की असत् पर विजय करा दी जाती है। किसी आदर्श ग्राम-आश्रम अथवा सदन के निर्माण में उपन्यास का अन्त होता है। इस अन्तिम आदर्शवादी सिद्धि के ही आधार पर इन रचनाओं को भी आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रेमचन्द आरम्भ और मध्य में यथार्थ का दृढ़ आँचल पकड़े रहते हैं। उपन्यास का अधिकांश कलेवर यथार्थ के ताने-बाने से बुना रहता है। किन्तु आदर्शवादी परिणति के ही कारण उनके पहले उपन्यासों को यथार्थोन्मुख आदर्शवादी रचनाएँ कह सकते हैं।

'गोदान' में यह दृष्टि-भेद स्पष्ट है। उसमें भी यद्यपि मालती, मातादीन आदि दो-तीन पात्रों के चरित्रों में परिवर्तन होता है और मेहता, गोविन्दी, मालती आदि पात्र आदर्शवादी प्रतीत होते हैं, किन्तु पहले उपन्यासों की-सी साग्रह आदर्शात्मक परिणति

उपन्यास की नहीं हुई है। आरम्भ से अन्त तक समस्त रचना यथार्थवादी है। किन्तु यह यथार्थवाद भी निरुद्देश्य, नग्न या प्रेरणाहीन यथार्थवाद नहीं है: यह कल्पना-विहीन कोरा यथातथ्यवाद भी नहीं है। 'गोदान' में जीवन की आदर्श प्रेरणाएँ बराबर पाई जाती हैं। अत: 'गोदान' को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी या स्वस्थ यथार्थवादी रचना कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने प्रकृतिवादियों की तरह जीवन के दुर्बल पक्षों तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। उन्होंने सर्वत्र यथार्थ बुराइयों का चित्रण करके भी भलाई की प्रेरणा दी है। इसीसे प्रेमचन्द को यथार्थोन्मुख आदर्शवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रेमचन्द के चित्रण यथार्थ हैं, दृष्टि व्यावहारिक आदर्शवादी है। उनका आदर्शवाद भी किसी रचना में ऐसा नहीं है, जो असम्भाव्य हो, निष्क्रिय या स्वप्निल, कोरी कपोल-कल्पना हो। न ही उन्होंने नग्न कुरुचिपूर्ण स्थूल यथार्थ को अपनाया, जो पाठक का मानसिक स्खलन करता हो। रोमानी आदर्शवादी साहित्य में यथार्थ की विभीषिका नहीं होती। अत: प्रेमचन्द का आदर्शवाद जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के रोमानी आदर्शवाद से भिन्न है। वास्तव में प्रेमचन्द का आदर्शवाद उनके यथार्थ को और भी भावमयता प्रदान करता है। 'जीवन कैसा है', यह चित्रित करके भी 'जीवन कैसा होना चाहिए' या कम-से-कम 'जैसा है वैसा नहीं होना चाहिए' यह प्रेरणा या सुझाव भी प्रेमचन्द के उपन्यासों में पाया जाता है। आदर्श और यथार्थ-सम्बन्धी यही प्रेमचन्द-साहित्य की उचित सीमा है। आदर्श और यथार्थ का यह समन्वय न असम्भव है और न अनुचित। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी स्वयं ही शायदअपने पूर्व मन्तव्य को अब अस्वीकार करते। न करते, तो भी हमारा नम्र निवेदन है कि दो विरोधी प्रवृत्तियों के मिश्रण को ही तो सामंजस्य कहते हैं। यह आदर्श-यथार्थ का सामंजस्य कोई अनहोनी अनोखी बात नहीं है। साहित्य किसी कठघरे में नहीं बंधा करता। आदर्शवाद और यथार्थवाद के दो कठघरों में साहित्य को कैसे बाँधा जा सकता है? वाजपेयीजी के कथन से लगता है कि कोई लेखक या तो आदर्शवादी हो सकता है या यथार्थवादी, इनके बीच की या अलग कोई सीमा नहीं। ऐसा मानना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। साहित्यकार की मानस तरंगें अनेक भाव-भूमियों में से गुजरती हैं। सच तो यह है कि दुनिया-भर में सर्वश्रेष्ठ साहित्य वर्तमान युग में यथार्थ और आदर्श के सामंजस्य का ही प्रतीक है। अधिक मात्रा में आज ऐसे ही साहित्य का सृजन हो रहा है जिसमें यथार्थ की धरा पर आदर्शवादी इंगित होते हैं। अत: इन दोनों का समन्वय कोई असंभाव्य बात नहीं है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, प्रेमचन्द आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर बढ़ते रहे हैं। यह दिशा-परिवर्तन 'रानी सैरन्धा', 'राजा हरदौल', 'बड़े घर की बेटी' आदि कहानियों से 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन' आदि कहानियों तथा 'वरदान' 'प्रतिज्ञा', आदि आरम्भिक उपन्यासों से अन्तिम 'गोदान' और 'मंगल-सूत्र' में स्पष्ट लक्षित होता है। इस दिशा-परिवर्तन में ही प्रेमचन्द की कला और जीवन-दृष्टि का

विकास हुआ है—'गोदान' और उससे भी आगे 'मंगलसूत्र' उपन्यास तथा 'कफन'-जैसी अन्तिम कहानियाँ इस बात की साफ गवाही दे रही हैं कि प्रेमचन्द ने पहला आदर्शवादी प्रभाव त्याग दिया है और सच्चा यथार्थवादी ढंग अपना लिया है।

'गोदान' में क्या घटनाओं की दृष्टि से, क्या चरित्र-चित्रण और क्या उद्देश्य की दृष्टि से सर्वत्र यथार्थवादी प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेमचन्द ने समाज की पंकिलता के यथार्थ चित्रण में कोई दुराव-छिपाव की नीति नहीं अपनाई। नोहरी का प्रसंग, मालती-खन्ना का रोमांस, धर्म का ढकोसला, अनेक प्रकार का शोषण आदि सब प्रसंग और घटनाएँ यथार्थवादी यथातथ्य-शैली में प्रस्तुत की गई हैं। किन्तु प्रेमचन्द अपनी प्रतिक्रिया सर्वत्र प्रकट करते जाते हैं। इन सब बुराइयों के प्रति सटिप्पण भर्त्सना प्रकट करके उन्होंने पाठक की घृणा को ही जगाया है। इस प्रकार किसी भी कुत्सित घटना से पाठक का मानसिक स्खलन नहीं होता। सिलिया और मथुरा का प्रसंग लीजिए। सिलिया सोना को अपनी खुशखबरी सुनाने, रात के समय उसके घर जाती है। अँधेरे में, घर के आँगन में, मथुरा सिलिया से मिलता है। उसकी मानवीय दुर्बलता का प्रेमचन्द ने बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है। नग्न-यथार्थवादी लेखक होता तो यहाँ अपना संयम खो बैठता, किन्तु प्रेमचन्द ने मानव-मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण करके भी यथार्थ के दंश को बचा लिया, पंकिलता में नहीं बहे। और यही बचाव प्रेमचन्द के यथार्थवाद को महान बनाता है। प्रेमचन्द पाठक का मानसिक पतन नहीं चाहते। यहीं प्रेमचन्द की आदर्शवादी दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। इसे आदर्शवादी दृष्टि भी इसीलिए कहा जाता है कि पाठक इस यथार्थ से भी स्वस्थ प्रेरणा ग्रहण करता है। जब सोना बाद में सिलिया को फटकारती है, प्रचण्ड बन जाती है, तब पाठक आदर्श-प्रेरणा ही ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रेमचन्द का यथार्थवाद कहीं भी नग्न, अरुचिकर, अश्लील या अभद्र नहीं बन पाया। होरी किसान की कहानी पूर्णतया यथार्थ करुण-कहानी है। प्रेमचन्द उसे लुटते-पिटते-मरते छोड़ देते हैं, किसी सुधारक नेता की कल्पना नहीं करते। वह अपनी जीवन-डोंगी स्वयं खेता है। हम पहले कह चुके हैं कि उद्देश्य की दृष्टि से प्रेमचन्द 'गोदान' में सर्वथा यथार्थवादी रहे हैं। अपने युग की वास्तविक स्थिति का ही उन्होंने चित्रण किया है। वह चाहते तो गोबर के क्रान्तिकारी रूप की कल्पना आसानी से कर सकते थे, उन्होंने इसका कुछ आभास भी देना चाहा था, पर एक वस्तुवादी कलाकार के नाते उन्होंने ईमानदारी से इस कल्पना को भी यथार्थ से आगे नहीं बढ़ाया। अतः घटनाओं और प्रसंगों की दृष्टि से ही नहीं, अपितु उद्देश्य की दृष्टि से भी प्रेमचन्द यहाँ पिछला आदर्शवादी दृष्टिकोण बिल्कुल छोड़ चुके हैं।

पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यही तथ्य सामने आता है। प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण पर विचार करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रेमचन्द की चरित्र-सृष्टि सर्वथा यथार्थ है। उन्होंने न तो किसी देवता की कल्पना की है, न दानव की। सभी पात्र यथार्थ मानव हैं—अपनी दुर्बलताओं और सबलताओं, अपने 'कु' और 'सु' से मण्डित इसी धरती के यथार्थ मानव। हम पूछते हैं, क्या होरी-जैसे दरिद्र किसान को नायक बना

कर कोई आदर्शवादी लेखक अपनी रचना कर सकता है ? होरी का नायकत्व प्राचीन काल से चली आ रही महान् (Sublime) की भावना के सर्वथा विपरीत नहीं तो और क्या है ? प्रेमचन्द ने सभी पात्रों का यथार्थ चरित्र-चित्रण किया है। मातादीन, मालती आदि के परिवर्तन में भी अत्यन्त यथार्थता है। यद्यपि प्रेमचन्द की चरित्र-सृष्टि तटस्थता पूर्ण शैली में निर्मित हुई है ; प्रेमचन्द ने किसी पात्र के प्रति पक्षपात नहीं किया, अपने आदर्श आदि के आग्रह से किसी को मनमाने नहीं चलाया, तथापि यह चरित्र-चित्रण ऐसा है, जिससे अच्छे पात्रों के चरित्रों से प्रेरणा मिलती है और बुरों की बुराइयों से घृणा जागती है। यही प्रेमचंद के यथार्थ चरित्र-चित्रण का बल है; यही उनकी आदर्श-वादिता है। अतः 'गोदान' में प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं; स्वस्थ प्रेरणापूर्ण यथार्थवादी हैं। उनकी औपन्यासिक चेतना के यथार्थोन्मुख आदर्शवादी से आदर्शोन्मुख यथार्थवादी में परिणति का स्पष्ट प्रमाण 'गोदान' है।

9. गांधीवाद : साम्यवाद

प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना का विकास गांधीयुग में हुआ, इसमें संदेह नहीं। हम उनकी रचनाओं—विशेषकर 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के अध्ययन में पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि जीवन की अनेक समस्याओं—विशेषकर आर्थिक शोषण आदि के सम्बन्ध में प्रेमचन्द आरम्भ से ही शांति-पूर्ण हृदय-परिवर्तन का दृष्टिकोण अपना कर चले थे। यह दृष्टिकोण उन्होंने टालस्टाय और गांधीजी दोनों से अपनाया था। 'गोदान' के पूर्व की प्रायः सभी रचनाओं में प्रेमचन्द ने इसी दृष्टिकोण का निर्वाह किया है। किन्तु इसी आधार पर उन्हें गांधीवादी उपन्यासकार कहना भ्रांति ही है। वास्तव में सच्चा साहित्य-कार किसी वाद-विशेष की परिधि में नहीं बंधता : वह तो मानव-संवेदनाओं का यथार्थ चित्रण करता है। उसे किसी 'वाद' से सम्बन्धित किया जा सकता है तो केवल वह मान-वतावाद ही कहा जा सकता है। साहित्यकार अपने युग अथवा पूर्व-युग की किसी जीवन-दृष्टि से प्रभावित अवश्य होता है, किन्तु इस प्रभाव को भी वह इस रूप में नहीं ग्रहण करता कि जिसमें उनका स्वतन्त्र साहित्यकार आच्छादित हो जाय। प्रेमचन्द गांधीवाद और साम्यवाद दोनों ही विचार-धाराओं से प्रभावित हुए हैं, किन्तु उन्हें इस आधार पर गांधीवादी या मार्क्सवादी लेखक सिद्ध करना हास्यास्पद ही है। उनकी किसी रचना को गांधीवादी या मार्क्सवादी रचना कहना तो और भी असंगत और वाहियात है।

इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भिक रचनाओं में प्रेमचन्द पर सुधारवादी आंदोलनों और गांधीजी के हृदय-परिवर्तन तथा शांतिपूर्ण समझौतावाद का अधिक प्रभाव रहा है। किन्तु अपने अन्तिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' और अपूर्ण 'मंगलसूत्र' तक पहुँचते-पहुँचते निश्चय ही वह इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि समाज की अनन्त बुराइयों और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में तथा समाज-व्यवस्था परिवर्तन की आवश्यकता है, उसकी किसी एक या दो पत्तियों को सींचने या तोड़ने से काम न चलेगा, अपितु समस्त दूषित पद्धतियों और परम्पराओं का उन्मूलन करके नया विधान करना होगा। डा० मेहता के ऐसे विचार

'गोदान' में स्पष्ट व्यक्त हुए हैं और 'गोदान' में कृषक समस्याओं का अध्ययन करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं किन्तु इससे भी यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि प्रेमचन्द अपने पहले उपन्यासों में गांधीवादी थे और अन्त में साम्यवादी हो गए हैं। 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' के लेखक डॉ० राजेश्वर गुरु का कथन है, प्रेमचन्द का आदि गांधीवाद है और अन्त साम्यवाद।" (प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० 106)। यदि इस कथन में 'वाद' से अभिप्राय केवल प्रभाव ही लिया जाय तो अवश्य हम इस उक्ति के केवल पूर्वांश से सहमत हो सकते हैं, किन्तु यदि 'वाद' से अभिप्राय सम्पूर्ण विचारधारा माना जाय तो यह कथन निर्भ्रान्त-रूप से अस्वीकृत किया जा सकता है। आरम्भिक रचनाओं में गांधीवादी समझौतावाद, हृदय-परिवर्तन आदि का अत्यधिक प्रभाव रहा है, इसमें सन्देह नहीं, पर वहाँ भी प्रेमचन्द पूर्णतः गांधीवादी नहीं कहे जा सकते। गांधीवाद के सत्याग्रह आदि कतिपय सिद्धान्तों पर पहली रचनाओं में भी कहीं-कहीं प्रेमचन्द सन्देहशील दिखाई देते हैं। एक वस्तुवादी कलाकार के नाते प्रेमचन्द ने अपने युग की आकांक्षाओं और संभावनाओं का ही चित्रण किया है। युग पर ही जब गांधीवाद का पर्दा छाया हुआ है, तो प्रेमचन्द उससे अछूते कैसे रहते ? सन् 1930 के आसपास से इस देश में भी मार्क्सवाद के बढ़ते विचार-स्रोत की गूँज उठने लगी थी और देश की आर्थिक विषमता के विरुद्ध उसमें आकर्षक स्वर थे। अतः प्रेमचन्द ने यह आकर्षण भी अपनाया।

सन् 1920 में जब गांधीजी गोरखपुर आये थे, तब प्रेमचन्द पर उनका जबरदस्त प्रभाव पड़ा था, यह प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया है। जब सन् 1928 में प्रेमचन्द ने पहली बार गांधीजी के दर्शन किये, तो उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने कहा था—"चेले तब हुए (सन् 20 में) दर्शन अब कर पाये।" प्रेमचन्द ने यह स्वीकार करते हुए कहा था कि चेला कहने का अर्थ है कि मैंने उनके गुण अपना लिए। "उसी के बाद तो मैंने 'प्रेमाश्रम' लिखा है। सन् 22 में छपा है।"

मैं (शिवरानीदेवी) बोली—वह तो पहले ही लिखा जा रहा था।

आप (प्रेमचन्द) बोले—इसके मानी यह है कि मैं महात्मा गांधी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

मैं बोली—तो इसमें महात्मा गांधी की कौन-सी बात हुई ?

आप बोले—बात यह हुई कि जो बात वह कराना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ; इसके मानी यह कि उनका बना-बनाया कुदरती चेला हूँ।"

इस वार्तालाप से स्पष्ट है कि स्वयं प्रेमचन्द गांधीजी के प्रभाव को स्वीकारते हैं और सम्भवतः गांधीजी के प्रत्यक्ष प्रभाव में आने से पूर्व ही उन्होंने कुदरती तौर पर या कुछ सीमा तक टालस्टाय के प्रभाव से बहुत-सी बातों में गांधीजी के समाज-सुधार और राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि को अपना लिया था। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द गांधीजी को युग की एक महान् प्रेरक शक्ति मानते थे और उनके प्रभाव से प्रेमचन्द ने नौकरी भी छोड़ दी थी। गांधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी, परन्तु

वे गांधीजी के अन्ध-अनुयायी भी कभी नहीं बने। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मैं गांधीवादी नहीं हूँ।" (विश्वामित्र—प्रेमचन्द अंक, पृष्ठ 12)। हृदय-परिवर्तन ही नहीं, प्रेमचन्द ने सत्य, अहिंसा, सेवा, त्याग, ग्राम्य-संस्कार आदि बातें भी गांधीजी से अपनाई हैं।

प्रेमचन्द की मनोभूमि का पूरा अध्ययन करने से लगता है कि गांधीजी के हृदय-परिवर्तन, समझौता और शान्ति के तरीकों को प्रेमचन्द ने अपनाया तो अवश्य, पर वे सदा इन्हें व्यवहार की कसौटी पर कसते रहे और इस कसौटी पर कसते हुए अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि देश की भौतिक-आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गांधीवादी सिद्धान्त और आदर्श अपर्याप्त हैं। इसके लिए वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भी अपनाने लगे थे। 'गोदान' में यह दिशान्तर स्पष्ट है। किन्तु इससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे साम्यवादी बन गए थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट कहा है, "मेरा कम्यूनिज़्म केवल यह ही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि, जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें।" (विश्वामित्र, प्रेमचन्द अंक, पृ० 12)। इससे भी स्पष्ट है कि प्रेमचन्द साम्यवाद इसी अर्थ में चाहते थे कि गरीबों का शोषण न हो, यह भीषण आर्थिक विषमता समाप्त हो जाय। वह शोषणहीन समाज की स्थापना चाहते थे, समाज में साम्य चाहते थे, इसी अर्थ में साम्यवाद चाहते थे, अन्यथा भारतीय आत्मवाद, गांधीवादी नैतिकता, सेवात्याग आदि उच्च सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रति वह कभी अनास्थावादी नहीं हुए हैं। 'गोदान' में भी उनके नैतिक विश्वास, भारतीय आदर्श मेहता, गोविन्दी आदि के विचारों और आदर्शों के रूप में स्पष्ट दिखाई देते हैं। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त के विपरीत ही 'गोदान' में वर्गसंघर्ष का स्वरूप नहीं खिल सका। प्रेमचन्द वर्ग-विषमता और वर्ग-चेतना तो खूब प्रकट करते हैं, किन्तु वर्ग-संघर्ष, विद्रोह, क्रान्ति का खुला प्रदर्शन करने में उन्हें बहुत सकोच रहा है। यही नहीं, साम्यवादी दृष्टि के सर्वथा विपरीत, उनका आदर्श पात्र मेहता समानता का विरोध करता है और व्यक्तिवाद को भी महत्त्व-पूर्ण मानता है। वह कहता है, "समाज व्यक्ति ही से बनता है। और व्यक्ति को भूलकर हम किसी व्यवस्था पर विचार नहीं कर सकते। मैं इसलिए इतना वेतन लेता हूँ कि मेरा इस व्यवस्था (समानता) पर विश्वास नहीं है। मैं इस सिद्धान्त का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे, और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।" हमने पीछे स्पष्ट किया है कि मेहता का जीवन-दर्शन प्रेमचन्द का ही जीवन-दर्शन है। अतः यहाँ यह कहने की गुञ्जाइश नहीं है कि ये विचार प्रेमचन्द के नहीं, उनके एक पात्र के हैं। यह पात्र प्रेमचन्द का प्रतिनिधि पात्र ही है। प्रेमचन्द की नारी-भावना, पातिव्रत्य, नारी को आदर्श गृहिणी ही मानना, तथा सेवा, आत्म-त्याग, आत्म-पीड़न आदि नैतिक आदर्श भी स्पष्टतः मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से मेल नहीं खाते। अतः 'गोदान' में भी प्रेमचन्द को साम्यवादी मानना भूल है। उनका आदि भले ही गांधीवाद हो, अन्त साम्यवाद नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः कुछ बातों में, विशेषकर अर्थ-व्यवस्था को बदलने में अवश्य वे अपने

पूर्व के परिचित ढंग से बदले हुए नज़र आते हैं। वह भी इस रूप में कि 'गोदान' में किसी प्रकार के समझौते, हृदय-परिवर्तन, सुधार या गांधीवादी नेतापन की उन्होंने कल्पना नहीं की और यथार्थ का पूरा आँचल पकड़े रखा है। इस सारी अर्थ-व्यवस्था और समाज व्यवस्था को उन्होंने मृत्युदण्ड देना चाहा, और इस दृष्टि से गांधीजी के हृदय-परिवर्तन या सुधार का आँचल भी वह यहाँ छोड़ चुके हैं, किन्तु क्रान्ति का स्पष्ट आह्वान भी वह नहीं कर सके हैं। यहाँ आकर शायद उन्होंने कहा है कि जड़ तक दोष घुसे हुए हैं, अतः ऊपर से सींचा-साँची करने या कुछ डाल-पात तोड़ने से कुछ न होगा, सब-कुछ बदलना होगा, सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा, चाहे गांधीवादी ढंग से लाया जाय, ख्वाह मार्क्सवादी पद्धति अपनाई जाए : मूल बात परिवर्तन है। आमूल-चूल परिवर्तन की सिद्धि होने तक किन्हीं दिशाओं में सुधार के प्रयत्न भी किये जा सकते हैं, पर वह असली हल नहीं है, असली हल है सर्वथा परिवर्तन। और इस दृष्टि से प्रेमचन्द मार्क्सवाद की अपेक्षा भारतीय समाजवाद के अधिक निकट नज़र आते हैं। अपने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव से ही वह अनात्मवादी तो नहीं, अनीश्वरवादी अवश्य दिखाई देते हैं। मेहता का व्यावहारिक अध्यात्मवाद इसका प्रमाण है, जो प्रेमचन्दजी के जैनेन्द्रजी से कहे गए वचनों से भी सिद्ध होता है। यह अनीश्वरवादी भावना भी मार्क्सवादी दृष्टि से नहीं आई है, निजी जीवन-अनुभवों पर आधृत है। अतः 'गोदान' में प्रेमचन्द को साम्यवादी कहना भी उतना ही भ्रांतिपूर्ण है जितना गांधीवादी मानना। वह भारतीय समाजवाद के अधिक निकट हैं, जिसमें आर्थिक व्यवस्था के लिए मार्क्सवादी और सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के लिए गांधीवादी दृष्टिकोण समन्वित हो जाते हैं। सच तो यह है कि वह सोलह आने यथार्थ मानववादी हैं।

10. 'गोदान' : नामकरण

किसी रचना का नामकरण भी महत्त्व रखता है। उससे लेखक की कलात्मक प्रवृत्ति और रुचि का परिचय मिलता है। नामकरण में मुख्यतः इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है : पहली तो यह कि जहाँ तक हो, नाम संक्षिप्त केवल एक-दो शब्दों का होना चाहिए। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों के नाम अत्यन्त संक्षिप्त हैं। दूसरी बात यह कि नाम ऐसा होना चाहिए जिनसे रचना के एक बार पढ़ने के बाद कभी भी नाम सामने आते ही उपन्यास का उद्देश्य या प्रमुख घटना-तत्त्व हमारी स्मृति में दौड़ जाए। चरित्र-प्रधान या ऐसी रचनाओं में, जिनमें किसी नायक का चरित्र महत्त्व पाता है, उनके नाम पर ही रचना का नाम रख दिया जाता है, जैसे 'मृगनयनी', 'संन्यासी', 'निर्मला' आदि। तीसरी बात नामकरण के बारे में यह है कि वह जहाँ तक हो कलात्मक-आकर्षक होना चाहिए। आकर्षण पैदा करने के लिए लेखक प्रायः अभिधा की बजाय, लक्षणा का सहारा लिया करते हैं। सीधे नाम विशेष आकर्षक नहीं होते। 'संन्यासी' का नायक नन्दकिशोर है। यदि उस उपन्यास का नाम 'नन्दकिशोर' रख जाता, तो उसमें वह आकर्षण न होता, जो 'संन्यासी' नाम रखने में है। इस व्यंग्यात्मक नाम से जोशीजी ने

नन्दकिशोर के चारित्रिक ढोंग को स्पष्ट कर दिया है। कहने का अभिप्राय यह है कि नामकरण सार्थक, संक्षिप्त और वैचित्र्यपूर्ण होना चाहिए।

'गोदान' नाम सार्थक भी है और संक्षिप्त तथा कलात्मक भी। इस उपन्यास में होरी के जीवन की विडम्बना दिखाना ही प्रेमचन्द का उद्देश्य है। होरी एक किसान है—भारतीय किसान! गाय की लालसा भारतीय किसान की स्वाभाविक लालसा है। वह गाय को माता कहता है। "गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्सन हो जायँ तो क्या कहना!" जीवन ही नहीं, भारतीय किसान अपनी मृत्यु भी गोदान से ही सफल मानता है। होरी के जीवन की यही विडम्बना है। वह आजीवन अपनी यह छोटी-सी साध ही पूरी नहीं कर पाता। मरते-मरते उसी होरी से, जो जीवन में गाय को अपने द्वार पर नहीं बाँध सका—अपनी लालसा को मन में ही लेकर मर गया, गोदान कराने की बात कही जाती है। मृत्यु की छाया से ग्रस्त होरी की अधूरी साध का चित्र प्रेमचन्द ने बहुत सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। सारी उमर जीवन से संघर्ष करता हुआ जो बेटे और नन्हें-से पोते के लिए एक गाय भी नहीं जुटा सका, उसी की अवचेतना धनिया को न पहचानकर कहती है—"तुम आ गये गोबर, मैंने मंगल के लिए गाय ले ली है। वह खड़ी है देखो।" मृत्यु का यह कितना मनोवैज्ञानिक चित्र है! "धनिया ने मौत की सूरत देखी थी। उसे पहचानती थी। उसे दबे-पाँव आते भी देखा था, आँधी की तरह आते भी देखा था।" जब होरी की चेतना लौटी और धनिया को पहचाना, तो क्षीण स्वर में बोला—"मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी।"

धनिया सिर पीटकर रह जाती है। "क्या करे, पैसे नहीं हैं, नहीं तो किसी को भेजकर डाक्टर बुलाती!"

जीवन की कितनी बड़ी ट्रेजेडी है! कई "आवाजें आईं, हाँ, गो-दान करा दो, अब यही समय है।" और धनिया ने आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने लाकर, पति के ठण्डे हाथ में रख, सामने खड़े दातादीन को दे दिये और कहा—"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

यह है 'गोदान' की अन्तिम झाँकी। आरम्भ होता है लालसा से। मध्य है लालसा पूर्ति का असफल और करुण संघर्ष। यह लालसा भी कितनी तुच्छ है! किसी बड़े महल बनाने की, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताने की अथवा पूँजीपति बनने की लालसा नहीं है। एक गरीब किसान की एक स्वाभाविक लालसा है, जिसके परिवार को घी-दूध अंजन लगाने को नहीं मिलता, दवा-दारू के अभाव में जिसके तीन-तीन बच्चे जीवन की आँख खोलते ही मृत्यु की अंक में चले जाते हैं। होरी अपने मालिक की चिरौरी करने चला है, क्योंकि इसी खुशामद के प्रसाद से "अब तक उसकी जान बची हुई है। जब दूसरों के पाँवों तले गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।" जाते समय रास्ते में पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौदों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में

कहा—भगवान कहीं गौं से बरखा कर दें और डाँडी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लेगा।···उसकी खूब सेवा करेगा। कुछ नहीं तो चार-पाँच सेर दूध होगा। गोबर दूध के लिए तरस-तरस कर रह जाता है।···साल-भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे।···फिर गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सवेरे-सबेरे गऊ के दर्सन हो जायँ, तो क्या कहना ! न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।"

और सारी कथा गवाह है कि यह साध कभी पूरी नहीं होती। पूरा करने का एक बार का प्रयत्न हजार मुसीबतें दे गया। जमींदार, उसका कारिन्दा, पटवारी, पुलिस, महाजन, मिल का मालिक आदि न जाने कितने शोषक उसे उबरने ही नहीं देते। जिसे दो जून पेट-भर खाने को भी न मिले, जिसकी पूरी फसल खेत में ही बँट जाय, घर में एक दाना भी आकर न पड़े, जो कौड़ी-कौड़ी के लिए दूसरों का मोहताज हो, वह अपनी गाय की साध कैसे पूरी करता ! अन्त में यही लालसा लेकर बल्कि कहना चाहिए इसी लालसा की पूर्ति के लिए होरी अपनी जान दे देता है।

गाय की लालसा वास्तव में एक प्रतीक है। एक ओर तो यह कृषक की स्वाभाविक लालसा है, दूसरी ओर लेखक का उद्देश्य इससे यह बताना भी है कि अनन्त संघर्षों के बाद इतनी तुच्छ लालसा भी जिस किसान की अधूरी रह जाती है, उसके जीवन की इससे करुण ट्रेजेडी और क्या हो सकती है। प्रेमचन्दजी ने स्पष्ट कहा है—"हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक के सूद से चैन करने या जमीन खरीदने या महल बनवाने की विशाल आकांक्षाएँ उसके नन्हे-से हृदय में कैसे समातीं।" इस लालसा को पूरा करने का विचार गोबर के मन में भी आता है। जब गोबर झुनिया को घर छोड़कर शहर की ओर जाता है तो वह संकल्प करता है कि शहर में खूब कमायेगा, मजूरी करेगा। "सबसे पहले वह एक पछाईं गाय लायेगा, जो चार-पाँच सेर दूध देगी और दादा (होरी) से कहेगा, तुम गऊ माता की सेवा करो। इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा और परलोक भी।" इस प्रकार गोबर भी पिता की गाय की लालसा पूरा करने की सोचता है, पर कर नहीं पाता। अन्त में ठेकेदार की मजदूरी करते हुए भी होरी अपने पोते मंगल के लिए गाय लेने की सोचता है। रूपा अपनी ससुराल में पहुँचकर पूर्व-स्मृति में मग्न है—"उसके दादा की यह लालसा (गाय की) कभी पूरी न हुई। जिस दिन वह गाय आयी थी, उन्हें कितना उछाह हुआ था—तब से फिर उन्हें इतनी समाई ही न हुई कि कोई दूसरी गाय लाते; पर वह जानती थी, आज भी वह लालसा होरी के मन में उतनी ही सजग है।" अतः गाय की लालसा और उसकी करुण अपूर्ति उपन्यास की मूल संवेदना बनी हुई है।

इस प्रकार 'गोदान' नामकरण से लेखक का उद्देश्य, मुख्य-कथा का मर्म और उपन्यास की मूल संवेदना स्पष्ट हो जाती है। यह नाम अत्यन्त उपयुक्त एवं सार्थक है जैसाकि पहले कहा जा चुका है, 'गोदान' नामकरण व्यंजनापूर्ण भी है। मरते हुए होरी

से गोदान की माँग एक बड़ा सामाजिक व्यंग्य है। फिर यह दान भी दातादीन पण्डित लेता है, जो सारी उमर होरी का शोषण करता रहा ! घनिया के घर में केवल बीस आने थे और वह उन्हें ही दातादीन को देकर होरी का गोदान करा देती है।

'गोदान' मुन्शी प्रेमचन्द का भी गोदान ही सिद्ध हुआ। यह उनकी अन्तिम पूर्ण रचना है। यद्यपि उन्होंने 'मंगलसूत्र' नामक एक और उपन्यास आरम्भ किया हुआ था, पर वह अधूरा ही रहा, मानो विधि को 'गोदान' ही उनका गोदान रखना था। यह समाज को दिया गया प्रेमचन्द का अन्तिम दान है। इस दृष्टि से भी यह नामकरण बहुत ही उपयुक्त रहा।

11. गोदान : महाकाव्यात्मक उपन्यास (Epic Novel)

जैसाकि दर्शाया जा चुका है, 'गोदान' प्रेमचन्द का एक ऐसा बृहत् उपन्यास है जिसका चित्रपट (canvas) अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। महाकाव्य की अवधारणा मुख्यत: इन तीन मूल बातों पर आधृत है—1. महाकाव्यात्मक रचना जीवन के विस्तृत और विशाल चित्रफलक को अपने वृहदाकार में समेटती है। मानव-जीवन का संपूर्ण सांस्कृतिक चित्रण उसमें होता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक सभी परिस्थितियाँ और स्थितियाँ उसमें व्यक्त होती हैं। जीवन के विविध आयाम, अनेक प्रसंग और घटनाएँ, कथा-वस्तु का विस्तृत विकास आदि महाकाव्य के स्वरूप-निर्माण की अनिवार्यता है। 2. दूसरी अनिवार्यता है जीवन की महानता का चित्रण। केवल विस्तार और व्यापकता काफी नहीं है। वस्तुत: महाकाव्य को यथानाम महान बनाने वाली बात यह है कि उसमें जीवन की महानता का, उच्च सांस्कृतिक मूल्यों का प्रेरणादायक चित्रण होना चाहिए। महान जीवनादर्शों की प्रेरणा यदि महाकाव्य से नहीं जगती है तो वृहदाकार व्यर्थ है। 'रामायण', 'महाभारत' आदि हमारे प्राचीन महाकाव्य इसलिए महान हैं कि उनमें उच्च जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है और वे हमारे सांस्कृतिक गौरव का प्रतीक हैं। 3. इसके साथ ही तीसरी अनिवार्यता यह है कि जीवन के विविध आयामों का चित्रण महाकाव्य में विविध उदात्त भाव-संवेदनाओं के रूप में होना चाहिए। उसमें कोई एक या दो रस अंगी रूप में हों तथा अन्य अधिकाधिक रस-भाव यथा-प्रसंग प्रकट होने चाहिएं। ये रस-भाव जितने अधिक उदात्त और प्रभावी रूप में प्रकट होंगे, रचना में महाकाव्यात्मकता उतनी ही प्रगाढ़ और सफल होगी। अत: भाव-रस-विस्तार, विविधता, भाव-गम्भीरता तथा रस-भाव की उदात्तता महाकाव्य का अनिवार्य लक्षण समझना चाहिए।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने पद्य-बद्ध रचना के रूप में ही महाकाव्य की परिकल्पना की थी क्योंकि उस समय अधिकांशत: साहित्य-सृजन पद्य-बद्ध ही होता था। सर्वप्रथम भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में महाकाव्य के ये लक्षण बताए हैं—महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। यह महानता का प्रकाशक महान होता है। उसमें निर्दोष शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें विचार-विमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय हो।

चतुर्वर्ग-आदेश होने पर भी प्रधानतः अर्थ उपदिष्ट हो। लोक-स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का चित्रण हो। 1/19-21। भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। आगे चलकर महापात्र विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में समन्वय-बुद्धि अपनाते हुए महाकाव्य के ये लक्षण बताए हैं—महाकाव्य सर्गबद्ध होता है—न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग। नायक कोई देवता या सद्वंश क्षत्रिय धीरोदात्त, कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं; शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस अंगी, अन्य गौण; नाटक की सब सन्धियों से बंधी कथा ऐतिहासिक या लोक-प्रसिद्ध; धर्मार्थादि चतुर्वर्ग में से एक फल; आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु-निर्देश; कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण-गान; प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द किन्तु सर्ग के अन्त में भिन्न-छन्द। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना; संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रतोष, अन्धकार, दिन, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग-वियोग, नगर, मधुपान, जलक्रीड़ा, यज्ञ, यात्रा, विवाह, मंत्रणा, युद्ध, अभ्युदय आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

भारतीय काव्यशास्त्र में यही महाकाव्य की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। पर इस लक्षण-निरूपण में ध्यान देने की बात यह है कि इनमें कुछ लक्षण तो ऐसे हैं जो अंतरंग और अनिवार्य हैं, कुछ लक्षण वैकल्पिक और गौण हैं। अनिवार्य अन्तरंग लक्षण ये माने जा सकते हैं—

1. **कथा-वर्णन-सम्बन्धी** : इतिहास-प्रसिद्ध या लोक-प्रसिद्ध विस्तृत कथा, सर्गबद्ध कथा-योजना, सर्ग या खण्ड न बहुत बड़े हों न बहुत छोटे। विस्तृत वस्तु-वर्णन—प्रकृति के विविध रूप, विभिन्न प्रसंग—जन्म-विवाह, प्रेम, संघर्ष आदि अनेक रोचक घटनायें। कथा-संगठन।

2. **नायक-चरित्र-सम्बन्धी** : धीरोदात्त, चतुर, गुणशील आदर्श नायक।

3. **रस-भाव-सम्बन्धी** : कोई एक रस अंगी, अन्य विविध रसों की उपस्थापना।

4. **उद्देश्य-सम्बन्धी** : चतुर्वर्ग-प्राप्ति, लोक-व्यवहार-ज्ञान, उच्च जीवनादर्श।

5. **भाषा-शैली-सम्बन्धी** : सुन्दर गौरवमयी भाषा-शैली, स्वाभाविक अलंकार और छन्द-सौष्ठव। इन अंतरंग लक्षणों के अतिरिक्त, मंगलाचरण, आशीर्वाद, सर्गों की संख्या, छन्द-परिवर्तन या छन्द-प्रयोग-सम्बन्धी नियम, वर्ण्य-विषय-सूची (अर्थात महाकाव्य में विविध वर्णन तो होंगे ही पर उनकी कोई निश्चित सूची निर्धारित नहीं की जा सकती) ये लक्षण सर्वथा वैकल्पिक और गौण हैं। स्वयं संस्कृत महाकाव्यों में इनका अपवाद पाया जाता है।

किन्तु आचार्यों के महाकाव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त अंतरंग और अनिवार्य लक्षणों को भी पूर्ण नहीं माना जा सकता। उनके लक्षणों से कथावस्तु, रस-भाव, उद्देश्य आदि से सम्बन्धित कुछ तत्त्व तो प्रकाश में आए, पर पात्रों का चरित्र-चित्रण, संवाद-शैली आदि कुछ अनिवार्य तत्त्व अछूते ही रह गए। महाकाव्य प्रबन्ध-रचना है। अतः उसका तात्त्विक

विवेचन उपन्यास, नाटक आदि प्रबन्ध-रचनाओं की तरह होना चाहिए। महाकाव्य के समस्त लक्षणों को भी हम इन तत्त्वों के अन्तर्गत ही विवेचित करना उचित समझते हैं—1. कथावस्तु, 2. पात्र-चरित्र-चित्रण, 3. संवाद, 4. देशकाल वातावरण, 5. रस-भाव, 6. उद्देश्य और 7. भाषा-शैली। इन तत्त्वों के आधार पर ही 'गोदान' की महा-काव्यात्मकता पर विचार करना समीचीन है। यदि पद्यात्मकता की बात जाने दें तो हम देखेंगे कि 'गोदान' एक श्रेष्ठ गद्यात्मक महाकाव्यात्मक औपन्यासिक कृति है। इसी नयी दृष्टि से महाकाव्य का तत्त्व-निरूपण उचित है।

1. कथा-वस्तु : महाकाव्य कथात्मक प्रबन्ध रचना है। विविध वर्णनों से युक्त विस्तृत कथा, कथा-संगठन, सुसम्बद्धता, रोचकता और सरसता तथा स्वाभाविकता आदि गुणों का समावेश महाकाव्य में कथा-रस उत्पन्न करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गोदान' की विस्तृत कथा, विविध परिच्छेदों में सुनियोजित है। उसमें जीवन के व्यापक क्षेत्र से मार्मिक सरस प्रसंगों का चयन किया गया है। बेशक कथा न ऐतिहासिक है न लोक-प्रसिद्ध। पर आज के यथार्थवादी युग में वर्तमान जीवन के सत्य को उजागर करने वाली काल्पनिक कथा भी लोक-जीवन की परिचित कथा है और उसकी जीवन-सत्यता ही ऐतिहासिक सत्य की द्योतक है। उसका चित्रफलक विशाल है। कथा-वस्तु की दृष्टि से महाकाव्य की समस्त गौरव-गरिमा 'गोदान' में पाई जाती है। जीवन के विविध आयामों से सम्बन्धित विभिन्न वर्णन—संयोग, वियोग, प्रेम, संघर्ष, प्रकृति, पर्व, उत्सव, जन्म, मरण आदि उसमें यथावसर प्रकट हुए हैं। कथा के मार्मिक चयन के साथ ही 'गोदान' में कथा सुनियोजित और व्यवस्थित रूप में विकसित हुई है। उत्सुकता और जिज्ञासा-वर्द्धक नाटकीय स्थितियाँ आरम्भ से अन्त तक पाई जाती हैं। अतः 'गोदान' की कथा-वस्तु महाकाव्योचित वृहत् कथा के सभी गुण लिए है।

2. पात्र-चरित्र-चित्रण : प्राचीन महाकाव्यों में धीरोदात्त वीर नायक की व्यवस्था रहती थी। उसी के आदर्श व महान चरित्र का प्रकाशन महाकाव्य का उद्देश्य होता था। वह सामंतीय युग था और महान् की पूजा का आदर्श था। आज के यथार्थ-वादी युग में धीरोदात्त नायक की अवतारणा का वह दृष्टिकोण नहीं रहा है। पात्र महान् हों, तभी महाकाव्य में गौरव-गरिमा उत्पन्न होती है—यह विचार भ्रांतिपूर्ण है। आज के यथार्थवादी युग में होरी-जैसे किसान को भी नायक बनाकर जीवन की महान् संवेदनाएँ प्रकट की जा सकती हैं, यह तथ्य 'गोदान' से सिद्ध हुआ है। अभिजात या उच्च कुल-नायक का दृष्टिकोण आज बदल गया है। महाकाव्य में नायक और अन्य पात्रों का ऐसा सजीव चित्रण होना चाहिए कि जिससे जीवन की महानता का लक्ष्य सिद्ध हो। आज हम न तो किसी देवता का चरित्र सुनना चाहते हैं, न राक्षस का। आज की पात्र-सृष्टि हम सर्वथा मानवीय देखना चाहते हैं। अपने आस-पास के परिचित-स्वाभाविक पात्रों की ही सृष्टि आज श्रेयस्कर है। अतः आवश्यक यह है कि महाकाव्य में उसके वृहत् कलेवर के अनुरूप विविध वर्गों और चरित्रों के पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए और उनके चरित्र चाहे जैसे हों, अर्थात् सुवृत्तियों के पात्र हों, या कुप्रवृत्तियों के, सबके चरित्र-

चित्रण से पाठक की सद्वृत्तियाँ ही जागृत होनी चाहिएं। तभी रचना महान बनेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने अनेक प्रकार के, जीवन के विविध क्षेत्रों और स्तरों से पात्र जुटाए हैं—किसान, मजदूर, जमींदार, पटवारी, पंच, पंडित, साहुकार, पुलिस दारोगा, मिल मालिक, पत्रकार, प्रोफेसर आदि अनेक प्रकार के पात्र हैं। इन सबका सजीव चरित्र-चित्रण कर प्रेमचन्द ने 'गोदान' की चरित्र-सृष्टि को सफल महाकाव्योचित बनाया है। 'गोदान' के मेहता, मालती, सोना, होरी, गोबर, खुर्शेद, धनिया आदि पात्र चाहे आदर्शवादी न हों, पर उनके चरित्रों से पाठक की सद्वृत्तियाँ ही जागृत होती हैं।

संवाद : कथोपकथन महाकाव्य, उपन्यास आदि सब प्रबन्ध काव्यों का अनिवार्य तत्त्व है। 'गोदान' के वृहदाकार में संवादों का विशेष महत्त्व है। प्रसंग-परिस्थिति-पात्रानुरूप संवादों की योजना एक ओर कथा का स्वाभाविक विकास करती है, दूसरी ओर रोचकता उत्पन्न करती है तथा पात्रों के चरित्र-विकास में सहायक हुई है। अतः 'गोदान' की संवाद-शैली महाकाव्योचित विशेषताओं से परिपूर्ण है।

देश-काल-वातावरण और युग-बोध : महाकाव्य एक तरह पद्यबद्ध उपन्यास होता है और वृहत् उपन्यास गद्यात्मक महाकाव्य। उसके विशाल कलेवर में जीवन की नाना स्थितियाँ-परिस्थितियाँ चित्रित रहती हैं। युगीन जीवन और संस्कृति का महाकाव्य दर्पण होता है। 'गोदान' कृषक-जीवन और संस्कृति का दर्पण है। उसमें युगधर्म का निर्वाह पूर्ण सफलता से हुआ है। युगीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी परिस्थितियों और भावनाओं का बड़ा सजीव और सफल चित्रण 'गोदान' में हुआ है। 'गोदान' में मुंशी प्रेमचन्द का जितना व्यापक युगबोध प्रकट हुआ है, वह किसी भी महाकाव्य से कम नहीं है। उसमें भारतीय जीवन के कम से-कम पचास वर्षों का ऐतिहासिक लेखा-जोखा पाया जाता है।

रस-भाव : जैसाकि कहा जा चुका है, उदात्त रस-भावों की सिद्धि ही महाकाव्य में औदात्त्य लाती है। जितना अधिक भाव-विस्तार, भाव-गहनता और भाव-उदात्तता महाकाव्य में होगी, उतना ही वह श्रेष्ठ होगा। महाकाव्य में कोई एक रस अंगी हो सकता है, शेष गौण, पर यह अनिवार्य नहीं। हमने 'गोदान' में रस-भाव-सृष्टि पर विचार करते हुए दिखाया है कि 'गोदान' रस-भावों का सागर है। रस-भाव-सृष्टि की दृष्टि से यह किसी भी महाकाव्य से पीछे नहीं। 'गोदान' में करुण रस और घृणा भाव (वीभत्स रस) का सहसंचरण आद्योपांत उसमें सरसता और शक्ति उत्पन्न करता है। शोषितों-पीड़ितों के प्रति उद्दाम करुणा जागृत होती है और शोषकों, अत्याचारियों और उनके दूषित कृत्यों तथा सामाजिक और वैयक्तिक बुराइयों के प्रति घृणा प्रकट होने से वीभत्स रस का विपुल विस्तार हुआ है। 'गोदान' के ये दो प्रमुख बीज भाव हैं। इनके अतिरिक्त शृंगार रस का नानाविध विस्तार और प्रसार भी 'गोदान' में आद्योपांत पाया जाता है। उसके कई प्रकार के आलम्बन और आश्रय हैं। होरी-धनिया का प्रौढ़ प्रेम, गोबर-झुनिया का अल्हड़ प्रेम, सिलिया का एकनिष्ठ प्रेम आदि प्रेम के अनेक रूप

मिलते हैं। होरी आदि पात्रों का कर्मोत्साह भी किसी युद्धवीर से कम नहीं। इनके अतिरिक्त वात्सल्य, हास्य, प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम आदि अन्य रस-भाव भी यथावसर प्रकट हुए हैं। जीवन की विविध भाव-स्थितियाँ 'गोदान' में प्रकट हुई हैं। भाव-विस्तार, भाव-गहनता और भाव-उदात्तता की दृष्टि से 'गोदान' अद्‌भुत सफल महाकाव्यात्मक उपन्यास है, सन्देह नहीं।

उद्देश्य : महाकाव्य महत्प्रयोजन की रचना है। उसके नाम की सार्थकता उसके महत्प्रयोजन से ही सिद्ध होती है। प्राचीन आचार्यों ने आनन्द के साथ धर्मार्थादि चतुर्वर्ग की प्राप्ति, उच्च जीवनादर्शों से परिपूर्ण महान प्रेरणाएँ, लोक-व्यवहार-ज्ञान आदि प्रयोजन बताए थे। पाठक के रागों का परिष्कार करने तथा उदात्त भावों के जगाने के अतिरिक्त महाकाव्य में जीवन की समस्याओं का चित्रण करके जीवन के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणा देना भी महाकाव्यकार का उद्देश्य होना चाहिए। जैसाकि पीछे दर्शाया गया है, 'गोदान' इन सब बातों को प्रकाशित करने वाली एक सशक्त रचना है। उसमें न-केवल प्रेम, त्याग, साहस, उदारता, दया, क्षमा, करुणा आदि उच्च मानवीय संवेदनाओं का प्रकाशन हुआ है, अपितु वर्तमान जीवन, विशेषतः कृषक-जीवन की समस्त समस्याओं का चित्रण अत्यन्त मार्मिकता के साथ हुआ है। हमारे अर्थ-तंत्र की विकृतियों, वर्ग-वैषम्य, वर्ग-चेतना, शोषण और शोषक-पद्धतियों का जैसा कच्चा चिट्ठा 'गोदान' में उतारा गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह समस्त जीवनोद्देश्य सरस कलात्मक रूप में ही प्रकट हुआ है, प्रेमचन्द ने कहीं नीरस बौद्धिक अनुभूतियाँ या सिद्धांत प्रकट नहीं किए। निश्चय ही 'गोदान' में महान् उद्देश्य का महाकाव्यात्मक प्रतिफलन किसी भी महाकाव्य से कमतर नहीं है।

भाषा-शैली : भाषा-शैली भी महाकाव्य का अनिवार्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भाषा में सरलता, सजीवता, पात्रानुरूपता, स्वाभाविकता, भावानुरूपता, प्रभावोत्पादकता, स्वाभाविक अलंकरण, लक्षणा-व्यंजना, मुहावरे-लोकोक्तियाँ आदि प्रयोग होने चाहियें, जो 'गोदान' की भाषा में हमें पूरी तरह मिलते हैं। महाकाव्य की पद्यात्मकता को छोड़ दें तो 'गोदान' में भाषा-शैली के सभी महाकाव्योचित गुण पाए जाते हैं। संगीतात्मकता, स्वर, लय की गुंजाइश तो निश्चय ही 'गोदान' में नहीं है, जो महाकाव्य में होती है; क्योंकि 'गोदान' पद्यात्मक नहीं, गद्यात्मक महाकाव्य है, पर भाषा में प्रवाह और सौष्ठव सर्वत्र पाया जाता है। कहीं-कहीं गद्य-काव्य का-सा भाषा-प्रयोग भी मिलता है। कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि गेयता और संगीतात्मकता के सिवा 'गोदान' की भाषा में महाकाव्योचित सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

इस प्रकार 'गोदान' एक महान महाकाव्यात्मक उपन्यास है। महाकाव्य के समस्त अंतरंग और अनिवार्य तत्त्वों और लक्षणों की औचित्यपूर्ण स्थिति उसे सफल महाकाव्यात्मक उपन्यास सिद्ध करती है। विराटता, उदात्तता, गौरव-गरिमा उसके महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व की उदारता और गांभीर्य के द्योतक हैं। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वय उसके अजस्र प्रवाह को तीर्थराज बनाए हुए है।

डिल्ली स्मारक
कल्याणी राजी स्मारक
पुस्तकालय

डॉ. कृष्णदेव झारी विरचित प्रमुख पुस्तकें

काव्यशास्त्रीय पुस्तकें

1. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त
2. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य
3. रस सिद्धान्त तथा घृणाभाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन
4. रस सिद्धान्त और बीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन
5. उदात्त रस सिद्धान्त और नई कविता
6. रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा
7. हिन्दी साहित्य में बीभत्स रस
8. भारतीय काव्य सिद्धान्त रस
9. भारतीय काव्य सिद्धान्त अलंकार
10. भारतीय काव्य सिद्धान्त औचित्य
11. रीति सिद्धान्त और शैली विज्ञान
12. काव्य शास्त्रीय निबंध

अन्य साहित्यिक पुस्तकें

1. प्रेमचंद की उपन्यास कला का उत्कर्ष 'गोदान' (पुरस्कृत)
2. भगवतीचरण वर्मा की उपन्यास कला का उत्कर्ष 'चाने विमर चित्र'
3. इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास कला का उत्कर्ष 'सन्यासी'
4. मध्यकलीन कृष्ण काव्य
5. हिन्दी साहित्य: प्रमुख कवि एवं लेखक
6. हिन्दी साहित्य: प्रमुख रचनाएं
7. हिन्दी काव्य: प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियां
8. अष्टछाप और नन्ददास
9. अष्टछाप और परमानंददास
10. मैथिल कोकिल विद्यापति
11. हितहरिवंश गोस्वामी
12. रसखान
13. मीराबाई
14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: निबंध यात्रा

ऐतिहासिक-राजनैतिक पुस्तकें

1. बंगलादेश और भारत-पाक युद्ध
2. कश्मीर समस्या और भारत-पाक युद्ध
3. विधान सभा चुनाव

अन्य अनूदित पुस्तकें (उर्दू से)
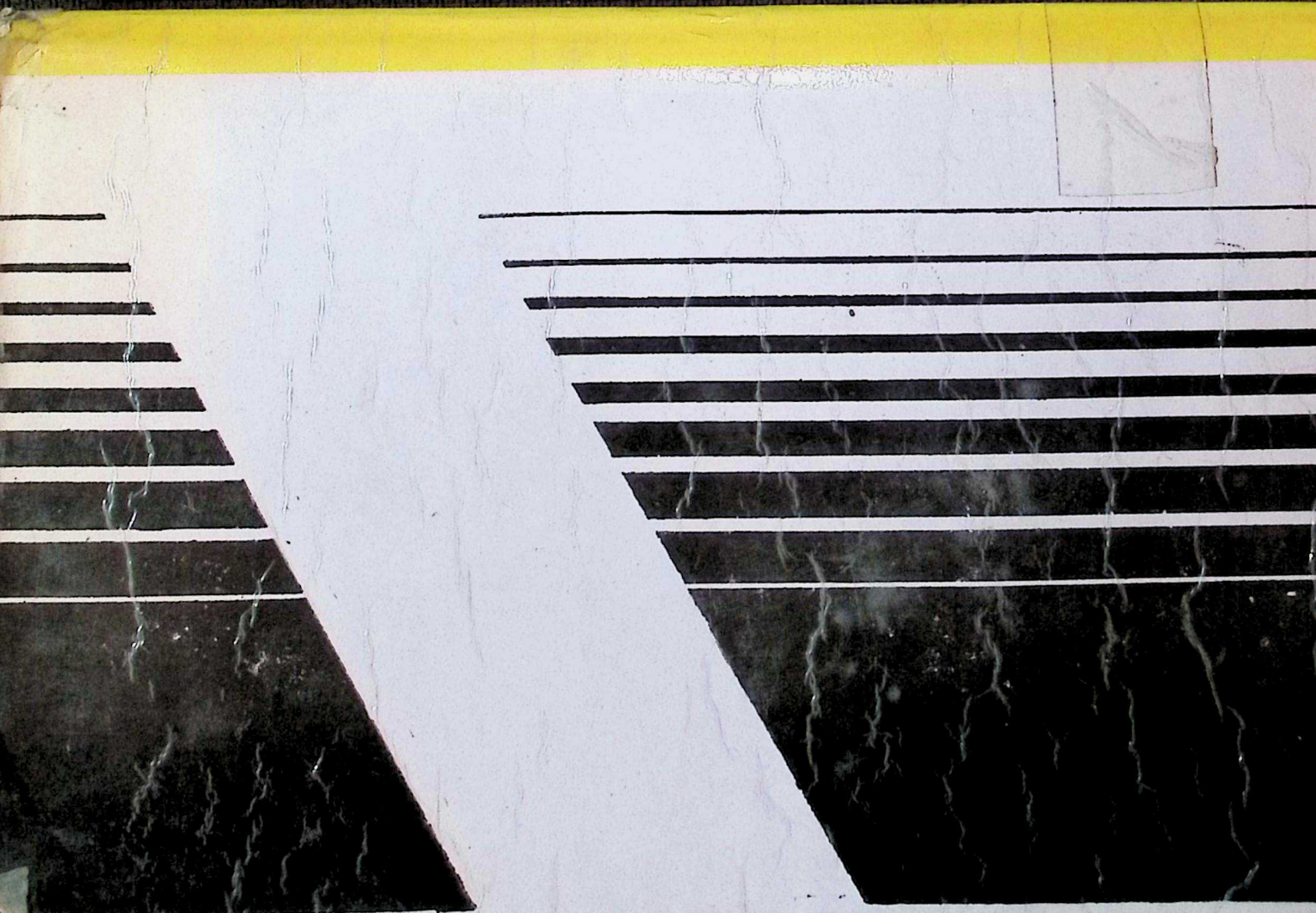
नाटक - यहूदी की लडकी • खूबसूरत बला • सिल्वर किंग (नेक परवीन) • अछूता दामन • हवस का पुतला (सैदे हवस) • लालच का पुतला (असीरे-हिर्स) • आँख का नशा • ख्वाबे हस्ती (जीवन-सपना) • आफ्ताबे मोहब्बत • सीता बनवास • बिल्व मंगल सूरदास (सम्पादित) उपन्यास - लखनऊ की नगर वधू (उमराव जान अदा)